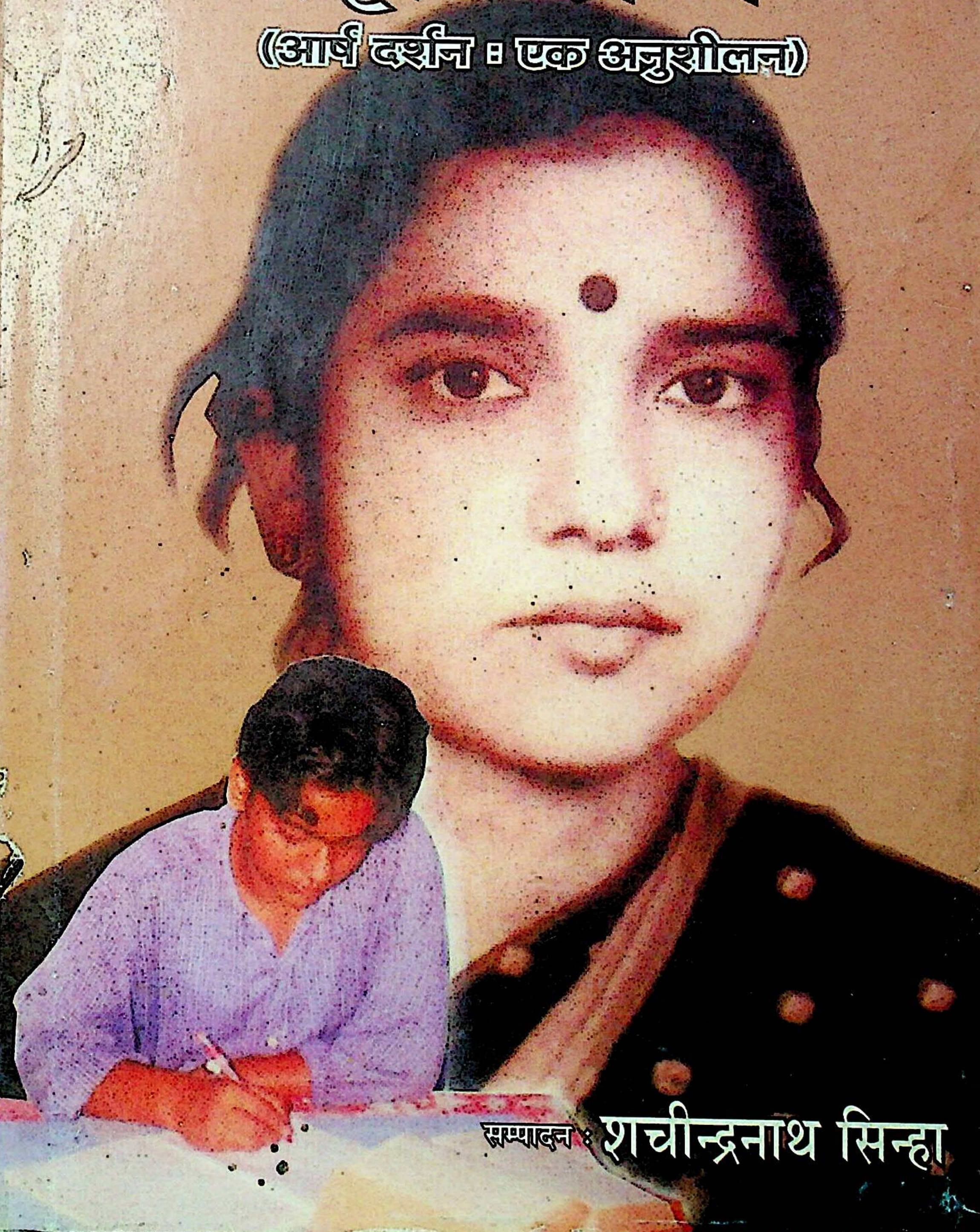
भारतीय विद्या (प्रथम् पुष्प-Vol. 1)

पीयूष-प्रियंवदा स्मृति-ग्रन्थ

(आर्ष दर्शन : एक अनुशीलन)



सम्पादन : शचीन्द्रनाथ सिन्हा

यंवदा स्मृति-ग्रन्थ

श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा और श्री
थ द्रष्टा ऋषियों की स्मृति में प्रस्तुत
नस्वी अपने मनन में ऋषियों की
पाते हैं और उन्हें अक्षरों में अंकित
न कर लेते हैं। श्रीमती प्रियंवदा और
मनीषा ने भी ऋषियों की कृतियों को
को भी उनके अक्षरों के साथ जोड़
तियों की याद से एक बार फिर जैसे
ताजी हो गयी है। और, ऋषि उद्घोष
पड़ रहा है-

भवाम प्रदुच्छुना मिनवामा वरीयः।

, आज हम विचार में पूर्ण हो जायँ,
ा को नष्ट कर डालें, उच्चतर सुख

का अर्थ सार्व में निहित है। उसे ही हमें
मारे विचार की पूर्णता सार्व सर्वज्ञ को
उसे समझे बिना हमारा या जगत् का

सुब्धाः तिष्ठेत सर्वदा।

SBN - 978-93-80467-38-2



मूल्य : 850.00 रुपये



मुमुक्षु भवन, वाराणसी
के पुस्तकालय के लिये
भेंट।
[signature]
3/11/2010



भारती विद्या

(प्रथम पुष्प—Vol. 1)

पीयूष–प्रियंवदा स्मृति–ग्रन्थ

[पीयूष-प्रियंवदा स्मृति मानविकी मेधा-सम्मान योजना के अन्तर्गत प्रकाशित]

(आर्ष दर्शन : एक अनुशीलन)



सम्पादक

शचीन्द्रनाथ सिन्हा

2010

कला प्रकाशन

बी. 33/33 ए-1, न्यू साकेत कालोनी,

बी.एच.यू.वाराणसी

प्रकाशक :
कला प्रकाशन
बी. 33/33 ए - 1, न्यू साकेत कालोनी,
बी० एच० यू०, वाराणसी-5
दूरभाष : 0542-2310682

प्रथम संस्करण : 2010
ISBN : 978-93-80467-38-2
मूल्य : 850.00 रुपये

कम्प्यूटर अक्षर संरचना :
कला कम्प्यूटर मीडिया
बी. 33/33 ए - 1, न्यू साकेत कालोनी,
बी० एच० यू०, वाराणसी-5
दूरभाष : 0542-2310682

मुद्रक :
महावीर प्रेस
भेलूपुरा, वाराणसी

मनीषीद्वय

श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा

और

श्री पीयूष प्रियंवद

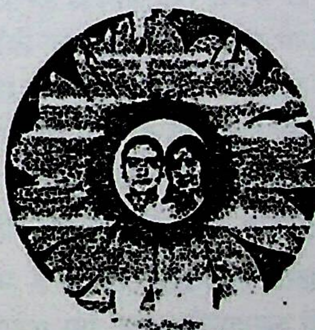
के साथ

सम्पूर्ण ऋषि-जगत्

को

सादर समर्पित

आत्माऽऽनन्दमयः



द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता महीयम् ।

- ऋ० 1.164.33 पूर्वांश

अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥

- श० 14.9.4.26

विनीत निवेदन

आदरणीय सुधी पाठकगण!

आज पीयूष-प्रियंवदा स्मृति-ग्रन्थ का पहला भाग आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है।

इस अङ्क में व्यक्ति के व्यक्तित्व को उसकी कृतियों के माध्यम से प्रस्तुति हुई है। अल्पायु विद्वानों की कृतियाँ ही उन्हें दीर्घायु प्रदान करती हैं। हमने मनीषीद्वय की कृतियों में ही उनके जीवन्त रूपों को देखने को प्रयास किया है।

हम डा० डी०एन० तिवारी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दर्शन एवं धर्म संकाय, बी०एच०यू०, वाराणसी के सकारात्मक व्यक्तित्व का ऋणी हूँ, जिन्होंने अपने दरभंगा प्रवास में कभी कहा था आपने श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा के कार्यों को समीप से जाना होगा। आप उनके कार्यों के विषय में कुछ लिखेंगे तो वह अच्छा होगा।

आज मैं उनकी (श्रीमती प्रियंवदा की) कृतियों को पढ़ते-देखते उनके व्यक्तित्व को स्पष्ट देख पाया हूँ । उनकी कृतियाँ काव्य से लेकर भारतीय विद्या के अधीन रचित-प्रकाशित रचनाओं को मैं कुछ ही समझ पाया हूँ गम्भीर ज्ञान की स्वामिनी श्रीमती प्रियंवदा के ज्ञान का प्रभाव न सिर्फ पुत्र श्री पीयूष के हाथ लगा वरन् उसका कुछ प्रभाव मुझ पर भी पड़ा है। मैं 'दर्शन' नहीं जानता, जीवन को जानने का प्रयास भी नहीं कर सका। मात्र अपने अभिन्न अङ्गों की मनीषा को संजोकर रखने का प्रयास कर रहा हूँ ।

अपने इस प्रयास में मैं डा० डी०एन० तिवारी, डा० नित्यानन्द मिश्र, डा० रामजी सिंह, डा० ए०के० राय, डा० सच्चिदानन्द मिश्र, डा० जयन्त उपाध्याय, डा० रामन जैसे विद्वानों का ऋणी हूँ जिन्होंने स्मृति व्याख्यानमाला में सक्रिय सहयोग दिया और मुझे हतोत्साहित नहीं होने दिया। मैं इन सब विद्वानों को सादर नमन करता हूँ ।

हम डा० चन्देश्वर कर्ण, डा० सतीशराज पुष्करणा, डा० मिथिलेश कुमारी मिश्र, डा० श्रीं रंजन सूरिदेव के साथ डा० पंकज कुमार वर्मा एवं उन सभी विद्वानों के भी ऋणी हैं जिन्होंने श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा और श्री पीयूष प्रियंवद की कृतियों के प्रकाशन, लोकार्पण और विचारगोष्ठियों में भाग लेकर हमारा उत्साह बढ़ाया। इन सब विद्वानों को हमारा सादर नमन।

मैं आभारी हूँ पुत्र पीयूष के सभी दोस्तों का विशेषकर सर्वश्री प्रशान्त, अभय, विवेक, मुकुल और भाई रवि भैया का जिन्होंने उनके जाने के बाद से ही मेरा ख्याल रखा है।

मैं आभारी हूँ पुत्र पीयूष के मौसा-मौसी श्री अनिल और श्रीमती किरण का जिन्होंने मेरे बीमार जीवन (लकवाग्रस्त) को आज भी जीवित रखा है। मैं आभारी हूँ पुत्री सुश्री सुकृता शिवानी का जो अपनी पढ़ाई से अपने भाई पीयूष की पढ़ाई के अधूरे रूप को पूरा कर रही है। वह आज तृतीय वर्ष बी0डी0एस0 की छात्रा है। मैं इन सबों को अपनी शुभ कामना और अपना आशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

मैं आभारी हूँ श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा एवं श्री पीयूष की कृतियों के प्रकाशकों- डॉ0 सतीशराज पुष्करणा, श्री संजीव अग्रवाल और डॉ0 प्रेमशंकर द्विवेदी एवं उनके सहकर्मियों का जिनकी सहृदयता से कृतियाँ आप सभी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत होती रही हैं। उन सबों को मेरा नमन।

मैं मुमुक्षु भवन के कार्यों से सम्बद्ध सभी कार्यकर्ताओं के प्रति अपना सम्मान व्यक्त करता हुआ उन्हें सादर नमन करता हूँ।

मैं आप सभी सुधी विद्वान् पाठकों का आभार ग्रहण करता हुआ अपने ही अभिन्न अक्षरान्त अङ्गों, प्रियंवद और प्रियंवदा, को भी कोटि-कोटि नमन करता हूँ।

मुमुक्षु भवन वाराणसी, 14 नम्बर 2010. विनीत निवेदक

शचीन्द्र प्रियंवद



Editor's Note

A work which makes us go positive in our attitude is worth memorable. Of course one's own very such works prove memorial even to the world. If the work is literal and literary it becomes easy for others too to keep the memorial preserved in their memorial possessions. Then why such a book like this one— Pīyūṣa-Priyamvadā Smṛti Grantha— is needed to be published in volumes ? Only to highlight the persona of the writer or the worker ? Not truely, yes. Ṛṣis never went after getting their names highlighted. The vedas are still alive though their readers have gone to a very few these days. Truely speaking this Grantha is to commemorate the works of the Ṛṣis of the vedas and the modern ones too.

With the passing time in ages, the civilization changes leaps and bounds but the culture stays lazy. It feels the effect of such changes very slow. Individuals go after civilization but the society stays with its culture and goes very slow with the civilizational changes. Civilization affects the livelihood in terms of economic wealth and market and the living standard in the ratio of the easement offered by the scientific inventions. It does not affect the cultural solemnity. If it could happen there would have not been any vedas in vogue now. It is here, at this juncture, that east and west show the differences in their philosophical approach. The east goes with culture and the west with the civilisation.

The terms 'civilization' and 'culture', as the Chambers dictionary takes, go synonimical. The term culture has been meant there as a type of civilization; and the term 'civilization' as 'culture' or 'state of being civilized'. The term 'civil' has been derived from Latin word 'civilis' or 'civis', which means citizen. Thus civilization is a term which is associated with city and its inhabitants. It differs from the primitive savage state.

On the other hand the term 'culture' has been derived from the Latin word 'cultura' or 'colere'. 'Colere' means to till or to cultivate. In other words it is a thoughtful conduct that counts in culture. That means it is culture that determines the stages of civilization. Culture is to cultivate; and civilization is to have civic sense. With the change of sway or authority the civil laws may change, resulting a change in civic conduct. When **Manu** (मनु) or **Parāśar** (पराशर) talks of **Yugadharma** (युग धर्म) they both talk of civic conduct (आचारः परमो धर्मः). But culture do not go with this change of civic conduct. If culture is from cultivation it must have both the ingredients of **Jñāna** (ज्ञान) and **Karma** (कर्म). There the **ācār** does not follow the rules of changing rulers but the rules are made after cultivated and determined ācāra on the basis of **damo dharmaḥ sanātanaḥ** (दमो धर्मः सनातनः). It does not change with the changes of rules of the rulers of a state or community. **The Mahābhārata** (शा०प० 59.14) informs us in a spectacular way– न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः । धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥

The civilization rises high and falls deep; because it goes with the norms and scientific achievements of the day. It does not see the wrong side of the invented ones, when the long-term effect is on the count. It only looks the rising graph of the living-standard and that too in terms of economic wealth. It looks only the comfort or convenience and counts the physical enrichment or the physical or sensual satisfaction. This in turn gives impetus to the marketing objectives and the subject is turned eventually into a commodity. The philosophy of market is dependent on the utility of the commodity concerned. Profits become the main moto there. The demand is controlled by the supply. Greater demand makes the market profitable with inadeqate supply. The industries are set up, not only taking of the profit into account but also to create another sort of demand. Marx has rightly exposed the industrial world of his time in his memorial works.

Industrial civilization gave rise to a new form of philosophy where even man has been made a commodity. Much-talked moralities in life lost their ground and were sold in the market as flesh and wine. It may be defined as Industrial culture, but it cannot be named as human culture.

Human beings having the hue of man cannot be a commodity; because he is not merely of flesh and blood but is the combination of flesh, blood and nerves.

Here comes the memorial works of **Smt. Priyaṃvadā Sinhā**, the researcher in Humanism. A **svādhyāyī** (स्वाध्यायी) as she was, had the courage to say to the world of philosophy that— यहाँ मैं क्षमा चाहूँगी अपने से पूर्व के सब, और आगे आनेवाले उन विद्वानों से, जो 'सत्' को सत्य और 'असत्' को झूठा समझते थे, समझते हैं या समझेंगे । मैंने (धृ+मन्)-रूप धर्म की आँखों से देख आर्षेय सत्य को समझने का प्रयासमात्र किया है । विद्वज्जन की विद्वत् गरिमा के प्रति आदर रखती हुई मैं यह भी चाहूँगी कि मेरी लेखनी न तो कुछ निर्मूल लिखे और न ही वाक् कुछ अनपेक्षित बोले– **नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षिमुच्यते** ।

मेरा अनुरोध इतना भर है कि 'सत्य' को मात्र सत्रूप न समझा जाय; उसे सत्-यत् की समन्विति में समझने-परखने का प्रयास किया जाय । इस प्रयास से ही आधुनिक विज्ञान और दर्शन, दोनों ही, आर्ष दर्शन की पारमार्थिक विज्ञानपरक व्याख्या को समझ सकने में समर्थ हो सकेंगे; तभी एक वैश्विक दर्शन, धर्म और समाज अस्तित्व में आ सकेगा ।'' (भारती विद्या: सत्-असत्; श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा; पृ.– 87) ।

Smt. Sinha as a researcher, has done a memorabe job by coming forward to give a meaningful explanation of philosophy as **Darśan** (दर्शन). She admits the truth declared by the **Āyurveda- द्रष्टा पश्यति हि क्रिया:** ।(Draṣṭā paśyati hi kriyāḥ). **Kriyā** (क्रिया) as energy remains invisible and indistinct in its pure energic form. It becomes distinct or visible in material form for the general. **Kriyā** is perceptible to the seer or **Draṣṭā** (द्रष्टा). The **Ṛṣi** of the Vedas are the seers of the Kriyā, both in its pure and functional stages. The **Ṛṣi** is the seer and knower of the energic world too.

They knew that the whole of universe is energic. They took the materiality as 'Sat' (सत्) and the energicity as **'asat'** (असत्). They took energy as **'tat'** (तत्) in its purest and nonfunctional form and as **sat-asat** combination in functional form. The seer of **'tat'** (तत्) could see nothing but the living and active i.e. **cetan** (चेतन) universe around him. He knew that nothing is perishable or destructible, but transformable. The **Gīta** explains it in its these lines– **न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥** (गीता-2.20)

To the Seers the seeming perishable body is not perished, but its materiality is transformed into energic energicity. To them materiality of energy is the means to get the energicity translated into work. Here comes the concept of **Puruṣa** (पुरुष) and **Prakṛti** (प्रकृति). To the Ṛṣis **Prakṛti** (प्रकृति) is pure energy. They see the **Puruṣa** as **Devatā** (देवता) or the **Kāryanirvāhaka śakti** (कार्यनिर्वाहक शक्ति). Today the scientists are trying to search the cause of materiality in Boson. (a class of subatomic particles whose behaviour is governed by Bose-Einstein Statistics, according to which, under certain conditions, particles of the same kind will accumulate in each low-energy quantum mechanical state. It (Boson) has its name after its discoverer S.N. Bose.)

The **Prakṛti**, denoting pure energy, is **avyakta** (अव्यक्त). **Puruṣa** or the **Devatā** or **Brahma** is functional (energy). Being functional **Puruṣa** is never devoid of **Prakṛti**. It is this **Puruṣa** who is named **śaktimān** or **Svayambhū** (स्वयम्भू) and has been explained by the scholars as **śakti+śakta = śaktimān**. Here, śakti (शक्ति) denotes the energic form of pure energy; **śakta** denotes the materiality or material energy and the two combined results into the functional energy in the form of **śaktimān** or **Puruṣa**. Being all in energy-from it is also known as **Svayambhū**. It is this functional unit of **Svayambhū**, which is known as **Natarāja** (नटराज). The universe has been known as the **nartan** (नर्तन) of **Natarāja**. **Nartana** denotes the augmentation or evolution of working units. Every bit of the universe is a working unit. It

is this, which causes the units become relative to each other and no absolute is seen materially. Matter is a form of work, which comes into existence by the combination of energic energy and energic materiality.

Every work or the effect has to have cause of its own within itself. The cause has been seen in two coordinating forms; one is known as **Kriyā** (क्रिया) or the energic energy and the other the **Kāritva** (कारित्व) i.e. energic materiality. The two combined starts working in mutual harmonical coordination. **Kriyā** determines the form of the effect and **Kāritva** takes the form and shape as desired to achieve the goal. The two, harmonically combined, makes a **Kāraka** (कारक) or agent. In other words **Kāritva** is the means through which **Kriyā** or energy manifests itself. It is this causal aspects that the Indian philosophy accepts the theory of evolutionary creation of the universe. It evolves from something which is **avyakta** (अव्यक्त). In contrast to Indian philosophy western philosophy accepts the creation of universe from nothing. There the universe is said to have been created by the creator or the God in his playful sweet will.

Here comes the point why the western thinkers or the theocrats all over the world , take **Sat** (सत्) as **Satya** (सत्य) or **Satta** (सत्ता) or existent i.e. the authority of creation and **asat** as nonexistent. As a matter of fact theocrats could not think of matter in its energic form. To them energy and matter were two different things. They could not believe in the transformational process in energic world. Hegel too had to abandon the law of causation only on this very score. He could not get answer to the question as to which or who is the cause of the summum cause of creation. If he could knew that the energy and matter are nothing but the energy-forms, transformable into each other, he could have better explanation of his dialectical theory.

On the other hand the **Vaidika** (वैदिक) philosophy or the **Vaidika Darśana** saw and knew the energic world, where they saw and knew the pure and nonfunctional energy in its eternity, which evolved into functional material world or universe. The **Nāsadīya Sūkta** (नासदीय

सूक्त) of the **Ṛgveda** clearly speaks of the kinship of **Sat** and **asat** (सत्-असत्) by reciting the **mantras** (मन्त्र) thus : न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः । आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥

* * * *

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्यां कवयो मनीषा ॥ (ऋ० 10.129.2 एवं 4)

Smt. Sinha has explained the **Sat-asat** combination as the **Brahma** (ब्रह्म) or **Kriyā-puruṣa** i.e. the cause of **Brahmānda** (ब्रह्माण्ड). Smt. Sinha further goes to find that this **Kriyā-puruṣa** is none else than the **Sahsra śirṣā Puruṣa** (सहस्रशीर्षा पुरुष) of the **Puruṣa Sūkta** (Ṛg. 10.90). This **Puruṣa,** in his coordinated body form, has four main harmonically working parts namely mouth (मुख), hands (बाहु), thighs (उरू) and feet (पाद). Mouth is the organ of speech. It must speak the subtle truth, and not the evil. To the **Ṛṣi** the subtle truth is the **Brahma** (ब्रह्म). The knower of this **Brahma** has been named as **Brāhmaṇa** (ब्राह्मण).

The hands are to work. It works for the safety of the body. It saves the body from all sorts of injuries inflicted upon it. Thighs are to give support to the body and strength to the legs and feet. Legs and feet are to give balanced movement to the body. To save the body from injuries is the work of **Kṣatriya** (क्षत्रिय). To support the body and the legs is to manage and maintain the harmonical balanced working body. Taking the body as **Viś** (विश्), the maintenance work has been offered to **Vaiśya** (वैश्य). The feet are for the propagation or transportation without which the above mentioned working parts of the body or society cannot do good to the working body of man or society.

If we look at our upright body at work, we will find four joints one at neck-point, the other at the waist, the third at the knees and the fourth at the feet. These joints help the movement and propagation of the body. The propagational or carrying work of the feet has been assigned to the **śūdra** (शूद्र).

In this way four universal works have been determined by the **Ṛṣi** of the **Purṣa Sūkta**— thinking and speaking; saving and doing handy works; maintaining stability of the working body; carrying and moving of the working body. These four works concern both the individual and the social life of man.

In other words, a man in his individuality is himself a **Brāhmaṇa** (ब्राह्मण), a **Kśtriya** (क्षत्रिय), a **Vaisya** (वैश्य) and **śūdra** (शूद्र). At the social level those engaged in imparting the knowledge of **Brahma** (ब्रह्म) are **Brāhmana**; those engaged in security work are **Kṣtriya;** those engaged in growing and maintaining supply of commodities to the people is **Vaiśya;**.and those engaged in carrying the propagational works are **śūdra.**

As the **Mahābhārata** depicts there were neither class system nor caste system at the earliest in the history of man. Being the sons of **Brahmā** (ब्रह्मा) all were **Brāhmins** (Brāhmaṇa). Later with the coming of division of labour came the class or **Varṇa** (वर्ण) system. Even later to this came the genesis, where the working rights of the **Varṇa** were made the birth-right of the class; and still later the classes transformed into castes or **jāti** (जाति=जन्+क्तिन्), but the above mentioned four forms of work continued even thereafter throughout the ages uptil now.

This is to be noted that the **Puruṣa Sūkta** does not mention the term Vārṇa (वर्ण) in its description The describable i.e. **Varṇya** (वर्ण्य) of the **Sūkta** is the **Kriyā-Puruṣa** or **Brahma** (ब्रह्म) i.e. the **sahasraśīrṣā** (सहस्रशीर्षा). The **Gītā** in its saying **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं...** (cāturvarṇyam mayā sṛṣtam.) takes the term **Varṇya** (वर्ण्य) for the same describable; and not for the **Varṇa** or caste, as the translators or the commentators have shown it. In saying the above mentioned lines the Gītā puts Lord Sri Krishna as **Parabrahma** (परब्रह्म) i.e. the pure energy i.e. the cause of all causes of works. It is **tat** (तत्) of the **Nāsadīya Sūkta** (अनीदवातं स्वधया तत् एकम्).

The works are themselves the memorials of their doer or the creator. They deal with the **Sārva** (सार्व) i.e. the universals; and every bit of the creation is proved to be a **śaktimān** (शक्तिमान्) in itself due to the presence of this very universal. Smt. Sinhā's **śaktimān** is the combination of **śkti** (शक्ति) and **śakta** (शक्त). Again this **śaktimān** is none else than the **ātmā** or the **kriyā-Puruṣa** (क्रिया पुरुष) for her. This **Sārva** (सार्व) of Smt. Sinhā has been remembered with all reverence by **Bhāmaha,** (भामह), the great scholar of Sanskrit literature in his work **Kāvyālaṃkār** (काव्यालङ्कार)– **प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः। काव्यालङ्कार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते ॥** (मन-मानव; पृ० 265)

Smt. Sinha has pointed the two stages of cultural differences by refering the quotations from the **Mahābhārata,** the **śukranīti** (शुक्रनीति) and the **Manusmṛti.** Where the **Mahābhārata** points that being sons or offspring of the **Brahmā** (ब्रह्मा) all are **Brāhamaṇa** and that the restrainment of mind and senses is the eternal religion (सनातन धर्म); **śukranīti** denies the Brahmanical status to all men on this very score of being the offspring of **Brahmā;** the **Manusmṛti** gives religion-status to **ācāra** i.e. conduct. No doubt **Manu** and **Sukra** are the spokesman of the kingship; but restrainment of mind and senses does not need any sort of favouring kingship or king; because under this sort of restrainment the people themselves know their way of mutual saving of one another. As quoted earlier **न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः। धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥** (आर्ष द्रष्टृत्व; पृ० 205) makes it clear.

When this sort of mutual understanding failed and concept of kingship and kingdom came into vogue, **Rājadharma** (राजधर्म) came into existence. Under the perview of **Rājdharma** came the **trivarga** (त्रिवर्ग), a conception enunciated by **Brahmā** (ब्रह्मा), which had accepted three classes of **trivargas.** The first was that of **Dharma, Artha** and **Kāma;** the second was that of **mokṣa,** (मोक्ष) which included **Sattva, Raja** and **Tama;** and the third was that of **Daṇda** (दण्ड) which included

consistency or **order** (स्थिति), **progress** (वृद्धि) and **destruction** (क्षय) (सत्-असत्; पृ० 256)

With the disapproval of the analogy of **dharma** (धर्म) with **ācar**. by **Yudhiṣthira, Bhīsma** says to **Yudhiṣthira** that **Dama** or the restrainment of senses and mind is the perpetual **Dharma** (सनातन धर्म) of man. Smt. Sinhā, accepting this definition of **Dharma** analyses some of the concepts which have been depicted in the Vedas and has explained the important ones in her memorial works. She has also examined the conception of Sāṃkhya (सांख्य) in the light of the Gītā's announcement of **Cāturvarṇyam mayā sṛṣtam guṇakarma vibhāgaśaḥ** (चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश:) which is quite scientific, of course as it seems to me. The readers too cannot deny the explanation given, only if they accept **asat** (असत्) as **kriyā śakti** (क्रिया शक्ति) and **Sat** (सत्) as **Kāritva śakti** (कारित्व शक्ति) and the effect as **arth śakti** (अर्थ शक्ति).

Smt. Sinhā has ably explained the relation between **Guṇa** and **Karma** in relation to man, both in his energic and material forms. In general the translators have taken the **Varṇya** (वर्ण्य) as analogous to **Varṇa** (वर्ण) on the one hand and on the other they conceived the term **Guṇa** (गुण) wrongly for **triguṇa** (त्रिगुण) of **Sāṃkhya** (सांख्य). As a matter fact man is a coordinated body of **GuṇaKarma** (गुण-कर्म), where **Guṇa** represents the **Kriyā śakti** and the **Karma** (कर्म) represents the working body i.e. **Kāritva śakti** (कारित्व शक्ति). If we take **guṇa** as the **triguṇa** of **Sāṃkhya,** the Y-axis, in relation to the **Gun+a-Karma** coordinates, will have to be represented as the **rajju (string)** of **Sattva, Raja** and **Tama** (सत्त्व, रज, तम); and the x-coordinate will then represent the **Karma** (कर्म). In such a case the **karma** of a man will have the tints of all the three **guṇas** of the **triguṇa.** The **triguṇa** being longitudinally placed will coordinately work with the transversely placed working organs i.e. mouth, arms, thighs and feet.

The **Varṇya** of the **Gītā** is not **Varṇa** but the above mentioned coordinated form of human body, be it in working energic form as **mana-mānava** or in working material form of a man, the individual. Both the

social and the individual man lives in the coordination of **Guṇa** and **Karm.** It has to be noted that the **Puruṣa Sūkta** does not mention the term **varṇa** in any of its mantra (मन्त्र). Like the Vedas the Gītā too deals with the **Paramārtha Satya** (परमार्थसत्य). It deals with its subjects on the basis of the laws of nautre or energy, which according to Smt. Sinhā, can be seen formulated as **śakti +śakta =śaktimān,** or **Kriyā+Kāritva=Artha;** or **Sat+asat = Satta** or **Satya.**

According to Smt. Sinhā it is this **śaktimān** or the **sattā** or **satya** that represents **parmārthsatya** and is seen pervaded in the whole of universe. In this way Smt. Sinhā goes to prove that both the cause and the effect are complete in their nature. The cause includes **Kriyā** and **Kāritva** in energic form; and effect is the combination of **Kriyā** and **Kāritva** in material form. The cause has been defined as **kāraṇa Brahma** (कारण ब्रह्म) and the effect as the **Kārya Brahma** (कार्यब्रह्म), and the pure **Kriyā** has been defined as the **atisuksma Kāraṇa** (अतिसूक्ष्म कारण). It is the **Parama Satya** (परम सत्य) on the causal level and the **Artha** (अर्थ) or the **śaktimān** (शक्तिमान्) is the **Parama Satya** on the **Kārya** level. The **Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad** (बृहदारण्यक उपनिषद्) defines the causal one as **Pūrṇamadaḥ** (पूर्णमदः) and the effectual one as the **Pūrṇamindam** (पूर्णमिंद). Even if the **Kāritva** ingredient of the **Pūrṇamidam** is taken out, the remnant remains as **Pūrṇa** (पूर्ण) in itself. The **Mahābhārata** recognises this remnant as **Bālmukunda;** and the **Atharva veda** as **Ucchiṣta** (उच्छिष्ट).

A true researcher as Smt. Sinhā was, her works too has become true memorial to her name Priyamvadā i.e. who speaks pleasing and agreeable. This first volume of the Smṛti Granth (स्मृतिग्रन्थ) is being published not only in the memory of the son and the mother but to commemorate the works of the Ṛṣis of the Vedas in the light of thier works. The son, being the **ātmā** of his parents, remains always with them. Parenthood makes a nuptial life complete. Whatever a creator creates is nothing but is his own manifestation. Son **Pīyūṣa** proves very true complement to his mother. The mother, **Smt. Priyamvadā**

Sinha, gets her son, **Pīyūṣa Priyaṃvada** (पीयूष प्रियंवद)prepared for scientific thinking true to scientific temperament. His apathy towards ancient knowledge causes anxiety to the mother. The mother tells stories from the **Upaniṣads** and explains them with modern scientific approach, so that the son could understand the realities of life and be prepared to face them in good temperament. The son is good at his memory. He puts forth the stories live in his writings. The writings of the son prove to be complementory to the writings of the mother. Now comes the father to bring the works of his beloved ones in the light. The three united make a complete that is indestructible.

The works of Smt. Sinha are noteworthy; not only because she has brought forth the philosophy of the seers of the vedas but also because she has given a way or cause to the philosophers and the scientists of the world to rethink over the realities of life and adopt a scientific approach in true sense to face the uprising situations made by man against man. As a true researcher Smt. Sinha quotes from the **Mahabharata** (शा०प० 180.34) thus— पाणिमन्तो बलवन्तो धनवन्तो न संशयः । मनुष्या मानुषैरेव दासत्वमुपपादिताः ।

This is man who makes a man his slave on the basis of his superiority in might, be it in numbers or wealth.

Smt. Sinha being a researcher in Humanism has rightly found a real philosophy of Humanism in the **Vedas.** This is truly a scientific humanism in which she belives. The philosophers all over the world will have to go after the search for the scientific humanism of the **Vedas** if they want to save the planet earth. The **Vedas** are to be understood in the light of the scientific terms of the Vaidik period. The Vedas have remained the memorial of the humanism from the time immemorial. Let us look deep into the Vedas and search out the universal philosophy which is needed earnestly today. Yes, man is the root of mankind. No doubt, Protagoras rightly said. **Homomensuras.** Man, the universal, is the standard of all things; is the measure of all things. And rightly says

our reverend seer of the **Nāsadīya Sūkta**– कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धधुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्यां कवयो मनीषा॥

And now I must quote the following lines from the poetess-philosopher, Smt. Priyaṃvadā Sinhā's work **Cintanā** (चिन्तना)

स्पष्ट है कि आज भी हम अध्यात्म-आध्यात्म अथवा विद्या-अविद्या की औपनिषदिक व्याख्या को अपने आधुनिक पूर्वग्रह के साथ अपने मानस-पटल पर बिठाये हुए हैं । अथवा, हमरा संस्कार ईश्वरीय सगुणता और लोकेतर शक्तिमत्ता के रंग में इतना अधिक रंग चुका है कि हम उसे उतार नहीं पा रहे; अथवा उसे उतरने नहीं दे रहे । 'ईश्वर' जबतक अपना पौराणिक लोकोत्तर रूप छोड़कर औपनिषदिक ब्रह्मशक्ति का रूप नहीं लेता हमारी मानसिक द्वन्द्वात्मकता साफ नहीं हो सकती । शायद तब तक हम मानव होकर भी 'मानव' को न तो समझ सकते हैं, और न ही अपने को मानव बना सकते हैं।

इसका निराकरण हमारे चिन्तन में ही ढूँढ़ना होगा । उसी चिन्तन में, जो चिद्शक्ति जे जुड़ी परतम चेतन की शक्ति तथा जीवन की रहस्यमयता की उद्घाटिका है । उसे वैयक्तिक पूर्वग्रह, अन्धविश्वास, अन्धभक्तिजनित संवेग और सुझावों को दरकिनार कर मात्र सार्वभौम सार्व की यथार्थता-परमार्थता की दृष्टि से हर ओर देखना होगा । वेदों-उपनिषदों की भाषा की यथार्थता को सार्वभौम दृष्टिकोण से देखते हुए जीवन को समझना होगा । हमें अपनी-अपनी आँखों पर लगे अपने-अपने वैयक्तिक पूर्वग्रहित रंगीन चश्मे हटाने होंगे । हमें सार्व का तस्मै हितम् का चश्मा पहनना होगा । हमें अपने दिवास्वप्न से अलग हो स्वयं के स्वयंपर्याप्त विचार (**Autistic Thinking**) को छोड़ते हुए रचनात्मक चिन्तन (**creative thinking**) की राह पकड़नी होगी ।'' (मन-मानव; पृ० 126)

In her paper, included in this volume, Smt. Sinhā presents a genesis of philosophical development in the east and the west. The west being cold in weather is also cold to life. Working hard and achieving or earning little, makes a man cold to cloder even to one's own life. It makes to acquire more and more. This causes conflict. The people begins to develop a heroic or warrior's personality. The English search their ancestry in a soldier or a warrior. In such a situation the creation becomes personal. With this the creator becomes all-powerful and the creation a result of its will. He creates something from nothing. The

western philosophy believes in the creation created by a creator from nothing. The western scholar of such a view could see nothing than nonexistent as the synonym to **asat** of the **Nāsadīya sūkta** of the **Ṛgveda**.

On the other hand the orientals in its warm environment were warm to all. They were warm to life. The orientals could not work hard for longer time but this little work could give much for their livelihood. They had plenty of time to think over the cause-effect relationship. The knowledge of cause made them think for the summum cause. They knew the summum was eternal but evolutionary too. It could evolve to the universe-level.

In its primordial form it is not material but energic and eternal. To evolve as material universe it has to evolve into materiality and matter, Matter and energy differ in their forms but are energy at their core. They can transform into each other. So, the creator proves itself to be its own cause. The **Ṛṣi** named this creational cause as **svayambhū** (स्वयम्भू) and recognized it as **śaktimān śiva** (शक्तिमान् शिव). He saw the **śaktimān** as the effect of **śakti.** He saw this **śakti** transforming itself for evolutionary creation. This **śakti,** though indistinct, remained not unseen to the Seer of the Vedas. The seers who were the seers of **Kriyā** (क्रिया) knew that **kriyā** is indistinct but not non-existent. They also knew that the **Kriyā** itself transforms into **Kāritva** which in its turn evolve into work enjoining with **Kriyātva.**

The seers in their deep thinking i.e. meditation could find out the way reaching the summum truth of human life. They saw the body outwardly. They saw the matter and found out its causal ingredients through theoretical and practical examinations. As they knew that the mind or **mana** (मन) works both ways i.e. by doing and analysing, they could know the working system of the body. Here came Āyurveda (आयुर्वेद) into existence.

With the knowledge of **ātmā** they could recognize **adhyātmā** and **Jīvatmā** too. They recognized the **ātmā** as **Brahma;** and **Brahma**

as a **Kāryakārī Kriyā śakti,** which is infinite in energic form and infinite-finite in working material form of an individual as man. Having **Panca Koṣa** (पञ्च कोष), the ātmā proves itself to be **Kāryakārī Kriyā śakti.** In energic body it is **Kriyāpuruṣa** and is represented by **Mana-Manava.** In material body too it is **Kriyāpurṣa.** The **Kāritiva** form of energy is material form of energy which has to translate the work desired by **Kriyā-puruṣa.** The Univere is evolved from this very energic **Kriyā puruṣa.** The Pure **Kriyā-śakti** does not go with evolutionary work. It is deemed to have gone in deep sleep. This sleeping stage has been named as **Mahā pralya.** As a matter of fact at this time the **Kāritva** form of energy too remains transformed into **Kriyā-śakti.**

Smt. Sinha's approach to her **Svādhyāya** is praiseworthy. The essence of her study gives us a philosophy of scientific humanism in a true sense. Every bit of the universe is a **śaktimān,** and every **śaktimān** is in itself an universe. Such a philosophy of the Vedas has to be acknowledged and accepted if we are to save our planet earth. In whatever form the philosophies are in vogue today they have to be rethought and replaced by this sort of universal or global philosophy, if the human and the humanism is to be saved from falling into the abyss of inhumanism.

They take every sort of philosophy to be an **Ārṣa** but that is not so. **Ṛṣi** (ऋषि) is a **draṣtā** (Seer) of **Kriyā** but logic does not see the **Kriyā.** The **nirukta** says– साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो बभूवुः । A **Ṛṣi** perceives the ultimate truth. He does not go for argument for argument sake. His arguments remains based on perception. His doubts are rectified automatically through perception itself. Certainty needs no baseless doubtings or unrestrained argumentation.

As a matter of fact when we talk of a **Ṛṣi** we have a **draṣtā** or a seer in our mind. As the name **Darśanika** goes he is a seer and not merely a lover of knowledge. A **darśanik** (दार्शनिक) sees the **Paramārth Satya** (परमार्थ सत्य) i.e. **Kriyā Puruṣa** in the midst of certainty but a philosopher tries to search the creator in his logical doubts.

Smt. Sinhā finds a **dārśanika** (दार्शनिक) in such a man, who has an interviewed or percepted knowledge of the subject, and that differentiates him from a lover of knowledge i.e. the philosopher. She finds the latter a finder of apparent truth; he does not take the trouble to find the summn truth. He goes with his subject upto the length of perceivability of the senses. For him mind does not make a sense organ. For Smt. Sinha a **dārśanika** sees and examines his or her subject through **antaḥkaraṇa** (अन्तःकरण). The subject is perceived and examined by **mana** (मन), **Buddhi** (बुद्धि), **ahaṃkāra** (अहंकार), and **citta** (चित्त). A logic with its doubts may go a Sophist's way of argumentation and fail to see the **Paramārthasatya** (परमार्थसत्य) of the subject in question.

Antaḥkaraṇa sees its subject all in an inclusive way; but the logic goes with its subject all in an exclusive way. **All-inclusion** or **all-exclusion** affect the thinking or seeing that goes in two opposite ways. Smt. Sinhā finds her example in the explanation of the **Brahma** (ब्रह्म), where He has been defined in terms of **neti-neti** (नेति-नेति; न+इति=नेति)

The term **Neti** (नेति=न+इति) has been explained in two ways : यह ही नहीं and यह भी नहीं . The terms ही and भी makes a lot of difference. With ही (solely) the **Brahma** includes whole of the universe and remains with it in its infinite form. With भी (even, as well as) the **Brahma** (ब्रह्म) excludes the whole of universe and becomes free and an outsider to the universe. **All-inclusive** makes all the units of the **Brahmāṇda** (ब्रह्माण्ड) friendly to each other and proves the relationship amongst them as to that of kinship. It does not remain a mystery to a Seer. On the other hand **all-exclusive** makes the **Brahma** (ब्रह्म) a form who is outsider to the universe. This makes him the mysterious Master of the universe. There remains no kinship amongst the individual members of the universe. Everyone of them becomes an independent of and competitor to all others. Cohesion and coherence amongst them disappears. The humankind or the human loses its hue of manship. Humanism loses its meaning and the individual becomes important to such an extent that he becomes himself the Doer. The kings have been made the God of their public on this very count.

Of course the subject of **Darśana** or Philosophy must be life and there must be full coherence amongst the philosophies of life. There must not be any sort of incoherence amongst them. Even the proprietary differnece is not allowed. Smt. Sinha quotes from **Vācaspati Misra** (वाचस्पति मिश्र)- भेदो लोकसिद्धत्वादनूद्यते, अभेदस्तु तदपवादेन प्रतिपादनमर्हति ।

No doubt identity is the import of all the scriptures or the sciences. अभेद ही हर शास्त्र का तात्पर्य है ।

The seeing of cause and effect relationship in its perfection reveals the summum truth and a **Dārśanika** has to become perfect and versatile in his **dārśanika-kriyā**. The **Ṛṣis** were the real **Dārśanika.** The memorial works of Smt. Sinhā reveal the knowledge of those very seers of the life. **Every bit of the universe has been seen as a live life by those Seers,** concludes Smt. Siha. She favours to have a global or an universal philosophy based on such humanism as depited by the seers. To her, individualism turns a man into a commodity. And if humanism has to come in vogue, it will have to base on the seers' note. The works of Smt. Sinha is important because of its merits. Here I must quote few lines from Professor Dr. D.N. Tiwari, which I find worth mentionable in favour of Smt. Sinha's work– "आर्ष दर्शन का जो चित्र विदुषी लेखिका ने प्रस्तुत किया है, उसमें सार्वभाव की प्राप्ति परम लक्ष्य, परम प्राप्तव्य है । यहाँ लोक भी लोकेतर और लोकेतर भी लोक, व्यष्टि भी समष्टि और समष्टि भी व्यष्टि भाव (Sense of nonduality) में दृष्टिमान् होते हैं । यह दृष्टि कण और ब्रह्माण्ड की एकसूत्रता पर आधारित है । इस दृष्टि के लिये सर्वकल्याणकारी सार्वरूप अर्थात् जीव में शिव का अभ्युदय परम लक्ष्य है । इस परम लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में सत्य, ऋत, आत्म-अध्यात्म, ऋणत्रय, पुरुषार्थ, यज्ञ, यात्रा आदि भावों का सर्वोपरि महत्त्व है । सर्वोपरि महत्ता के इन प्रत्ययों की जो व्याख्या विदुषी लेखिका ने की है उस व्याख्या का आधार धर्म है । धृ+मन्, इस निष्पत्ति द्वारा लेखिका की व्याख्या में धर्म ऋत है, शक्ति है और समस्त चीजों की सृजना तथा उनके नियमन का हेतु ही नहीं, बल्कि सबमें व्याप्त भी है; और इसीलिए सब चीजों में एक प्रयोजनमूलक सम्बद्धता (Teleological subordination) एवं एक सूत्रता की व्याख्या भी सम्भव हो पाती है । सार्वभाव से सबों की प्रयोजनमूलक सम्बद्धता एवं एकसूत्रता की दृष्टि और भारती विद्या के सौन्दर्य बोध की जो अवधारणा यहाँ

उपस्थित होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है । इस अवधारणा में 'सत्+यत्' पूर्वक निष्पन्न 'सत्य' में 'यत्' शक्ति है और इस शक्ति के कारण ही 'सत्' शक्तिमान् या सत्तावान् है । इस तर्क के आधार पर विदुषी लेखिका ने भारतीय परम्परा में निगम और आगम दर्शन की संयुति की जो व्याख्या उपस्थापित की है वह कई अर्थों में आरम्भक प्रतीत होता है । कारण, पूर्ववर्ती विद्वानों ने आगम और निगम दर्शनों के विषय में परम की सत्ता और उसकी सर्जनात्मकता को लेकर भेद किया है और यह माना है कि वैदिक परम्परा, जिसका उत्कर्ष वेदान्त और विशेषकर शांकर वेदान्त है, में परम या ब्रह्म को सच्चिदानन्द तो माना गया है किन्तु उसे गतिशील, सर्जनाशील या क्रियारूप (dynamic) न मानकर स्थितिशील, शान्त (static) माना है । वैसे विद्वानों ने आगम परम्परा, जिसका उत्कर्ष अभिनवगुप्त में होता है, में परम या शिव को सर्जनात्मक माना है । क्रिया को परतम के स्तर पर स्वीकार न करने के वेदान्तियों के तर्क से भिन्न आगमों ने परतम को क्रिया या विमर्श स्वीकार किया है । किन्तु विदुषी लेखिका की आर्ष दर्शन की व्याख्या परम को सत् और यत् या ऋत अर्थात् शक्त और शक्ति भी स्वीकार करता है । वह मध्यस्थ द्रष्टा नहीं, बल्कि स्वरूपतः ज्ञान भी है और क्रिया भी है । यहाँ क्रिया पूर्णता का द्योतक है, न कि अपूर्णता का। (पुरोवाक् : आर्ष द्रष्ट्टत्व; पृ. V-VI)

Smt. Priyaṃvadā Sinhā and the son Master Pīyūṣa Priyaṃvada prove themselves to be the Torch-bearers of **Ārṣa Darśan** (आर्ष दर्शन). In one of the lectures, delivered under the Pīyūṣa-Priyaṃvadā Smṛti Vyākhyānamālā (पीयूष-प्रियंवदा स्मृति व्याख्यानमाला) Dr. A.K. Roy, the then Professor and Head of the Philosophy Department of B.H.U., informed his audience that more or less after every hundred years the memory of the Vedas and their philosophy and religion are brought to the notices of the scholars. This time the credit goes to Pīyūṣa and Priyaṃvadā." Yes, he may be right even in his lighter vein; but if the facts are screened minutely it is perhaps the first time after the Chāndogya Upaniṣad arose the question - **कुतस्तु खलु सोम्यैवंस्यादिति हो वाच कथमसतः सज्जायेतेति**, that any writer except Smt. Sinha has explained the meaning of 'Sat' and 'asat' on scientific basis of **Kriyā** and **Kāritva.**

In **Ārśa Darśana Sat** and **asat** are related in kinship. They are **Bandhu** (बन्धु) to each other. They are the evolutes of one pure and eternal form of energy. The pure energy gets ready for transformational

processes when the circumstances become ripe for universal evoluton. The Pure energy is transformed into material energy and energic energy. The **Ṛṣi** of the **Ṛgved** names them as **sat** and **asat.** The pure energy has been named there in the **Ṛgveda** as **tat** (sat-asat annihilation). With the evolutionary process the pure energy gets itself ready for work. The pure energy evolves into materiality and energicity, which proves as the means to work for the functional energy. It is the functional energy that has been identified as light, sound etc.

If the mother earth has to be saved and life has to be preserved, the politics or Rājadharma (राजधर्म) has to become such type of Darśan-oriented as **Ārṣa Darśana.** And for this it must have the eyes of **dhṛ+man**-form of **dharma.** In other words the politicians, the scientists and the administrators must have the practical knowledge of **Damo dharmaḥ Sanātanaḥ** (दमो धर्मः सनातनः). Only restrained minded person can handle the politics and the administration honestly. They must be M.N. Roy-like persons in politics and administration at work; opines Smt. Sinha. But for it one must be **Bahuśāstravid** (बहुशास्त्रविद्) concludes Smt. Sinha. A **draṣṭā** (द्रष्टा) has to become **sahasraśīrṣā, Sahasrākṣa. Sahasrabāhu** (सहस्रबाहु) and **Sahasrapāda** (सहस्रपाद). It is only then that he can do his duties honestly and rapidly. It is the need of the present time. A man is man who lives with his restrained mind and does work in harmony with mana (मन), mati (मति), ahaṇkār (अहंकार) and Citta (चित्त).

Priyamvadā Niwasa
Chitraguptanagara
Kadirabada,
Darbhanga-846004
Dated : 14.5.2010

Shachindra Nath Sinha

विषयानुक्रमणिका

खण्ड (ग) पत्राचार

खण्ड (घ) पीयूष-प्रियंवदा स्मृति कार्यक्रम

खण्ड (ङ) श्री पीयूष और श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा की प्रकाशित पुस्तकें



खण्ड (क) श्री पीयूष प्रियंवद

1. माँ ने कहा था....... लेखक – श्री पीयूष प्रियंवद

2. श्री पीयूष प्रियंवद के लेखन के सन्दर्भ में

(प्रकाशित पुस्तक भाग–1 से)

माँ ने कहा था...

लेखक- श्री पीयूष प्रियंवद

माँ ने कहा- आचार्य शुक्र ने 'विद्या' और 'कला' को परिभाषित करते हुए कहा है- "जो-जो कर्म वाणी द्वारा भली-भाँति सम्पन्न किया जा सकता है, वह 'विद्या' है; और, जिसे गूंगा भी हाथ से कर सकता है, उसे कला कहते हैं।"

यद्यत्स्याद्वाचिं सम्यक्कर्मविद्याभिसंज्ञकम् । शक्तो मूकोऽपि यत्कर्तुं कलासंज्ञं तु तत्स्मृतम् ॥ (शुक्रनीति)

स्पष्ट है कि यहाँ 'कला' शब्द का अर्थ 'सुगढ़ता के साथ करने की क्षमता' है । यह ज्ञानमय कर्म का निरूपक है ।

माँ ने कहा- निरुक्त ने 'कलश' को परिभाषित करते हुए 'कला' को मात्रा के अर्थ में लिया है । -कला अस्मिञ्छेरते मात्राः । अर्थात्, कलश में जलों की कलाएँ अर्थात् जल की मात्रा रहती है ।

माँ ने आगे कहा- अमरकोष ने 'कला' को कारीगरी (कार्यकुशलता या शिल्प), समय का एक माप (तीस काष्ठा का समय), और चन्द्रमा के सोलहवें भाग के अर्थ में माना है । कला शिल्पे कालभेदेऽपि ।

माँ ने अमरकोष का आधार लेकर समझाया- माप के अर्थ से अठारह निमेष का एक काष्ठा; तीस काष्ठा का एक कला; तीस कला का एक क्षण; बारह क्षण का एक मुहूर्त; और तीस मुहूर्त का एक दिन-रात होता है ।

माँ ने कहा- सूर्य और चन्द्रमा का संयुक्त नाम पुष्पवन्तो है । (अमरकोष)

माँ ने आगे कहा- जैसा कि आप जानते हैं चन्द्रमा, वस्तुतः, सूर्यमण्डल का ही एक उपग्रह (Satellite) है । ऋषियों का मानना है कि 'चन्द्रमा' 'सुषुम्ण' नामक सूर्यरश्मि से प्रकाशमान् होता है । सुषुम्ण आत्मा की अन्नमयताको प्राण-मन-विज्ञान और आनन्द से भर देता है । चन्द्रमा मन का प्रतीक है । इसके तत्त्व स्वास्थकर हैं।

माँ ने मेरी जिज्ञासा को समझते हुए कहा- चन्द्रमा की सोलह कलाओं के नाम हैं- अमृता, मानदा, पूष्या, पुष्टि, तुष्टि, रति, धृति, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अंगदा, पूर्ण और पूर्णामृता ।

माँ ने कहा– चन्द्रमा अमृतमय है । चन्द्रमा का पर्याय 'सोम' भी है । शुक्लपक्ष में चन्द्रमा कला-कला अमृतत्व से पूर्ण होता है और कृष्ण पक्ष में देवता क्रमशः इस संचित अमृत को कला-कला करके पी (drink) जाते हैं । पहली कला अर्थात् 'अमृता' को अग्नि, दूसरी कला 'मानदा' को सूर्य, तीसरी पूष्पा को विश्वेदेवा, चौथी पुष्टि को वरुण, पाँचवीं तुष्टि को वषट्कार, छठी रति को इन्द्र, सातवीं धृति को देवर्षि, आठवीं शशिनी को अजैकपात् (रुद्र), नौवीं चन्द्रिका को यम, दसवीं कान्ति को वायु, ग्यारहवीं ज्योत्स्ना को उमा, बारहवीं श्री को पितृगण, तेरहवीं प्रीति को कुबेर, चौदहवीं अंगदा को पशुपति, पन्द्रहवीं पूर्ण को प्रजापति पीते हैं । चन्द्रमा की शेष सोलहवीं कला पूर्णामृता जल और औषिधियों में प्रवेश करती है । इस जल और औषधियों के उपयोग से जहाँ प्राणी स्वस्थ होते हैं, वहाँ हवि की उत्पति और उसके यांज्ञिक उपयोग से यह अमृत-तत्त्व वायु की सहायता से पुनः चन्द्रमा तक पहुँच जाता है ।

मेरी बढ़ती जिज्ञासा को भाँपते हुए माँ ने कहा– आपने चन्द्रमा की सोलह कलाओं के नाम जाने । सूर्य के तेज को भी कला कहते हैं । एक वर्ष में बारह संक्रान्तियाँ होती है । इनके अनुसार सूर्य के जो बारह नाम कहे गये हैं । आप उनका नाम भी जानना चाहेंगे । फिर, आप ही कहा– वे ये हैं– विवस्वान, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शुक्र और उरुक्रम । इनकी कलायें हैं– तपिनी, तापिनी, धूम्रा, मरीचि, ज्वालिनी, रुचि, सुषुम्णा, भोगदा, विश्वा, बोधिनी, धारिणी और क्षमा ।

माँ ने समझाते हुए कहा– स्पष्ट है कि कला अभिव्यक्ति का साधन है । हर वस्तु में तेज है । तेज प्रेरणाप्रधान है । तेज का स्फुरण तेज को ही प्रभावित करता है । इस तरह तेज ही तेज को प्रेरित कर तेज को परिणामित करता है ।

माँ ने कहा– अभिव्यक्ति की सुगढ़ता अन्तःकरण और इन्द्रियों के संयमन पर निर्भर करती है । यह इन्द्रिय-संयमन ही 'तप' को परिभाषित करता है । उपासना जीवन-विषयों को निकट से देखना-समझना-जानना है । मन्त्र इस उपासना की ही पारिणामिक और सूत्रात्मक अभिव्यक्ति है । 'उपासना' तर्कणा और ऋषित्व अर्थात् द्रष्ट्टत्व की समन्विति है ।

यहाँ माँ ने मेरी जिज्ञासा शान्त करते हुए कहा– ऋषि द्रष्या है। साक्षात्कृतधर्मा है । तर्कऋषि वे हैं, जिनकी तर्कणा साक्षात्कृत का आलम्बन लेती है। जो किसी भी तरह साक्षात्कृत नहीं होते, मात्र तर्क ही करते हैं वे तार्किक होते हैं । ऋग्वेद के मन्त्र

आनीदवातं स्वधया तदेकं का द्रष्टा 'ऋषि' है । तैत्तिरीयोपनिषद् के "असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तादात्मानं स्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत् इति ।" का अधिवक्ता तर्कऋषि है । और छान्दोग्य उपनिषद् के कुतस्तु खलु सोम्यैवंस्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् का अधिवक्ता मात्र तार्किक है ।

माँ ने समझाते हुए कहा– जहाँ कुछ भी कार्यकारी नहीं हो, वहाँ एक अव्यक्त, अमूर्त और निःशब्द को देखना द्रष्टा ऋषि की द्रष्टृशक्ति की ही बात हो सकती है । द्रष्टा ऋषि ही तत्रूप अव्यक्त सुसुप्त (अमूर्त) शक्ति को देख सकने में समर्थ है । उसने उस तत् से सत्-असत् को बन्धुरूप से विकसित होते देखा है। तैत्तिरीयोपनिषद् का उपर्युक्त अधिवक्ता ऋषि नहीं; क्योंकि वह असत् से सत् को विकसित होते हुए देखता है; स्वयं असत् के कारण को नहीं देखता। छान्दोग्य उपनिषद् का उपर्युक्त अधिवक्ता असत् से सत् के विकास को ही असम्भव मानता है । वह तर्क का आधार लेता है– असत्य से सत्य का जन्म नहीं हो सकता । वह सत् (सत्+तु+एव =सत्त्वेव) को ही अद्वितीय सत्य मानता है । वह मात्र तार्किक है। स्पष्ट है कि 'तत्' की विशुद्ध शक्तिरूपता छान्दोग्य उपनिषद् तक आते-आते सत्त्वेव हो गयी है; और आज तो हम 'असत्' के सन्दर्भ में किसी से कोई चर्चा भी नहीं सुनते और न ही सुनना चाहते हैं । माँ की स्पष्टवादिता पर मैं भी सोचने लगा हूँ– आखिर व्यावहारिकता के नाम पर वैज्ञानिकता की ऐसी बलि क्यों ? फिर सोचता हूँ– वेद की छन्दोबद्धता अनर्गल नहीं ।

और, माँ ने आगे प्रश्नोपनिषद् के छठे जिज्ञासु भरद्वाजपुत्र सुकेशा के सन्दर्भ से कहना प्रारम्भ किया– महर्षि पिप्पलाद के समक्ष सुकेशा ने अपनी स्थिति रखी– भगवन् ! कोशल देशीय राजकुमार हिरण्यनाभ ने मेरे पास आकर प्रश्न किया– "हे भारद्वाज ! क्या तुम सोलह कलाओं वाले पुरुष को जानते हो ?" मैं उसके इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका था; क्योंकि मैं उत्तर जानता ही नहीं था; और मैं झूठ बोल नहीं सकता था; क्योंकि कहा जाता है कि झूठ बोलने वाला समूल नष्ट हो जाता है। मैंने उससे कहा– "मैं उस सोलह कलाओं वाले पुरुष को नहीं जानता । अगर जानता होता तो अवश्य बताता ।" मेरा उत्तर सुनकर वह तत्क्षण चला गया । भगवन् मैं उस सोलह कलाओं वाले पुरुष को आपसे जानना चाहता हूँ ।

माँ ने कहा– महर्षि पिप्पलाद ने सुकेशा से कहा– "हे सोम्य ! सोलह कलाओं वाला वह पुरुष इस शरीर के भीतर ही है ।"

माँ ने मुझ से ऐतरेय उपनिषद् के कथन पुरुषो वाव सुकृतम् की याद दिलाते हुए कहा– महर्षि पिप्पलाद ने भी सुकेशा से प्रकारान्तरतः वही बात संक्षेपतः कही। उन्होंने भी उसी का आधार लेते हुए सृष्टि और प्रलय-क्रम का वर्णन किया।

फिर माँ ने कहा– अनादि और आदि का भेद हमें ऋग्वेद के तत् एकम् (तदेकं), मनसो रेतः (नासदीय सूक्त) तथा उपनिषद् के 'स' अथवा 'पुरुष' पदों में मिलता है। तत् एकम् उपर्युक्त औपनिषदिक पुरुष का कारणरूप है और यह औपनिषदिक पुरुष 'तत्' का कार्यरूप है। कारणरूप 'तत्' अनादि है और औपनिषदिक शक्तिरूप पुरुष द्रव्यगत सृष्टि का कारणरूप है। अगर आप ध्यान दें तो आपको स्पष्ट होगा कि छान्दोग्य उपनिषद् के उपर्युक्त सत्त्व में जहाँ सत् द्रव्यत्व का आदिकारण है, वहाँ तु एव, वस्तुतः, उसके बन्धु 'असत्' के लिये है। इस तरह, 'सत्त्वेव' जहाँ कार्यरूप है, वहाँ उसका कारणरूप स्वयं 'तत्रूप'। इसी तरह सम्पूर्ण सृष्टि, वस्तुतः, 'तत्रूप' ही है। 'तत्' अनादि है।

माँ ने कहा– 'ऐतरेय' और 'प्रश्न' उपनिषदों का 'वह' अनादि यह सोचने लगा कि 'पुरुष' अर्थात् कार्यकारी रूप (Working form) तो तैयार हो गया अब मैं किस रूप से इसमें रहूँ कि उसके रहने से मेरा अस्तित्व बना रहे और उसके निकल जाने पर मैं भी निकल जाऊँ ?

माँ ने समझाया– यहाँ आप क्रिया-कारित्व समन्वय का भाव स्पष्ट होता हुआ देख सकते हैं। 'क्रिया' अगर कारित्व के साथ रहे तो वहाँ वह कारित्व की कार्यकारिता का कारण बनी रहती है और कारित्व से अलग होने पर कारित्व के स्वतः क्रियात्व में बदलने का कारण बनती है। क्रियात्व के बिना कारित्व क्रियात्व में रूपान्तरित हो जाता है। क्रिया अपने कार्यकारी रूप में कारक कहलाती है; और 'कारक' क्रियाके कार्यत्व का साधन। वस्तुतः, क्रिया ही सर्वत्र है। क्रिया ही साध्य है, साधक और साधन भी है।

माँ ने आगे कहा– क्रिया को अपेक्षित रूप में आने के लिये अर्थात् शरीररूप को कार्यकारी रखने के लिये जिस कार्यकारी शक्ति की अपेक्षा थी वह प्राणरूप ही हो सकता था। प्रश्नोपनिषद् ने सृष्टिनिर्माण के प्रथम चरण में 'प्राण' के सृजन की बात की है– स प्राणमसृजत। यह प्राण, वस्तुतः, ऋग्वेद का 'मन' का कार्यकारी रूप है। और यह मन सत्-असत् की समन्विति अर्थात् शक्त-शक्ति का समन्वितरूप शक्तिमान् है। यह आदि कारणं, वस्तुतः, विशुद्ध शक्तिरूप 'तत्' या 'स' से विकसित कार्यकारी रूप प्राण-पुरुष, या क्रियापुरुष, या मनोपुरुष या मनोमानव, या मन-मानव है।

माँ ने कहा– ऋग्वेद का सहस्रशीर्षा विराट्, वस्तुतः, यही उपर्युक्त क्रियापुरुष है।

माँ ने इस पुरुष के सोलह कलाओं के सन्दर्भ से कहा– और जैसा कि आप जानते ही हैं, तैत्तिरीय उपनिषद् ने चार व्याहृतियों भूः, भुवः, स्वः और महः की अपेक्षा से चार लोक (पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग और आदित्य) चार ज्योतियाँ (अग्नि, वायु, आदित्य और चन्द्रमा), चार विद्या (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और ब्रह्म), तथा चार प्राण (प्राण, अपान, व्यान और अन्न) कुल सोलह व्याहृतियों की बात की है। आपने जाना है कि व्याहृतियों की तरह 'कला' भी अभिव्यक्ति का ही पर्याय है। ये कलायें या अभिव्यक्तियाँ या व्याहृतियाँ, वस्तुतः, अव्यक्त, अमूर्त, निरपेक्ष शक्ति की ही द्रव्यात्मक या शक्त्यात्मक अभिव्यक्ति के रूप में देखी जाती हैं। यही कारण है कि छठे जिज्ञासु की जिज्ञासा के उत्तर में महर्षि पिप्लाद ने प्राणमय मनोपुरुष अर्थात् कार्यकारी क्रियापुरुष को सोलह कलाओं से युक्त माना है। पुरुषो वाव सुकृतम्।

माँ ने कहा– आपने शक्तिमान् के 'शक्ति+शक्त' रूप को भी जाना तथा उसे शिव या स्वयम्भू के रूप में माना गया देखा है। आपने शक्तिमान्‌रूप शिव या स्वयम्भू को ही सृष्टि का आदिकारण और अन्तकारण, दोनों, के रूप में जाना-पढ़ा है। 'शिव' का कारण 'शक्ति' है; और कारक 'शिव' शक्ति के बिना कुछ कर भी नहीं सकता, अर्थात् स्वयं से कारक हो भी नहीं सकता। यही कारण है कि सभी कलाओं में शक्ति की अभिव्यक्ति देखी गयी है। 'शैव' कला को शिव के द्वारा विश्व की क्रमिक सृष्टि अथवा विकास की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित करते हैं। शैव तन्त्रों में चौंसठ कलाआं का उल्लेख पाया जाता है।

माँ ने कहा– शुक्रनीति में कलाओं को अनेक विषयगत दृष्टिकोण से देखा गया है। उसके अनुसार गान्धर्व वेद ने अपने यहाँ सात कलाओं को, आयुर्वेद ने दस कलाओं को, धनुर्वेद ने पाँच कलाओं को देखा है। स्पष्ट है– 'कला' शक्ति की कार्यात्मक अभिव्यक्ति है।

माँ ने कहा– वह द्रव्यरूप में भी अभिव्यक्त होती है और शक्तिरूप में भी। वैसे आप जानते हैं कि द्रव्य और शक्ति दोनों ही-शक्तिरूप ही हैं। स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेद (अ०8/मं०36) और प्रश्नोपनिषद् के आधार पर उस ब्रह्म या क्रियापुरुष को षोडशी के रूप में देखा और उन सोलह कलाओं को इस रूप में गिनाया है– ईक्षण, प्राण, श्रद्धा (सत्य में विश्वास), आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, बल (वीर्य), तप, मन्त्र, कर्म (चेष्टा), और नाम (संज्ञा)।

माँ ने कहा– आप विज्ञान के छात्र हैं । आपने एनर्जी (Energy), पावर (Power) एवं वर्क (Work) के रूप में शक्ति का ही अध्ययन किया है । आधुनिक विज्ञान, जो कभी शक्ति और द्रव्य को अलग-अलग मानता था, आज भारतीय या आर्ष अवधारणा की शक्तिगत सृष्टि की अवधारणा को स्वीकार करता है । क्वार्क के रूप में शक्ति की सूक्ष्मता को जहाँ वह स्वीकार करता है, वहाँ उसकी अनादि विशुद्ध रूपता (Purity) को भी स्वीकार करता है । आधुनिक विज्ञान आज उस शक्तिगत प्रक्रिया को खोजने का प्रयास कर रहा है, जिससे विशुद्ध शक्ति 'द्रव्य' या 'कारित्वरूप' को प्राप्त करती तथा कार्यकारी बनती है ।

माँ की व्याख्या चतुर्विध होती है । वह जीवविज्ञान के माध्यम से जीवन को और जीवन के क्रियाकलापों को अन्य सब सम्बद्ध वैषयिक विज्ञानों के माध्यम से देखती हुई अपना निर्णय लेती हैं । मेरी माँ बहुशास्त्रविद् हैं– ऐसा मैंने देखा है और स्वयं मेरे पापा का भी यही विश्वास है ।

मैं सोचता हूँ– माँ बी.एससी. (B.Sc.) करने के बाद बिहार असैनिक सेवा के लिये परीक्षित हुई थीं । अध्यापन में आकर उन्होंने बी.एड्., फिर बी.ए. और एम.ए. किया । साथ ही मानववाद में शोध हेतु पञ्जयित होते हुए शोधकार्य में लगीं । उनके अध्ययन के वितान का अनुमान इससे ही लगाया जा सकता है । वैसे उनकी लेखनी अपने-आपमें उनकी विद्वत्ता और सूक्ष्मदर्शिता की कहानी कहती है । मेरी माँ सबों से भिन्न हैं । पापा में निश्छल क्रोध भी है, किन्तु माँ में तो वह भी नहीं । माँ करुणा की मूर्ति हैं । माँ कहती हैं– ज्ञानमय कर्म में अन्धभक्ति-अन्धविश्वास नहीं पनपता । जो अपने उत्तरदायित्व से भागते हैं वे ही ज्ञानमय कर्म से विमुख हो देवताओं या जादू-टोनों की ओर अभिमुख होते हैं । ऐसे लोगों में करुणा नहीं होती। मात्र स्वार्थसिद्धि की कलुषित योजनाएँ होती हैं ।

आज की वैश्विक सभ्यता, वस्तुतः, औद्योगिक विकास और नैतिक ह्रास के चक्रव्यूह में फँसी है । नादान अभिमन्युरूप आज का मनोमानव अपने कार्यकारी रूप को उसमें से निकाल नहीं पा रहा । ऐसा लगता है मानों राहु ने सम्पूर्ण चन्द्रकला को अपना ग्रास बना लिया है ।

जीवन का द्रष्टा 'ऋषि' है; जीवन की वास्तविकता का ज्ञाता वैज्ञानिक है; और जीवन की सर्वांगीण सहितकारी व्याख्या करनेवाला साहित्यकार । इन तीनों की समष्टि की विकसिति ही मानव है । यह मानव ही मनोरूप से सोलह कलाओं वाला वह पुरुष है, जिसकी खोज हिरण्यनाभ और सुकेशा को थी; और आज के विश्व को भी उसी की तलाश है ।

औद्योगिक सभ्यता ने दर्शन के अर्थ को अर्थ (धन) के तराजू पर तौल कर हर रूप में अर्थहीन कर दिया है । दृष्टि संज्ञाहीन होकर तथाकथित जड़ता को प्राप्त कर चुकी है; और, जीवजगत् का भी मूल्यांकन जड़रूप से ही होने लगा है । बाजार (Market) की जड़ता में चेतना की पहचान समाप्त हो गयी है । माँ ने ठीक ही कहा था– चेतन-दृष्टि ही चेतन को देखती है और वही साक्षात्कृतधर्मा कही जाती है ।

साक्षात्कृत की अनुमानता पर आधारित तर्क तर्कऋषि का रूप लेता है । परन्तु साक्षात्कार से अलगा होता हुआ तर्क चेतन को देख नहीं पाता; और, उसे बाजार के हवाले कर देता है । अर्थ (धन) का अन्धा व्यापारी जीवन के चेतनात्मक अर्थ को समझ नहीं पाता और हर पल उसकी निलामी बोली बोलता चला जाता है ।



श्री पीयूष प्रियवंद के लेखन के प्रति विद्वानों के शब्द

डॉ० देवेन्द्र नाथ तिवारी, प्रोफेसर दर्शन शास्त्र, ल०ना० मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा; अब प्रोफेसर धर्म एवं दर्शन विभाग, बी०एच०यू०, वाराणसी, के विचार (अंश) –

[माँ ने कहा था... (प्रथम भाग) से आहृत]

"माँ ने कहा था..." भारतीय प्राच्यविद्या (Indology) के क्षेत्र में लेखक पीयूष प्रियंवद का एक महत्त्वपूर्ण योगदान है ।...

एक अध्येता के रूप में निरीक्षण करने पर यह स्पष्ट विमति बनती है कि इस कृति के लेखक की बुद्धि में पूर्ण सुशिक्षित, सुसंस्कृत जीवन की एक स्पष्ट संकल्पना (Concept) है और लेखक की यह संकल्पना श्रुति, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक, वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण इत्यादि की जीवन-पद्धति से सर्वथा समर्थित होने से शिष्ट परम्परा का ही प्रतिनिधित्व करती है । लेखक की मान्यता है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को इस तरह दीक्षित करना है कि वह अपने शिष्टों के विचारों को समझने में समर्थ हो जाय और मनुष्य-मात्र की भलाई के लिये कुछ ऐसे नये तथ्यों को उसमें जोड़ सके, जो पूर्ण संस्कृत जीवन की प्रक्रिया में उपयोगी हो तथा जिस प्रक्रिया में अपने को डालकर या जिस प्रक्रिया से अनुशासित होकर व्यक्ति अपने जीवन तथा समाज के जीवन को सम्मान दे सके, अर्थ दे सके, और इस प्रकार वह अपना पुरुषार्थ सिद्ध कर सके ।

* * * * * *

उपनिषदों का उत्स श्रुति है और श्रुति की जो व्याख्या आचार्य शङ्कर ने की है, उसमें ज्ञान को मोक्ष का एकमेव साधन तथा कर्म को बन्धन का हेतु माना गया है । ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः । इसके आधार पर कुछ चिन्तकों ने शाङ्कर वेदान्त को संन्यासवादी या पलायनवादी कहा । प्रस्तुत कृति के लेखक ने कर्म और ज्ञान के समन्वय का एक ऐसा रूप प्रस्तुत किया है, जिसमें ज्ञान भी कर्म है और यह विमर्श है । यह विमर्श परमावस्था में परज्ञान है और यह प्रकाशित करने के हेतु के रूप में प्रकाशन-क्रिया भी है । ज्ञान और कर्म का समन्वय इस कृति का केन्द्रीय प्रतिपाद्य है और ज्ञान तथा कर्म ही इस कृति की समस्त अभिव्यक्तियों का समन्वयक है ।

इस रूप में इस कृति को भारतीय प्राच्यविद्या के क्षेत्र में पीयूष प्रियंवद का एक उल्लेखनीय अवदान माना जाना सर्वथा उचित है ।

आज के वैश्वीकरण या बाजारीकरण के युग में, बढ़ते भौतिक सुखों को हासिल कर लेने की भाग–दौड़ में, मानव–व्यक्तित्व को विकृत करने के सारे अवसर मौजूद हैं । इस भाग-दौड़ को लेखक मानवता का, चाहे वह अपने अन्दर हो या दूसरों के अन्दर, महाविनाशक समझते हुए उसके प्रतिकूल प्रभावों से जीवन को संरक्षित रखकर उसे पूर्ण संस्कृत जीवन के पड़ाव तक ले जाने के लिये 'माँ ने कहा था.' की अपनी संकल्पना को उपादेय रूप में अभिव्यक्त करता है ।

* * * * *

लेखक ने प्राचीन जीवन-सिद्धान्तों को आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों के हिसाब से भी समझने का प्रयास किया है । और यह दिखाने का प्रयास किया है कि हमारी शिष्ट परम्परा के ज्ञान आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के सन्दर्भ में और भी सम्पुष्ट है ।... अपनी प्रस्तुति में लेखक ने फिलॉलॉजिकल (Philological भाषाशास्त्रीय) तथा हरमिन्यूटिक्स (Hermenuticsभाष्यविज्ञान) विद्या को, जो एक सांस्कृतिक सामाजिक परिवेश में किसी शब्द को, किसी संकल्पना को समझने–समझाने की विधि के रूप में अत्यन्त प्रासंगिक है, अपनाया है, जो पुस्तक के विवेच्य (Content) के सर्वथा अनुकूल है ।

यह कृति सामान्य पाठक तथा विषय के विद्वान् दोनों के लिये सामान्य रूप से पठनीय है और आशा है कि भारतीय संस्कृति और विशेष रूप से भारतीय प्राच्यविद्या के सामान्य पाठक, जिज्ञासु तथा विद्वज्जनों के द्वारा लेखक की यह कृति समादृत होगी । मैं पुण्यश्लोक पीयूष प्रियंवद को उनकी इस कृति के लिये साधुवाद देता हूँ ।



'माँ ने कहा था...' के प्रति साहित्यवाचस्पति

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव के उद्‌गार

प्रस्तुत कृति 'माँ ने कहा था...' इसके प्रज्ञापौढ़ किशोर लेखक पुण्यश्लोक पीयूष प्रियंवद के मरणोत्तर प्रकाशित हुई है। इसमें प्रियंवदजी ने अपनी स्वर्गगता मातृश्री श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा द्वारा प्रोक्त औपनिषदिक कथाओं के दार्शनिक अनुचिन्तन को शास्त्रीय आकलन के परिवेश में उपन्यस्त किया है। पुण्यश्लोकमयी प्रियंवदाजी महीयसी महिलाओं में धन्यतम थीं। वह दर्शनशास्त्र की प्रातिभ प्रौढ़िमा से सम्पन्न अध्येता रहीं। दर्शनशास्त्र में उनका तलस्पर्शी प्रवेश था। विश्वविद्यालय-जगत् की दर्शन के पारंगत अध्येताओं की परम्परा में उनकी द्वितीयता आज भी प्रायोदुर्लभ है। उन्होंने चिन्तन के स्तर पर की गई दार्शनिक अभिव्यक्ति के माध्यम से अपनी आशंसनीय शब्दशास्त्रज्ञता का विस्मयकारी परिचय दिया है। इस कृति में उन्होंने अपने किशोरवय पुत्र को वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के दार्शनिक ज्ञान कराने के उद्देश्य से अपनी अध्यात्म-सिक्त बातें कही हैं, इसलिए दार्शनिक ग्रन्थिलता को पूरी समीचनता से सुझलाकर सरल और प्रांजल शैली में परिवेषित किया है। फलतः, यह कृति औपनिषदिक दर्शन में प्रविविक्षुओं के लिये अतिशय उपादेय बन गई है।"

"लेखक द्वारा प्रस्तुत अणु-परमाणु विवेचन, शक्ति-तत्त्व, द्रव्य-स्वरूप, वाक्तत्त्व, सृष्टि-तत्त्व, ओंकार-तत्त्व, ब्रह्म-स्वरूप, ईश्वर-चिन्तन, अग्नि, वायु, इन्द्र आदि का विवेचन, सर्वज्ञतासिद्धि, आयुर्विज्ञान, मृत्युविज्ञान प्रभृति समग्र आध्यात्मिक तत्त्वों का वैज्ञानिक विश्लेषण केवल मननीय ही नहीं, मीमांस्य भी है। इस कृति की रेखांकनीय विशेषता यह है कि इसमें कुछ भी और कहीं भी न तो निर्मूल है, न ही अनपेक्षित है। इसमें भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का समन्वयवादी मूल्यांकन बहुत ही आधिकारिक ढंग से किया गया है।

"लेखक अपनी विदुषी माँ के विज्ञानवाद से पूर्णतः प्रभावित है। उसकी माँ ईश्वर को जगत्स्रष्टा न माकर अद्वितीय शक्ति के निरूपक 'सर्वशक्तिमान्' को जागतिक सृष्टि का कारण मानती हैं। वह उसे सांख्य पुरुष की तरह क़ेवल द्रष्टा न मानकर सचेष्ट और क्रियाशील स्रष्टा भी मानती हैं। "स्रष्टा होने के कारण ही उस सर्वशक्तिमान् ने लोक-रचना की इच्छा की और रचना के लिये क्रियाशील हुआ।

लेखक की माँ के इस चिन्तन में औपनिषदिक चेतना अन्तर्ध्वनित है– स एकाकी नैव रमते, स आत्मानं द्वेधा व्यभजत् । वह 'सर्वशक्तिमान्' के व्यक्तित्व और कर्तृत्व दोनों में विश्वास करती हैं ।''

* * * * *

''उपनिषदों का केन्द्रीय उद्देश्य है उस परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना, जिसके जानने के बाद और कोई ज्ञातव्य शेष नहीं रहता । प्रस्तुत कृति के सम्बन्ध में हम ऐसा कहेंगे तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि वेद या उपनिषन्मूलक सिद्धान्तों को वैज्ञानिक पृष्ठभूमि में नये सिरे से युक्तियुक्त तर्क द्वारा सही-सही प्रतिपादन करने के लिये एक स्वतन्त्र आध्यात्मिक शास्त्र के रूप में इसका प्रणयन हुआ है । उपनिषदों में ज्ञान और विज्ञान दोनों की संयुक्त चर्चा आई है ।

आधुनिक नई दृष्टि में 'ज्ञान' यदि अध्यात्मशास्त्र से सम्बद्ध है, तो 'विज्ञान' विशिष्ट ज्ञान से जुड़ा हुआ है । इसलिए इस कृति में औपनिषदिक विज्ञान को केवल 'शब्दशास्त्र' तक सीमित न रखकर उसे वास्तविक और पारमार्थिक ज्ञान तक विस्तृत किया गया है, जिससे लेखक का यह कथन अयुक्त नहीं है कि विज्ञान, वस्तुतः, 'विजिज्ञासा' अर्थात् वास्तविक जिज्ञासा की देन है । लेखक ने 'ज्ञान' और 'विज्ञान' शब्द की सूक्ष्मतम और व्यावहारिक व्याख्या की है और निष्कर्ष के रूप में कहा है कि आर्ष विचारणा में विज्ञान की परिभाषा पारमार्थिक है और परमार्थ की दृष्टि से जिज्ञास्य ज्ञान ही 'विज्ञांन' है । 'परमार्थज्ञान की विशद चर्चा महामहोपाध्याय पं० रामवतार शर्मा ने अपने 'परमार्थदर्शन' ग्रन्थ में की है ।

लेखक की मानववादी माँ विज्ञानाध्यात्म की समन्वय-भूमि पर अपने प्रासंगिक विचारों को उपस्थापित करती हैं । इस सन्दर्भ में उनका चिन्तन इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है– आर्ष विचारक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड या सम्पूर्ण सृष्टि को एक मानवाकृति के रूप में देखता है और मानवीय गुणों को उसमें आरोपित करता है । आर्ष विचारणा का यह व्यापक मानवीयगुण, जो 'ब्रह्म' में आरोपित होता है, ब्रह्म का अंग या अंश होने के कारण अविनाशी है, अपरिवर्तनीय है । आज के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के दृष्टिकोण को महत्त्व देकर 'समानता' और 'सौहार्द' को भूलनेवाले हम स्वयं के साथ-साथ, सम्पूर्ण सृष्टि को सर्वनाश की ओर ही तो ले जा रहे हैं । कर्म के लिये स्वतन्त्र हम अपनी असीम शक्ति को तो पहचान गये हैं, क़िन्तु अपनी अदूरदर्शिता के कारण जीवन के समन्वय, उत्तरदायित्व और कर्तव्य की सीमा को भूल गये हैं । हम तो अपने दायित्व और कर्तव्य को भूल सकते हैं, प्रकृति नहीं भूलती।

वह हर हमेशा अपनी नियमबद्धता में रहती है । नियम टूटने से उसे बिखरते भी देर नहीं लगती ।

अवश्य ही, आज के विसंगत जीवन-परिवेश में इस दृष्टिकोण का विशेष महत्त्व है । इस कृति में समाविष्ट माँ और बेटे की समस्त आध्यात्मिक वैचारिकी देश-काल-सापेक्ष है । अविनश्वर अतीत और प्रतिपल सहवर्ती वर्त्तमान से उसका सुनिश्चित सम्बन्ध है । चूँकि इनके विचार वैज्ञानिक आधार पर पल्लवित हुए हैं, इसलिए अधिक विश्वसनीय हैं । इन्होंने अपने समग्र विचारों को अधिकतर भारतीय दर्शनों के परिवेश में ही अक्षरित किया है । पाश्चात्य दर्शनों के वागाडम्बर से अपने चिन्तन को बोझिल या ग्रन्थिल बनाने की कृत्रिम चेष्टा इन्होंने नहीं की है, न ही ये अनपेक्षित पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन को भारतीय चिन्तन पर बलात् थोपने या लादने की प्रवृत्ति से पीड़ित हुए हैं । माँ और पुत्र दोनों ही अपने चिन्तन की दृष्टि से पूर्णतः भारतीय हैं । उनका भारतीय चिन्तन विज्ञानोपजीवित है, इस कारण पाश्चात्य मनीषी भी इसके अध्ययन के प्रति समुत्सुक होंगे; क्योंकि पाश्चात्य चिन्तकों का रुझान या आग्रह भारतीय दार्शनिक चिन्तन के प्रति स्वभावतः समुत्सुक रहता आया है ।

भारतीय आध्यात्म के क्षेत्र में माँ को आदिगुरु माना गया है । बालक की पहली शिक्षा माँ के द्वारा ही सम्पन्न होती है ।... इस ग्रन्थ के लेखक ने अपनी माँ को शिक्षिका के साथ ही साक्षात् शिक्षा की मूर्त्ति के रूप में स्वीकार किया है । अध्यात्म-जगत् में रमण करनेवाले आत्माराम लोगों को ऐसी विलक्षण माँ और ऐसे विलक्षण पुत्र पर (जब कि अब दोनों ही परमपद पर प्रतिष्ठित हो गये हैं) अवश्य ही विस्मितिपूर्ण गौरव का अनुभव होगा । ये दोनों भस्मान्त होकर अक्षरान्त हो गये हैं। आचार्य भर्त्तृहरि ने इनके जैसे व्यक्तित्वों को ही लक्ष्य कर लखा है; नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् । अर्थात् इनके जैसे यशःशरीरधारी व्यक्तित्व जरा (बुढ़ापा) एवं मरण के भय से मुक्त रहते हैं । इनके द्वारा प्रणीत साहित्य न ममार न जीर्यति- न मरता है, न पुराना पड़ता है । निस्सन्देह, इन माता-पुत्र की उक्ति-प्रत्युक्ति मूलक अध्यात्मज्ञान की इस अपूर्व-अमूल्य कृति से महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज की दर्शनाध्यात्ममूलक अध्ययन की परम्परा ततोऽधिक विकसित और विवर्द्धित हुई है ।''

●

डॉ० पंकज कुमार वर्मा, दर्शन विभाग ल०ना० मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा के विचार–

...कथानक उपनिषदों का, उपदेश एक विशिष्ट माँ का अपने विशिष्ट पुत्र के लिये । स्पष्ट है कि उपनिषदों का सन्दर्भ एक बालक के लिये इस प्रकार क्यों है ? पुस्तक का प्रकाशन इस स्थिति को बालक की पहचान के साथ जोड़ने का लक्ष्य समेटता है ।

* * * * * *

उपनिषदों की कहानियों में निहित दार्शनिक भाव शाश्वत हैं और अपने दृष्टिकोण से उसे पकड़ने का किशोर–मन का प्रयास एक व्यष्टिनिष्ठ प्रयास है, जो कहाँ तक सार्थक और उपयुक्त है, इस पर यथायोग्य विचार पाठकों का ही होना चाहिए ।



डॉ० विमलेन्दु नारायण सिंह, पूर्व आचार्य दर्शन विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया के विचार–

..."अपनी माँ के माध्यम से वे कहते हैं," 'आनन्द' सत्–शक्ति और चिद्–शक्ति का विषय है । और सत् और चेतन का संयुक्त रूप ही आनन्द का आश्रय बनता है । यही कारण है कि ईश्वर को सत् चित् आनन्दघन अथवा सच्चिदानन्दघन कहा जाता है । इतनी सुगमता से ब्रह्म के सच्चिदानन्द रूप की व्याख्या कर पाना विचार की परिपक्वता और भाषा पर सहज अधिकार का ही द्योतक है ।



खण्ड (ख) श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा

1. दर्शन
2. आर्ष दर्शन के कुछ प्रत्यय
3. श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा की साहित्य साधना
4. श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा के लेखन के सन्दर्भ में

दर्शन

लेखिका- श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा

बर्ट्रेण्ड रसेल (Bertrand Russell) ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी' (History of Western Philosophy) की भूमिका (Introduction) में फिलॉसफी (Philosophy) को ईश्वर-मीमांसा या धर्मविज्ञान (Theology) तथा विज्ञान (Science) के बीच की अवान्तर स्वामीहीन भूमि (No Man's Land) के रूप में देखा है। उनका मानना है कि यह अवान्तर भूमि दोनों ही ओर से आक्रमणेय (Exposed to attack) है।

रसेल (Russell) का मानना है कि फिलॉसफी, वस्तुतः, जीवन (Life) एवं संसार (World) से सन्दर्भित अवधारणाओं से सम्बद्ध है। और वे, इस अवधारणा के दो कारण-घटकों (Factor) को नामांकित करते हैं- एक, परम्परागत या वंशानुगत (inherited) धार्मिक एवं नीतिगत अवधारण तथा दूसरा, आनुसन्धानिक अर्थात् वैज्ञानिक अवधारण।

ईश्वर-मीमांसा में वे ऐसे तत्त्वों को कारणरूप देखते हैं, जो अनुमेय तो हैं किन्तु अपनी निश्चिति के सन्दर्भ में अनिश्चेय हैं। दूसरी ओर वे विज्ञान को मानवीय विवेक से जोड़ते हुए फिलॉसफी को वैज्ञानिक तथ्यों से भी सम्बद्ध मानते हैं। हाँ, वैज्ञानिक तथ्य को वे परम्परा (tradition) या प्रकाशना (Revelation) जैसे प्रभुत्व (Authority) से अलग रखते हैं। उनके अनुसार सब निश्चित ज्ञान (definite knowledge) विज्ञान और सब धर्मसिद्धान्त या मत (dogma), जो निश्चित ज्ञान से परे हो ईश्वर-मीमांसा या धर्मविज्ञान (Theology) के अन्तर्गत आता है। उनका यह मानना है कि मीमांसात्मक मन (speculative mind) में उठे अधिकतम रुचिगत प्रश्नों में से लगभग सबों के उत्तर जहाँ विज्ञान (Science) नहीं दे सकता वहाँ ईश्वर-मीमांसा के अधिकारियों के विश्वस्त उत्तर भी विश्वासोत्पादक या युक्तियुक्त नहीं होते।

उपर्युक्त विवरण को रसेल (Russell) की उक्तियों में देखें- "The conceptions of life and the world which we call 'Philosophical' are a product of two factors : one, inherited religious and ethical conceptions;

the other, the sort of investigation which may be called 'scientific', using this word in its broadest sense.

"Philosophy, as I shall understand the word, is something intermediate between theology and science. Like theology, it consists of speculations on matters as to which definite knowledge has, so far, been unascertainable; but like science, it appeals to human reason rather than to authority, whether that of tradition or that of revelation."

"All definite knowledge.... belongs to science; all dogma as to what surpasses definite knowledge belongs to theology. But between theology and science there is a No Man's land, exposed to attack from both sides; this No Man's Land is philosophy."

"Almost all the questions of most interest to speculative minds are such as science cannot answer, and the confident answers of theologians no longer seem so convincing as they did in former centuries." (History of Western Philosophy; P. 13)"

आगे रसेल (Russell) ने मीमांसात्मक मन (Speculative minds) में उठे तथाकथित कुछ प्रश्नों की चर्चा की है, जो इस प्रकार हैं– क्या संसार मन (mind) और द्रव्य में विभाजित है ? अगर ऐसा है तो 'मन' क्या है और द्रव्य (Matter) क्या ? क्या मन द्रव्य के अधीन या द्रव्य का विषय है ? अथवा यह (मन-mind) कोई स्वतंत्र शक्ति है ? क्या यह ब्रह्माण्ड किसी निश्चित लक्ष्य की ओर विकासोन्मुख है ? क्या इसमें कोई एक है ? क्या, वस्तुतः, प्रकृति का कोई नियम भी है ? या कि इसमें हम मात्र अपने अनुराग (Innate love) के कारण विश्वास करते हैं । क्या आदमी वही है, जो वह ज्योतिविदों (Astronomer) को दिखता है; या कि वह मिश्रित (impure) कार्बन और पानी का बना पिण्ड अथवा अपवृद्धि (lump)-मात्र है, जो किसी छोटे अथवा महत्त्वहीन ग्रह पर क्लीववत रेंगनेवाला है; या कि वह वैसा है जैसा कि हैमलेट को दिखता है ? या कि वह एक ही समय में इन दोनों-सा है ? क्या जीवन जीने का कोई उदात्त (Noble) मार्ग है? या कि फिर कोई दूसरा आधार-मार्ग है जिस पर जीवन चलता या चल सकता है? या कि जीवन जीने के सब मार्ग ही निरर्थक हैं ? अगर कोई उदात्त मार्ग है तो वह किस रूप में है और हम उसे कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? शुभ (good) को तो नित्य ही होना है ताकि वह मूल्यवान् बना रहे । या कि वह निर्दयी मृत्यु की ओर बढ़ते ब्रह्माण्ड में अन्वेष्य ही रहनेवाला है ? क्या प्रज्ञा (wisdom) जैसी कोई वस्तु भी

है ? या कि यह मूर्खता (folly) की चरम परिष्कृति (ultimate refinement of folly) मात्र है ?

रसेल (Russell) का मानना है कि ऐसे प्रश्नों के कोई उत्तर प्रयोगशाला में नहीं प्राप्त हो सकते । और, जो उत्तर ईश्वर-मीमांसा से निश्चिति के रूप में प्राप्त होते हैं वे आधुनिक विचार-प्रणाली में सांशयिक रूप से देखे जाते हैं । रसेल की दृष्टि में ऐसे प्रश्नों का अध्ययन ही फिलॉसफी (Philosophy) का विषय है ।

रसेल (Russell) का मानना है कि विज्ञान (Science) के अनुसार जो कुछ जाना जा सकता है वह बहुत थोड़ा है । और अगर यह भुला दिया जाय कि हम कितना नहीं जान सकते तो हम अपने को ऐसी बहुसंख्य वस्तुओं के प्रति असंवेदनशील हुआ पाते हैं, जो हमारे लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण होती हैं । दूसरी ओर उनके लिये ईश्वर-मीमांसा या धर्मविज्ञान (Theology) हमें मताग्रही प्रतीति (dogmatic belief) की ओर अभिप्रेरित (induce) करती है, जहाँ हमें अज्ञानता के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता है । फलतः हम सृष्टि या ब्रह्माण्डीय समष्टि के प्रति असंगत विचारों को धारण कर लेते हैं और अनिश्चितता से घिरे रह जीवन व्यतीत कर लेते हैं । ऐसे समय में दुःखदायी आशा-निराशा के हिचकोले और भय के बीच हमारा सहारा मात्र परिकथा (Fairy tales) ही रह जाती है । यह हमारे लिये कभी शुभ नहीं होता कि 'फिलॉसफी' (Philosophy) के प्रश्नों से विमुख होकर इस भ्रम में रह जायँ कि हमने उनके असंदिग्ध या सुनिश्चित उत्तर खोज लिये हैं । **रसेल का मानना है कि फिलॉसफी (Philosophy) हमें अनिश्चितता में जीते हुए भी गतिरोधों से स्तम्भित न होने की शिक्षा देता है ।**

रसेल (Russell) के अनुसार ग्रीस (यूनान) में ईश्वरमीमांसा या धर्मविज्ञान (Theology) से अलग फिलॉसफी (Philosophy) का विकास ईशापूर्व छठी शताब्दी (Sixth century B.C.) में हुआ था । ईशाईयत (Christianity) के अभ्युदय और रोम के पतन के बाद यह फिर से धर्मविज्ञान से प्रभावित हो गया ।

रसेल (Russell) महोदय का मानना है कि ईशाईयत ने एक महत्त्वपूर्ण विचार को प्रश्रय दिया था; और, वह था– 'मनुष्य का राज्य के प्रति उत्तरदायित्व की अपेक्षा ईश्वर के प्रति का उसका उत्तरदायित्व अधिक अनिवार्य है ।'' सुकरात एवं धर्मप्रचारकों ने इसे ही इस रूप में रखा– ''हमें मानवीय आदेशों की अपेक्षा ईश्वरीय आदेशों का अनुपालन अधिक तत्परता से करना चाहिए । रसेल का मानना है कि आगे यही उपर्युक्त विचार चर्च और राजा के बीच के संघर्ष का कारण बना ।

मध्ययुगीन यूरोप में राजनीतिक सिद्धान्त के अधीन यह मान्यता प्रमुख बनी कि सब शक्तियों का स्रोत ईश्वर से ही उत्पन्न होता है । वही पोप को पवित्रता अर्थात् धार्मिक शक्तियाँ और राजा को धर्मनिरपेक्ष शक्तियाँ प्रदान करता है।

ध्यातव्य है कि मध्ययुगीन यूरोपियन फिलॉसफी अपनी सुस्पष्टता में भी अपने समय की पहचान बनने के बदले मात्र एकपक्षीय विचारधारा का प्रतीक बनकर रह गया था ।

चर्च और राज्य (State) से प्रभावित पाश्चात्य फिलॉसफी (Philosophy) धर्मविज्ञान या ईश्वरमीमांसा (Theology) से कभी अलग नहीं हो सका । चर्च की स्थिति का ज्ञान देते रसेल कहते हैं– "कैथोलिक चर्च की उत्पत्ति तीन स्रोतों (Soources) से हुई थी । इसका धार्मिक (Sacred) इतिहास यहूदी (Jewish) था; ईश्वरमीमांसा या धर्मविज्ञान यूनानी (Greek); और शासन तथा अधिनियम अप्रत्यक्षरूप से रोमन थे । सुधारान्दोलन (Reformation) ने रोमन तत्त्वों को अस्वीकार किया, यूनानी (Greek) तत्त्वों को नम्रता और यहूदी तत्त्वों को अधिक प्रबलता प्रदान की ।

कैथोलिक धर्मसिद्धान्त (doctrine) में दिव्य प्रकाशना का अन्त धर्मग्रन्थ (Scripture) के साथ नहीं होता, वरन् चर्च के माध्यम से युग-युगान्तर तक चलता रहता है । इस तरह वहाँ व्यक्ति का कर्तव्य था कि वह अपना व्यक्तिगत विचार प्रस्तुत करे । दूसरी ओर प्रोटेस्टेन्ट ने चर्च को दिव्य प्रकाशना का माध्यम मानने से अस्वीकार किया और सत्य को बाइबल (Bible) में खोजे जाने की प्रमुखता दी । इसके अनुसार व्यक्ति अपने लिये बाइबल की व्याख्या कर सकता था । अगर व्यक्तियों में मतभेद हुआ तो वहाँ उसके निदान के लिये ईश्वरीय रूप में कोई भी प्राधिकृत नहीं था । ऐसी स्थिति में राज्य ही इस अधिकार का उपयोग कर सकता था । निश्चिततः पूर्वकाल में यह कार्य चर्च के द्वारा निष्पादित होता था, किन्तु यह तो एक अनाधिकार था । प्रोटेस्टेण्ट सिद्धान्त में सोल (Soul) और ईश्वर (God) के बीच कोई सांसारिक मध्यस्थ नहीं हो सकता । निस्सन्देह इसका प्रभाव राजनीति में अराजकतावाद की और 'धर्म' (Religion) में रहस्यवाद की उत्पत्ति के रूप में देखने को मिलता है । इसका फलाफल प्रोटेस्टेण्टों के अनेक सम्प्रदायों में बँटने में हुआ । जितने सम्प्रदाय उतने ही उनके दर्शन या 'फिलॉसफी' (Philosophy) के रूप ।

स्पष्ट है कि रसेल की दृष्टि में 'फिलॉसफी' ईश्वर-मीमांसा से प्रारम्भ होकर विज्ञान पर समाप्त होता है । 'ईश्वर-मीमांसा' धर्म विज्ञान का विषय है । इस तरह वहाँ 'धर्म' का मूल तत्त्व जहाँ ईश्वर है वहाँ धर्म और विज्ञान में परस्पर संघर्ष (conflict) भी है । इस तरह 'फिलॉसफी' ईश्वरमीमांसा और साइन्स के बीच होने से दोनों में से न तो किसी एक का वरण कर पाता है; और न ही दोनों के बीच परस्पर समन्वय करा पाता है । ध्यातव्य है कि रसेल स्पष्टतः

फिलॉसफी को धर्म और विज्ञान के बीच की अवान्तर अर्थात् स्वामीहीन क्षेत्र के रूप में देखते हुए दोनों के ही तरफ से उस पर आक्रमण होते रहने की बात करते हैं।

वस्तुतः, रसेल (Russell) जहाँ **'धर्म' को सामाजिक संसक्ति (Social Cohesion) का कारण मानते हैं, वहाँ 'विज्ञान' (Science) को वैयक्तिक स्वतंत्रता का कारण** । वस्तुतः, इस आधार पर ही यूरोपीय राजनैतिक इतिहास, 'चर्च' (Church) और राज्य (State) के पारस्परिक संघर्ष से सदैव प्रभावित होता रहा है । रसेल (Russell) की निम्नलिखित उक्ति इस का ही साक्ष्य है– Social cohesion and individual liberty, like religion and science, are in a state of conflict or uneasy compromise throughtout the whole period" (ibid p. 15) विज्ञान का यह पाश्चात्यरूप निरी वैयक्तिकता में संलग्न रहकर सदैव से सामाजिक संसक्ति के प्रति उदासीन रहता रहा है ।

फिर, प्रोटेस्टेण्टों के इस कथन ने कि आत्मा (Soul) और ईश्वर (God) के बीच कोई पार्थिव मध्यस्थता नहीं होनी चाहिए (There should be no earthly intermediary between the soul and God) ने जहाँ धर्म (Religion) को रहस्यवाद की राह दिखायी, वहाँ उसने राजनीति को अराजकतावाद की ओर ढकेल दिया । रसेल (Russell) के शब्दों में– **Truth was no longer to be ascertained by consulting authority, but by inward meditation. There was a tendency, quickly developed, towards anarchism in politics, and in religion towards mysticism.** (ibid p. 20)

प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय (Sects) के सन्दर्भ में रसेल (Russell) लिखते हैं– "There came to be not one protestantism, but a multitude of sects; not one philosophy opposed to scholasticism, but as many as there were philosophers; not, as in the thirteenth century, one Emperor opposed to the Pope, but a large number of heretical kings. **The result, in thought as in literature, was a continually deepening subjectivism, operating at first as a wholesome liberation from spiritual slavery, but advancing steadily towards a personal isolation inimical to social sanity.** (ibid p. 20)

* * * * *

"With subjectivism in philosophy, anarchism in politics goes hand in hand." (ibid)

* * * * * *

"Subjectivity, once let loose, could not be confined within limits until it had run its course." (ibid)

सबजेक्टिभिज्म (Subjectivism) के सन्दर्भ में ही रसेल (Russell) लिखते हैं– "The eighteenth-century cult of 'sensibility' began to break it down; an act was admired, not for its good consequences, or for its conformity to a moral code, but for the emotion that inspired it." (ibid, p. 20)

The romantic movement, in art, in literature, and in politics, is bound up with this subjective was of judging men, not as members of a community, but as aesthetically delightful objects of contemplation." (ibid, p. 21)

रसेल इसकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं– "Tigers are more beautiful than sheep, but we prefer them behind bars. The typical romantic removes the bars and enjoys the magnificent leaps with which the tiger annihilates the sheep. He exhorts men to imagine themselves tigers, and when he succeeds the results are not wholly pleasant. (ibid p. 21).

रसेल इसकी आधुनिक प्रतिक्रिया के सन्दर्भ में लिखते हैं– "Against the more insane forms of subjectivism in modern times there have been various reactions. First, a half-way compromise philosophy, the doctrine of liberalism, which attempted to assign the respective spheres of government and the individual. This begins, in its modern form, with Locke, who is as much opposed to 'enthusiasm'– the individualism of the Anabaptists– as to absolute authority and blind subservience to tradition. A more thorough going revolt leads to the doctrine of State worship, which assigns to the State the position that Catholicism gave to the Church, or even sometimes, to God.

रसेल (Russell) विचारकों और उनके विचारण की ओर देखते हुए लिखते हैं– Hobbes, Rousseau, and Hegel represent different phases of this theory, and their doctrines are embodied practically in Cromwell, Napoleon, and modern Germany. Communism, in theory, is far removed from such philosophies, but is driven, in practice, to a type of community very similar to that which results from state worship (ibid, p. 21)

उपर्युक्त वर्णित स्थितियाँ स्पष्टतः ईश्वरमीमांसा या धर्मविज्ञान (theology) की प्रमुखता को ही प्रदर्शित करती हैं। चर्च आज भी किसी-न-किसी रूप में स्टेट

(State) या राज्य को प्रभावित करता आ रहा है । विज्ञान (Science) और फिलॉसफी (Philosophy) आज भी न्यूनाधिक धर्मविज्ञान के पक्षधर या विरोधी रूप में कार्यरत हैं । रसेल (Russell) के शब्दों में देखे– Throughout this long development, from 600 B.C. to the present day, philosophers have been divided into those who wished to tighten social bonds and those who wished to relax them... The disciplinarians have advocated some system of dogma, either old or new, and have therefore been compelled to be, in a greater or less degree, hostile to science, since their dogmas could not be proved empiricaly." (ibid)

ऐसी परिस्थिति में ऐसे विचारकों (Philosophers), जो धर्मविज्ञान (Theology) के समर्थक हैं, के लिए कोई दूसरा रास्ता भी नहीं रह जाता कि, वे अपने को सही सिद्ध करने के लिये सुख-शान्ति या औचित्य (Happiness or fitness) के स्थान पर श्रेष्ठता या कुलीनता (nobility) और वीरता (heroism) को महत्त्व देते । इसे ही रसेल (Russell) के शब्दों में देखें– "They have almost invariably taught that happiness is not the good, but that 'nobility' or 'heroism' is to be preferred. They have had a sympathy with the irrational parts of human nature, since they have felt reason to be inimical to social cohesion. The libertarians, on the other hand, with the exception of the extreme anarchists, have tended to be scientific, utilitarian, rationalistic, hostile to violent passion, and enemies of all the more profound forms of religion. (ibid, p. 21-22)

रसेल (Russell) महोदय का मानना है कि यह संघर्ष ग्रीस में तथाकथित फिलॉसफी (Philosophy) के अभ्युदय के पूर्व भी था और आद्यतम (earliest) ग्रीक विचारधारा में भी स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है । बदलते रूप के साथ भी यह विचार आज तक बना रहा है और आगे भी बना रहेगा इसमें सन्देह नहीं । रसेल के शब्दों में देखें– "This conflict existed in Greece before the rise of what we recognize as philosophy, and is already quite explicit in the earliest Greek thought. In changing forms, it has persisted down to the present day, and no doubt will persists for many ages to come. (ibdi, p. 22)

रसेल का मानना है कि सामाजिक समन्वय या सामाजिक संसक्ति (Social Cohesion) एक अनिवार्यता है; किन्तु मात्र बौद्धिक ऊहापोह से यह सम्भव नहीं हो सका है । इसका कारण वे एक ओर जहाँ कठोर सामाजिक अनुशासन और परम्परा के प्रति श्रद्धा को मानते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे विदेशी विजय (Foreign

Conquest) के कारण होनेवाले दबाव के साथ व्यक्तिवादिता और वैयक्तिक स्वतंत्रता की भावना के उदय को भी इसका कारण मानते हैं। ये तत्त्व समाज में पारस्परिक सहकारिता की भावना को असम्भव बना जाते हैं। रसेल की उक्ति में देखें– "Every community is exposed to two opposite dangers : ossification through too much discipline and reverence for tradition, on the one hand; on the other hand, dossolution, or subjection to foreign conquest, through the growth of an individualism and personal independence that makes cooperation impossible. (ibid, p. 22)

बर्ट्रैण्ड रसेल (Bertrand Russell) ने अपनी उपर्युक्त विचारणा को सामान्यीकरण का जो रूप दिया है उसे पुनः उन्हीं के शब्दों में देखें– "In general, important civilization start with a rigid and superstitious system, gradually relaxed, and leading, at a certain stage, to a period of brilliant genius while the good of the old tradition remains and the evil inherent in its dissolution has not yet developed. But as the evil unfolds, it leads to anarchy, thence, inevitably, to a new tyranny, producing a new synthesis secured by a new system of dogma.

अपनी उपर्युक्त पंक्तियों में रसेल प्रमुख सभ्यताओं की उत्पत्ति, विकास और पतन की चर्चा करते हैं। उनका विचार है कि सभ्यताएँ दुर्नम्य (rigid) एवं अन्धविश्वासी (Superstitious) प्रणाली के रूप में प्रारम्भ होती हैं और धीरे-धीरे उदार (relax) होते हुए मार्गदर्शक के रूप में परिणत होती हैं। शुभ-प्रतिभा (Genius) देदीप्यमान होती है। उसका अशुभ रूप दबा रहता है। परन्तु अतिशय कठोरता जिस तरह विरोध को जन्म देती है, उसी तरह अतिशय उदारता भी अराजकता और बिखराव की स्थिति उत्पन्न कर जाती है। इस तरह दो अतियों के बीच डोलती सभ्यता नये-नये मतों में जीने को बाध्य होती है।

रसेल (Russell) का मानना है कि उपर्युक्त दोलन (oscillation) से त्राण पाने की कोशिश हमें उदारतावाद (liberalism) की ओर ले लाती है, जिसमें सामाजिक व्यवस्था का आधार अविवेकी मतान्धता (irrational dogma) न होकर, समुदाय (Community) की सुरक्षा और उसके स्थायीत्व को बनाये रखने के लिये अपेक्षित प्रतिबन्धन या आत्मसंयम की भावना होती है। रसेल के शब्दों में– "The doctrine of liberalism is an attempt to escape from this endless oscillation. The essence of liberalism is an attempt to secure a social order not based on irrational dogma, and insuring stability without involving more restraints than are necessary for the preservation of the community." (ibid, p.22)

उपर्युक्त विवरण से हमने तथाकथित पाश्चात्य 'फिलॉसफी' (Philosophy) को एक ओर ईश्वरवादी धर्मविज्ञान और दूसरी ओर विज्ञान के बीच की अवान्तर भूमि (No man's Land) के रूप में रखे जाने की बात जानी है। वहाँ इनके बीच किसी विकासक्रम को नहीं देखा गया है। 'फिलासफी' को सभ्यता की उत्पत्ति और विनाश के बीच में उसके उत्थान की अवधि को देखते हुए उसके स्थायीत्व की चिन्तना के रूप में देखा गया है, किन्तु स्वयं ईश्वर-मीमांसा या धर्मविज्ञान और विज्ञान या दर्शन के बीच संघर्ष के अतिरिक्त किसी भी अन्य तरह के सम्बन्ध को खोजने का प्रयास नहीं किया गया है।

इस तरह आद्यतम (earliest) पाश्चात्य विचारणा में वस्तु की वास्तविकता को देखने का प्रयास तो किया गया है किन्तु उसके कारण को देखकर उसकी वास्तविकता को समझने और उसकी पारमार्थिक उपयोगिता को जानकर परमार्थ को समझने की कोशिश नहीं की गयी है। उदारता की सीमा को तो देखा गया है किन्तु उसके सीमांकन का मार्ग नहीं खोजा या देखा जा सका है।

वस्तुतः, पाश्चात्यीय चर्चगत धार्मिक राजनीति और विज्ञान के बीच 'फिलॉसफी' को स्वतन्त्र जीवन जीने का कभी कोई अवसर नहीं मिला है। आज भी वह राजनीति और विज्ञान के फिलॉसफी को समझने-समझाने का तो प्रयास करता है किन्तु स्वयं 'फिलॉसफी' के फिलॉसफी को देखने का प्रयास नहीं करता। 'दार्शनिक' जगत् के विस्तार से अनजान पाश्चात्य जगत् 'दर्शन' को जान सकने में असमर्थ ही रहता रहा है।

भारतीय दर्शन के अनुसार विकासशील या वृद्धिशील जागतिक सृष्टि में हर जागतिक अवयव की स्थिति एक मध्यस्थानी की ही होती है। गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव गुरुत्वाकर्षण की सीध में ही वास्तविक स्थैर्य को स्थान देता है। फिर भीड़ में व्यक्ति अपने को प्रथम या अन्तिम रूप में देख भी नहीं सकता। सृष्टि के गुरुत्व-केन्द्र के आकर्षण-क्षेत्र में पलता-बढ़ता व्यक्ति अपने पूर्णत्व में शक्तिरूप ही होता या हो सकता है; क्योंकि शक्ति शक्ति से ही क्रियाशील या कार्यकारी हो सकती है। शक्तिमान् अपने 'शक्ति-शक्त' के शक्तिगतरूप में ही कार्यकारी होता है। भारतीय आर्ष दर्शन से पहले कोई 'दर्शन' नहीं रहा हो ऐसा नहीं हो सकता। पशुता से 'मानव' का विकास, वस्तुतः, जीवन-दर्शन के उद्भव और विकास की कहानी कहता है। प्राणरूप जीवन प्राणरूप मानवी चिन्तना में ही उद्भासित और मानवीय वाङ्मय द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। वेद के मन्त्रों के साथ हमें मानव-इतिहास की जो रूपरेखा मिलती है वह एक उदात्त दर्शन-काल के अस्तित्व से हमारा परिचय

कराती है । व्यक्ति का मानवीयरूप, वस्तुतः, उसका दार्शनिक रूप है । एक व्यक्ति के रूप में जीता व्यक्ति ऐन्द्रियक जीवन ही जी रहा होता है । 'मन' की सुसुप्तता में इन्द्रियों की बन आती है । व्यक्ति का दार्शनिक जीवन, वस्तुतः, मन के जागरण के बाद ही प्रारम्भ होता है । 'मन का जागरण', वस्तुतः, 'मन के संयमन' का पर्याय है, जिसमें इन्द्रियाँ भी मन के अधीन हो 'धृति' और 'कृति' के समन्वय में कार्यशील होती हैं । 'दमो धर्मः सनातनः' कहकर, वस्तुतः, मानवधर्मा व्यक्तित्व के सनातन अभ्युदय की ही बात कही गयी है । ऐन्द्रियक जाल में फँसा व्यक्ति 'पशु' और 'असुर' हो सकता है, 'मानव' नहीं हो सकता । 'धर्म' को 'नर' अर्थात् मानव का विशेष गुण कहा गया है– **आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् । धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनां पशुभिः समाना ॥** (हितापदेशः)

चाणक्य ने इसे ही व्यक्ति पर आरोपित करते हुए लिखा है– **येषां न विद्या न तपो न दानं न चापि शीलं न गुणो न धर्मः । ते मृत्युलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥**

इस तरह आर्ष दर्शन में 'धर्म' जहाँ मनःसंयमन से सन्दर्भित है, वहाँ आर्षेतर दर्शन में धर्म को आचार से सम्बद्ध कर दिया गया है ।

'धर्म' शब्द के लिये अंग्रेजी पर्याय 'रिलिजियन' (Religion) और 'दर्शन' के लिये 'फिलॉसफी' (Philosophy) है । अब हम इनका आर्ष दर्शन में 'धर्म' और 'दर्शन' के रूप में अध्ययन करेंगे ।

आर्ष दर्शन में समन्वय (harmony) को महत्त्व दिया गया है । समन्वय में बन्धुत्व अथवा 'मिथुन' की पूरकता पर बल दिया गया हे । ऋग्वेद की मन्त्रोक्ति है– **मित्राय पञ्च येमिरे जना अभिष्टिशवसे । स देवान्विश्वान्विभर्त्ति ॥** (ऋ० 3.59.8)

'मित्रता' या 'बन्धुत्व' समन्वयपरक पद हैं । 'समन्वय' कार्यकारी पूर्णता का द्योतक है । 'समन्विति' सत्ता का सत्य है । 'सत्ता' आन्तरिक और 'समन्विति' कार्यकारिता का सत्य है । 'सत्ता' कारणरूप और 'समन्विति' कार्यरूप के लिये सत्य हैं । 'कारण' और 'कार्य', दोनों की ही पूर्णता के उद्घोषक वृहदारण्यक उपनिषद् की इस उक्ति को देखें– **ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥** (वृ.उप. 5.1.1)

सन्दर्भित ऋग्वेदीय मंत्र (3.59.8) में आया पद **पञ्च येमिरे**, वस्तुतः, पञ्च प्राणं के समन्वय का सूचक है । 'पञ्चप्राण' का समन्वय जहाँ 'योग' या

'यौगिक कार्य' का साधक है वहाँ वह पञ्च ज्ञानेन्द्रियों की समन्विति में पञ्चकर्मेन्द्रियों की कार्यकारिता की नियन्त्रक-शक्ति भी है। शक्ति ही शक्ति की उत्प्रेरणा का कारण बनती है। 'शक्ति' से ही शक्तिगत कार्यसृष्टि का उद्भव तथा विकास होता है। आर्ष दर्शन में कारणरूप 'शक्ति' का विकास कार्यरूप सृष्टि में और कार्यरूप सृष्टि का रूपान्तर कारणरूप शक्ति में क्रमशः 'सृष्टि' और 'प्रलय' के रूप में अवधारित है। इसके साथ ही कारणरूप शक्ति की निरपेक्षता और कार्यरूप सृष्टि की सापेक्षता भी वहाँ अवधारित है। ऋग्वेदीय मंत्र (10.129.2) **आनीदवातं स्वधया तदेकं** का **तदेकं** (तत् एकम्) और **सतो बन्धुमसति** (मंत्र- 4 अंश) क्रमशः इनके ही साक्ष्य हैं। औपनिषदिक **पूर्णमदः**, वस्तुतः, शक्ति की कारण-अवस्था है। आर्ष दर्शन में यह अपनी प्रतिबन्धित अवस्था (Restricted stage) अथवा सुप्तावस्था (dorment) में तत् रूप से तथा कार्यकारी अवस्था में यह सत्-असत् में बन्धुवत् विभेदित रूप से अवधारित है। सत् और असत् में विभेदित शक्ति, क्रमशः और वस्तुतः, अपने 'शक्त' और 'शक्ति'-रूप से ध्यातव्य और ज्ञातव्य हुई है।

शक्ति अपने शक्तिरूप में चाक्षुष् दृष्ट नहीं। शक्ति का वस्तुगत (Material) रूप ही चाक्षुष् दृष्टिगत होता है। छान्दोग्य उपनिषद् ने अपने षष्ठम् एवं सप्तम् अध्याय में ध्यान-विज्ञान-ज्ञान आदि की विशद चर्चा की है। तत् के ज्ञान से ही पारमार्थिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। तत्त्वमसि का ज्ञान ही पारमार्थिक अर्थात् परमार्थसत्य के ज्ञान का कारण बनता है।

वस्तुतः, एक के ज्ञान से सबका ज्ञान प्राप्त करना ही आर्ष दर्शन का मंतव्य है। तत्त्वमसि का ज्ञाता ही आत्मज्ञानी या आत्मवेत्ता अर्थात् तत् या सः का ज्ञाता हो सकता है। शास्त्र, विद्या और विज्ञान से 'नाम' का ही ज्ञान होता है, आत्मज्ञान का ज्ञान नहीं होता। छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम् अध्याय (खण्ड-एक, मन्त्र-3) में नारद की स्पष्टोक्ति है- **सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छुतं** अर्थात्, हे भगवन्! मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ। भाष्यकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार ही है- **तस्मात्सोऽहं मन्त्रवित्कर्मविदेवास्मि कर्मकार्यं च सर्वं विकार इति विकारज्ञ एवास्मि नात्मविन्नात्मप्रकृतिस्वरूपज्ञ इत्यर्थः।** (पृ० 717)। अर्थात् मैं मन्त्रवेत्ता अर्थात् कर्मवेत्ता ही हूँ, कर्म का कार्य ही सारा विकार है; अतः मैं विकारज्ञ ही हूँ, आत्मज्ञ अर्थात् आत्मारूप प्रकृति (कारण) के स्वरूप को जाननेवाला नहीं हूँ।"

भाष्यकार ने यहाँ 'प्रकृति' पद से 'कारण' का अर्थ लिया है। 'कर्म' को कारक रूप में लेते हुए भाष्यकार ने उसे 'क्रिया' के लिये 'कर्म' को उसके 'कार्य'

का साधन माना है। इस तरह कर्मरूप 'कारक' (क्रिया + कारित्व) का परिणामदायी 'कार्य', वस्तुतः, 'क्रिया' की कार्यकारिता का ही पारिणामिक रूप सिद्ध होता है। परिणामतः, उपनिषद् ने 'नाम' को जानने के लिये 'वाक्' की उपासना को महत्त्वपूर्ण माना है। इसी तरह उसने क्रमशः मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, आशा, प्राण, सत्य, विज्ञान, मति, श्रद्धा, निष्ठा, कृति, सुख, भूमा तक की स्थिति को महत्त्वपूर्ण, उपास्य और विजिज्ञासितव्य कहा है।

ध्यातव्य है कि उपनिषद् ने 'नाम' से लेकर 'आशा' तक के लिये उपास्स्वेति कहा है; 'प्राण' को पिता, माता, भ्राता, स्वसा (बहन), आचार्य और ब्राह्मण कहते हुए उसकी शक्तिगतता का परिचय इस प्रकार दिया है– **प्रणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वंसमर्पितम्। प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति। प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः।** अर्थात् प्राण ही आशा से बढ़कर है। जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में अरे समर्पित रहते हैं उसी प्रकार इस प्राण में सारा जगत् समर्पित है। प्राण प्राण (अपनी शक्ति) के द्वारा गमन करता है; प्राण प्राण को देता है और प्राण के लिये ही देता है। प्राण ही पिता है; प्राण ही माता, प्राण भाई है; प्राण बहिन है, प्राण आचार्य है और प्राण ही ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ है।" (छा०उप०पृ० 767-68)। भाष्यकार ने कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् के सन्दर्भ से लिखा है– "जिस प्रकार रथ के अरों में नेमि अर्पित है और रथ की नाभि में अरे अर्पित हैं इसी प्रकार यह भूतमात्रा प्रज्ञामात्रा में अर्पित हैं और प्रज्ञामात्रा प्राण में अर्पित है। प्राण ही प्रज्ञात्मा है।" **तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितो नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा।** (कौ०उ० 3.8; छा०उप०, पृ० 769)

'प्राण' से भी आगे 'सत्य' के ज्ञान की अपेक्षा की गयी है। 'सत्य' निश्चिति का द्योतक है। सर्वांगीण रूप से देखता, अनुभव करता, मनन और युक्तिसङ्गतरूप से चिन्तन करता हुआ एक प्राणवेत्ता ही किसी निश्चिति तक पहुँचता है। और, सच तो यह है कि एक प्राणवेत्ता ही उपपत्तियों से संयुक्त यह वाक्य कह पाता है– यह ऐसा ही है (एवमेवेति)। भाष्यकार का निष्कर्ष है– **मननविज्ञानाभ्यां हि सम्भूतः शास्त्रार्थो निश्चितो दृष्टो भवेत्।** अर्थात् "मनन और विज्ञान के द्वारा निष्पन्न हुआ शास्त्र का अर्थ निश्चित देखा जाता है।" (छा०उप०पृ० 772)। 'नीति' का शास्त्र इस रूप में ही निर्मित होता है।

नाम से आशा तक को 'उपास्य' कहती उपनिषद् 'प्राण' की महत्ता को समझाने के बाद 'सत्य' को विजिज्ञासितव्य मानती है। फिर, सत्य को जानने के लिये वह सत्य के विज्ञान को जानने की बात करती है। सत्य के विज्ञान में मनन और 'मनन' में श्रद्धा, श्रद्धा में निष्ठा, निष्ठा में कृति, कृति में सुख और सुख में भूमा की अवधारणा को देखती-दिखाती उपनिषद् 'पारमार्थसत्य तत्त्व' से हमारा परिचय कराती है।

यहाँ हमारे समक्ष जहाँ धर्म-कर्म की स्थिति स्पष्ट होती है, वहाँ भूमा संज्ञक आनन्दरूप मोक्षज्ञान की भी स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

'सत्य का विज्ञान', वस्तुतः, 'धर्म' और 'कर्म' की संयुक्ति या समन्विति के रूप में ही 'विजिज्ञासितव्य' हो पाता है। 'धर्म' (धृ + मन्) उस मन की धृति है, जिसमें ज्ञानेन्द्रियाँ संयमित-भाव से मन के लिये कार्य करती हैं। और 'कर्मन्' (कृ + मनिन्), वस्तुतः, मनःधृति में निर्धारित कर्मण्य कर्म का उत्पादनरूप 'कृति' है। 'कृति' की व्याख्या भाष्यकार ने– **यदा वै करोति। कृतिरिन्द्रियसंयमश्चित्तैकाग्रताकरणं च।** (छा०उप०, 7.21)– कहकर की है।

कृति (कृ + क्तिन्) अर्थात् 'कार्य', 'अनुष्ठान', 'करनी', 'उत्पादन', 'रचना' आदि। 'कृति' के लिये मन और कर्मेन्द्रियों का संयमन अपेक्षित है। स्पष्ट है कि किसी भी पारमार्थिक सत्य-कृति के लिये निष्ठा, श्रद्धा, विवेक (मति) और विज्ञान या विजानन की अपेक्षा होती है।

उपनिषद् की उपर्युक्त व्याख्या हमें प्राणवेत्ता बनने को प्रेरित करती है। एक प्राणवेत्ता के लिये जहाँ नाम, वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल (ज्ञानबल), अन्न, जल, तेज आकाश, स्मरण और आशा की उपासना की अनिवार्यता होती है, वहाँ उसके अर्थात् प्राणवेत्ता के लिये सत्य तक पहुँचने के लिये परमार्थ अर्थात् सत्य-विज्ञान के पथ पर आगे बढ़ना अनिवार्य हो जाता है। 'परमार्थसत्य-विज्ञान' का ही पर्याय है 'आत्मविज्ञान' या 'अध्यात्म'। 'सत्य' के ज्ञान के लिये, वस्तुतः, 'सत्य' की उपासना अर्थात् सत्य की विजिज्ञासा करनी होती है। विजिज्ञासा 'विज्ञान' का विषय है। सत्य के विज्ञान के ज्ञान से ही कृति के सुख की प्राप्ति होती या हो सकती है। इस विज्ञान के विजानन के ही अङ्ग हैं– मति, श्रद्धा, निष्ठा, कृति और सुख या आनन्द। आनन्द ही भूमा है; क्योंकि आनन्द की असीमता और अनन्तता स्वयंसिद्ध है। 'आनन्द' अल्पता का विषय नहीं, भूमा अर्थात् वृद्धिशीलता का विषय है।

यहाँ हमें तथाकथित आत्मा के विज्ञान को जानने की प्रेरणा मिलती है। हमने देखा कि परमार्थसत्य का विज्ञान ही 'आत्मा का विज्ञान' है; और, इसमें मन की 'धृति' और 'कृति' की सम्यक् समन्विति अपेक्षित है । 'धृति' नियन्त्रण का पर्याय है और 'कृति' की सम्यक् समन्विति अपेक्षित है । 'धृति' नियन्त्रण का पर्याय है और 'कृति' कार्य-उत्पादन का पर्याय । 'धृति' में ज्ञानेन्द्रियों का नियन्त्रण वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के लिये होता है; और कार्य-उत्पादन में कर्मेन्द्रियों का उपयोग नियन्त्रित मन की नियन्त्रिति में होता है । स्पष्ट है कि 'मन' दोनों ही स्थितियों में अनिवार्यतः क्रियाशील होता है । मनुस्मृति ने उभयेन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों रूप में उसकी गणना की है– **एकादशं मनोज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्। यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ।** (मनु 2.92)

'प्राण' ही अगर प्रज्ञात्म है तो वह ज्ञान से सन्दर्भित है । इस अर्थ में यह उक्ति प्राण-वाक् मिथुन की अवधारणा में सम्पुष्ट होती है । भाष्यकार का कथन है– "अतः वह यह अपरतन्त्र प्राण प्राण से अर्थात् अपनी शक्ति से ही गमन करता है । तात्पर्य यह है कि गमनादि क्रियाओं में जो इसकी सामर्थ्य है वह किसी अन्य कारण नहीं है । **अतः स एष प्राणोऽपरतन्त्रः प्राणेन स्वशक्त्यैव याति नान्यकृतं गमनादिक्रियास्वस्य सामर्थ्यमित्यर्थः । सर्वं क्रियाकारकफलभेदजातं प्राण एव न प्राणाद्बहिर्भूतमस्तीति प्रकरणार्थः ।** (छा०उ०पृ० 769) ।

इस तरह 'प्राण' का रूप, 'क्रिया+कारित्व = अर्थ के रूप से, शक्ति+शक्त= शक्तिमान् का अर्थ देते हुए ज्ञान-कर्म की समन्विति सिद्ध होता है । इस रूप में वह 'मन' का पर्याय सिद्ध होता है । 'मन' को सम्पूर्ण जागतिक अर्थात् ब्रह्माण्डीय सृष्टि का कारण कहा गया है । ऋग्वेदीय मन्त्रोक्ति इसे इस तरह प्रस्तुत करती है– **कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्यां कवयो मनीषा ॥**

स्पष्ट है कि सम्पूर्ण कार्यकारी शरीरतन्त्र शक्तिरूप है । अपने कार्यकारीरूप में वह 'शक्तिमान्', 'अर्थ', 'परिणाम' या 'कार्यरूप' सिद्ध होता है । वह अपने-आपमें साधक भी है और साधन भी, साध्य तथा सिद्धि भी वही है । प्राण ही प्राण का उपास्य है; प्राण ही प्राण के लिये ज्ञेय है; प्राण ही प्राण के लिये सत्य और विजिज्ञासितव्य है । प्राण ही दृष्टि है, प्राण ही दृश्य और प्राण ही द्रष्टा । प्राण ही, इस तरह, प्राण के लिये विज्ञेय है। 'ऋषि' प्राण के रूप में ही प्राणरूप 'क्रियाकारित्व-अर्थ' का द्रष्टा है । ऋषि, इस तरह, वेद-मन्त्रों के रचयिता नहीं, वरन् द्रष्टा या साक्षात्कर्ता

हैं। **ऋषयोः मन्त्रद्रष्टारः**। इस रूप में ही ऋषि को 'क्रिया' का द्रष्टा भी कहा गया है। **द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः**। इस रूप में ही ऋषि-दृष्टि स्वयं क्रियारूप होती है; क्योंकि क्रिया ही क्रिया को देख सकती है। वेद-मन्त्रों के 'देवता', वस्तुतः, 'कार्यनिर्वाहक शक्ति' अर्थात् 'कार्यकारी क्रियाशक्ति' के रूप में निरूपित होते हैं। अपने कार्यनिर्वाहक शक्ति के रूप में सब देवता ब्रह्मरूप अद्वैत तथा मन्त्र देव-क्रिया के व्याख्याता हैं। आर्ष दर्शन, इस तरह, अद्वैत का द्रष्टा है, बहुदेवतावाद का उपासक नहीं है। ऋषियों का यह 'अद्वैत' उनसे इतर भी नहीं, स्वयं उनका स्वरूप है। यह एक ऐसी स्थिति है, जिसमें ऋषि 'द्रष्टा' के रूप में 'दार्शनिक'; वस्तुस्थिति के विज्ञाता के रूप में 'वैज्ञानिक', और वस्तुस्थिति की सहितकारी (स-हितकारी) अर्थात् परमार्थसत्य के व्याख्याता के रूप में कवि और मनीषी हैं।

उपर्युक्त विवरण हमें प्राणयुक्त शरीर को उस शिवःरूप में देखने को बाध्य करता है, जो शक्तिविरहित होकर शवरूप हो जाता है। **शक्त्या विरहितः शक्तः शिवः कर्त्तुं न किञ्चन**। 'शिव' को ही 'शक्तिमान्', 'ईश्वर' तथा 'महेश्वर' आदि रूपों में देखा गया है। 'शक्तिमान्' के तदेकं एवं उसके विकसित सतो बन्धुमसति रूपों की अनदेखी करते आर्षेतर दर्शनों ने अपने को 'दर्शन' से ही दूर कर लिया है। 'दर्शन' की वास्तविकता से अलग हुए आर्षेतर दर्शनों ने अपने को मात्र वैचारिक सम्प्रदाय का रूप दे दिया है। 'दर्शन', जहाँ **दृश्यते अनेन इति दर्शनम्** अर्थात् 'जिसके द्वारा देखा जाय' का अर्थ छोड़कर **सम्यक् प्रदीयत इति सम्प्रदायः** का रूप ले चुका है। फिर, सम्प्रदाय भी अपने इस अर्थ से अर्थात् गुरु-परम्परा से जो सम्यक् रूप से चला आ रहा है और गुरु जिसमें शिष्य को सम्यक् रूप से मन्त्र, आराध्य, आराधना-पद्धति तथा आचार-पद्धति प्रदान करता है के आधार पर सम्प्रदाय संज्ञक न रहकर धर्म बन गया है।

सम्प्रदाय का उपर्युक्त विवरण स्पष्टतः **आचारः परमो धर्मः** के अनुकूल होता हुआ धर्म का रूप लेता और सामाजिक अस्वीकृति के कारण कालान्तर में विलुप्त होता जाता है। शैक्षिक जगत् को छोड़ हम आज दर्शन का नाम भी नहीं लेते, विभिन्न दर्शनों के नाम और रूप को जानने की बात को तो छोड़ ही दें। आज हम जनसामान्य के जीवन-स्तर को ऊपर उठाने के राजतन्त्र की कार्यशीलता की बात तो करते हैं; किन्तु जीवन की मूल समस्याओं को वैश्विक और नैत्यिक स्तर पर देखने, परीक्षण करने और निर्णय देने की ओर देखते भी नहीं। 'सम्प्रदाय' दर्शन का आधार नहीं होता। 'क्रिया का द्रष्टा' 'अर्थ-क्रियाकारित्व की समन्वित पूर्णता को देखता है।

मन की धृति में वह वास्तविक संसार और शक्तिगत संसार के सम्बन्ध को देखता तथा धृत मन की कृति में वैश्विक परमार्थसत्य को परिणामित करता है । उसका 'धर्म' आचारः परमो धर्मः न होकर दमो धर्मः सनातनः के रूप में व्याख्यायित होता है । दमो धर्मः सनातनः, वस्तुतः, 'दर्शन' का मूल मन्त्र है । यह धर्मदृष्टि या क्रियादृष्टि ही है, जो क्रियाशक्ति की अद्वैतता अर्थात् आनीदवातं स्वधया तदेकं को सतो बन्धुमसति के रूप में प्रत्यक्ष कर सकने में समर्थ होती है । आचारिक धर्म युग-आचार अथवा सम्प्रदायगत आचार का सम्पोषक हो सकता है, वैश्विक दर्शन का कारण या रूप नहीं हो सकता ।

'धृतिं' और 'कृति' की सम्यक् समन्विति में जीते जीवन्त जीवन का द्रष्टा दर्शन ही आज वैश्विक दर्शन का रूप हो सकता है, कोई सम्प्रदायगत दर्शन वैश्विक दर्शन नहीं हो सकता । 'वेद' का दर्शन आज भी प्रासंगिक है; क्योंकि वह समन्वय में पूर्णता को और पूर्ण में समन्विति को देखता है । शक्ति की अविनश्यता और रूपान्तरणीयता का द्रष्टा वैदिक दर्शन कभी अपनी निश्चितदर्शिता और क्रान्तदर्शिता से अलग नहीं रहा ।

'धर्म', इस तरह, जहाँ परमार्थसत्य के प्रत्यक्षण या साक्षात्करण का कारण है, वहाँ वह परमार्थकृत्य 'कृति' का भी कारण है । 'मोक्ष' आनन्दस्वरूप है । ऐसी स्थिति में दमो धर्मः सनातनः से सन्दर्भित धर्म से ही ज्ञान और कर्म का परमार्थसत्य उजागर हो पाता है, आचारः परमो धर्मः वाले धर्म से नहीं । 'धर्म' मन और इन्द्रियों के संयमन का कारण है । इसके माध्यम से ही आचारिता निश्चित होती है । आचारिता के लिये नीति और नियम बनते हैं । नियम के अनुपालन के लिये दण्ड और दाण्डिक का विधान होता है । दण्ड और दण्डिक के विधान में राज्यसत्ता का उद्भव स्वतः राजा में ही ईश्वर और धर्मरूप को आरोपित कर देता है । 'दर्शन' के मूल सम्प्रत्यय अपने अर्थ छोड़ देते हैं; और, सत्ता-निर्धारित नियम ही 'दर्शन' और 'धर्म' का रूप ले लेता है । 'दर्शन' और 'धर्म', 'धृति' और 'कृति', 'मन' और 'शरीर', 'सत्' और 'असत्' 'आत्म' और 'अध्यात्म' जैसे प्रत्यय अपने अर्थ में दिशाविहीन हो जाते हैं । अज्ञानता के कारण अन्धभक्ति और अन्धविश्वास जड़ पकड़ लेता है । परमार्थ का अर्थ बदला जा कर दूसरों की स्वार्थपूर्ति का आधार मान लिया जाता है ।

हमने बर्ट्रेण्ड रसेल (Bertrand Russell) के विचारों को भी ऊपर के वर्णन में देखा है । 'दर्शन' को हम 'फिलॉसफी' की तरह ईश्वरमीमांसा या धर्मविज्ञान और विज्ञान के बीच में 'नो मैन्स लैण्ड' (No Man's Land) के रूप में नहीं देख

सकते । 'दर्शन' को हमने परमार्थसत्य की निश्चितिं के द्रष्टा के रूप में देखा है; और इस रूप-में वह जीवन-सृष्टि का द्रष्टा-विज्ञाता और व्याख्याता सिद्ध होता है ।

वैदिक वाङ्मय, उपलब्ध वाङ्मय में सबसे पुराना है । क्या होली बाइबल (Holy Bible) और 'पवित्र कुरान' के आदेश भी उतने ही पुराने हैं ? अगर हैं तो इनके आद्य वाङ्मय आज उपलब्ध नहीं । किन्तु, इतना सत्य तो अवश्य है कि राजकीय सत्ता और तथाकथित धार्मिक सत्ता के बीच वैज्ञानिक सत्य का आदर कभी नहीं रहा । वैज्ञानिक सत्य मानवीय दर्शन की ओर ले जाता है, जबकि आचारिक धर्म और राजनैतिक सत्य किसी-न-किसी रूप में साम्प्रदायिकता या बाजार का आँचल थामे रह जाते हैं । वे परमार्थसत्य को स्वीकार नहीं कर पाते । परमार्थसत्य पर चल पाना उनके लिये असम्भव हो जाता है । राजनीतिक और धार्मिक संगठन अपने-आपमें अन्धभक्ति और अन्धविश्वास के सहारे जीवित रहते हैं । इनकी दृष्टि में मानवता नहीं, साम्प्रदायिकत्ता या बाजार महत्त्वपूर्ण होते हैं । साम्प्रदायिकता कट्टरता को जन्म देती है और कट्टरता आतंक का कारण बनती है । बाजार मानवीय मूल्य को समाप्त करता है ।

भारतीय आर्ष दर्शन अपने-आपमें विज्ञानाधारित होने से मानवीय आधार पर वैश्विक दर्शन का रूप प्रस्तुत करता है । वहाँ न तो अन्धभक्ति दिखती है और न ही अन्धविश्वास । क्रिया का द्रष्टा 'ऋषि' क्रिया की निरपेक्षता में क्रिया की असीम वृद्धिशीलता और अनन्तरूपधारिता, का साक्षात्कार करता है । **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः; द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः; क्रिया पश्यति हि क्रियाः; साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो बभूवुः** आदि की व्याख्या इसी रूप में होती या हो सकती है ।

'दर्शन' शब्द 'फिलॉसफी' की तरह ज्ञानानुराग या तार्किक संशयों का उत्तर देने का शास्त्र मात्र नहीं; और न ही वह विज्ञान से दूरी बनाकर रखता है । 'दर्शन' अपनी निश्चितदर्शिता में क्रियापुरुषरूप उस आत्मा को देखता है, जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय है । अन्नमय की स्थूलता में क्रमशः व्याप्त सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होते प्राण, मन, विज्ञान की कार्यकारिता अन्ततः सूक्ष्मतम आनन्द को प्राप्त होती है । यह आनन्द या भूमा ही अपनी स्वतन्त्रता में अनन्त और असीमरूप से वृद्धिशील है । 'मोक्ष' इसी आनन्दमय स्वतन्त्रता का पर्याय है । परमार्थसत्य मानवीय सहितकारिता का सत्य है और वही आनन्दप्रद है । आर्ष दर्शन अपनी मूल अवधारणाओं से ही व्याख्येय है; और, वह क्रियाशक्ति के हर रूप को देख सकने के कारण मानवीय जीवन को देख और समझ सकने में समर्थ है ।

वस्तुतः, 'दर्शन' क्रिया का द्रष्टा है और वह उसकी अविनश्यता को देखने के साथ-साथ उसके हर विकास को देखता है । वह महाप्रलय के अनीदवातं स्वधया तदेकं को भी देखता है और कवयो मनीषा के रूप में कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् (वही 4) को देखते हुए सतो बन्धुमसति को भी अपेन हृदय में झाँककर देखता है । आर्ष दर्शन में 'दर्शन' के लिये 'धर्म', 'विज्ञान' और साहित्य क्रमशः देखने, विंजिज्ञासा करने तथा अभिव्यक्ति के साधन हैं। अभिव्यक्ति में विचारण, उच्चारण और आचरण तीनों का समन्वय होता है । ऋग्वेद अपने सांशयिक प्रश्न से ही उसे स्पष्ट करता है– को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आवभूव ॥ इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ (ऋ० 10.129.6-7)।

यहाँ 'वेद', वस्तुतः, साक्षत् कृत ज्ञान या प्रत्यक्षदर्शिता या साक्षात्करण का बोधक है । 'वेद' के ऋषि द्रष्टारः हैं, 'कर्तारः' या 'स्रष्टारः' नहीं । 'अद्धा' पद का पर्याय 'प्रकटतः', 'स्पष्टतः', 'निस्सन्देह' आदि है; और 'आजाता' का अर्थ है– 'आविर्भूत होना' ।

स्पष्ट है कि मन्त्रद्रष्टा अर्थात् ऋषि, कः वेद ? कः प्रवोचत् ? कुतः आजातः ? कुतः इयं विसृष्टः ? कः वेद यत आवभूव ? वेद यदि वा न वेद? –जैसे दार्शनिक एवं सांशयिक प्रश्नों के द्वारा अपने साक्षात्कृत ज्ञान को सुनिश्चित करता है । सूक्त के अन्तिम दोनों मन्त्र स्पष्ट करते हैं– महाप्रलय में 'तत्रूप' क्रिया (शक्ति), जो कार्यविस्तार के लिये प्रतिबन्धित (Restricted) थी मन के प्रथम रेत या कामरूप वीर्य के द्वारा क्रियाशील हुई । शक्ति की क्रियाशीलता के लिये आवश्यक था कि 'शक्ति' के साथ 'शक्त' का समन्वय हो । इसके पूर्व ऋषि तत्रूप शक्ति को आनीदवातं स्वधया के रूप में प्रत्यक्ष कर चुका होता है । यह 'स्वधया', वस्तुतः, 'शक्त' की आहूति का निदर्शन करता है । ऋषि ने सृष्टिकालीन स्थिति में 'तत्' से सत्-असत् को बन्धुवत् विसृष्ट या विकसित होते देखा है । विसृष्टि, वस्तुतः, 'विकास' का द्योतक सिद्ध होता है; क्योंकि अविनश्य 'शक्ति' का रूपान्तरण होता है; उत्पादन नहीं होता । 'तत्' का रूपान्तरण सत्-असत् में होता है । वस्तुतः, 'तत्' असत्रूप में ही महाप्रलय में अव्यक्त रूप से अस्तित्वमान् रहता है । विशुद्ध शक्तिरूप होने से वह कार्यविस्तारक नहीं रह जाता । कार्यविस्तारक शक्ति में 'शक्ति' और 'शक्त' क्रमशः असत् और सत् के रूप में समन्वित होते हैं । 'सत्' का

कारित्वरूप भी महाप्रलय में विशुद्ध शक्ति (Pure Energy) में बदलकर कार्य के लिये प्रतिबन्धित या सुसुप्त हो जाता है। कार्यकारी शक्ति को आर्ष दर्शन में 'मन' कहा गया है । –मनसो रेतः । कहते हैं खण्ड प्रलय में 'मन' का कार्यकारी रूप अर्थात् 'सत-असत्' समन्वितरूप अस्तित्वमान् रहता है; किन्तु महाप्रलय में 'सत्' का द्रव्यात्मक अर्थात् 'कारित्वरूप' क्रियारूप में रूपान्तरित होकर उसकी कार्यकारी शक्ति को प्रतिबन्धित कर देता है।

इस तरह ऋग्वेद-वर्णित सृष्टि का रचयिता क्रियापुरुष उपर्युक्त सम्पूर्ण दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर दे सकने में समर्थ है । **वेद यदि वा न वेद** का उत्तर स्पष्टतः 'वेद' के रूप में आता है ।

आधुनिक विश्व 'शक्ति' (Energy) और द्रव्य (matter) को एक मानने को मजबूर हुआ है, तो मात्र आईन्स्टीन के 'सापेक्षता के सिद्धान्त (Theory of Relativity) के प्रकाशन के बाद । इसके पूर्व द्रव्य और शक्ति को अलग-अलग पहचान दी गई थी । किन्तु आर्ष दर्शन ने तो सृष्टि के शक्तिरूप को बहुत पहले ही देखा और जाना था ।

आर्ष दर्शन की अवधारणा में 'तत्त्व' (तत्+त्व) और सत्त्व (सत्+त्व), वस्तुतः सत् और असत् के समन्वय में कार्यविस्तारक सृष्टि के विकास का कारण बनते हैं। तत्त्व क्रियात्व और सत्त्व कारित्व की पहचान बनते हैं । क्रिया-कारित्व की कार्यकारिता को हम क्रमशः आयन (ion) के ऋणात्मक और धनात्मक वैद्युतिक आवेश के क्रियात्मकरूप से समझ सकते हैं । अव्यक्त और अमूर्त क्रियात्व की अभिव्यक्ति 'कारित्व' की रूपात्मकता में होती है । अव्यक्त और अमूर्त होने से 'क्रियात्व' असत् से और रूपात्मक होने से 'कारित्व' सत् से निरूपित किया गया है। सत्-असत् अपने बन्धुत्व ('तत्' से विकसित होने के कारण) में, एक दूसरे के पूरक होने के कारण, अपनी पारस्परिक समन्विति में कार्यविस्तारक कार्यरूप धारण करते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि और उसके सब अवयव कार्यरूप होने से, क्रियात्व-कारित्व की समन्विति अर्थात् कार्यकारी शक्तिरूप सिद्ध होते हैं। यही एक आद्वैतिक आधार है, जो आर्ष दर्शन को सार्वभौम और सार्वकालिक बनाता है ।

(धृ+मन्) रूप 'धर्म' अर्थात् दमो धर्मः दृष्टिरूप लेता हुआ क्रिया का द्रष्टा बनने से शाश्वतरूप लेता है । वह युगपरिवर्तन से प्रभावित आचारिक धर्म की तरह युग प्रभावित नहीं होता । स्मृतियाँ व्यवस्थापरक स्थिति में अपने को, व्यावहारिकता के नाम पर, श्रुति के विपरीत ले जातीं हुई स्वयं मानव को उसकी मानवता

(मननशीलता) से दूर ले जाती हैं । मनुस्मृति और पराशर स्मृति के ये मन्त्र इसके साक्ष्य हैं– अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे । अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासनुरूपतः ॥ (मनु० 1.85 पराशर स्मृ० 22) । श्रुति की व्यावहारिकता (पुरुष सूक्त के कर्मसमन्वय) को अपनी दृष्टि से ओझल करती स्मृति ने कर्मसमन्वय को तोड़कर वर्ण या जाति-कर्म का रूप दे दिया है । मनुस्मृति की इन उक्तियों को देखें– सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः । मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्॥ अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्यनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ (मनु० 1.87-91)

ध्यातव्य है कि आर्ष दर्शन, वस्तुतः, मूल तत्त्व का अन्वेषक है; और, वैज्ञानिक विधि के अनुरूप ही वह उस तत्त्व का अन्वेषण करता है । चाक्षुष् दृष्ट को मनो ऐन्द्रियक समन्वय में देखता 'दर्शन', 'फिलॉसफी' (Philosophy) की राह से अलग अपनी वैज्ञानिक अन्वेषणा और गवेषणा में मानवीय सृष्टि के मूल तत्त्व तक पहुँचता है और उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता है । 'दर्शन' मात्र दर्शन नहीं वरन् दृष्ट की पूर्ण व्याख्या और उसके परमार्थसत्य का उद्घाटक भी है, 'फिलॉसफी' का मात्र ज्ञानानुराग नहीं । 'दर्शन' का 'ज्ञान', वस्तुतः, परतम के परमार्थकारी रूप का व्यावहारिक ज्ञान है ।

आर्ष दर्शन, वस्तुतः, 'योग' और 'यज्ञ' की वैज्ञानिकता का द्रष्टा तथा परमार्थसत्य का व्याख्याता है । 'योग', वस्तुतः पञ्चप्राण और पञ्चज्ञान का समन्वय तथा 'यज्ञ' इनकी सहायता से पञ्चकर्म का सफल प्रयोग है । इस तरह 'योग' और 'यज्ञ', वस्तुतः, ज्ञानमय कर्म और कर्म-सम्पुष्ट ज्ञान के निरूपक हैं । यही कारण है कि 'योग' और 'यज्ञ' दोनों ही कर्मशु कौशलम् के रूप में परिभाषित हुए हैं ।

स्पष्ट है कि अर्ष दर्शन क्रिया का द्रष्टा होने के कारण क्रिया के हर रूप और व्यवहार का साक्षात्कृत द्रष्टा-ज्ञाता-व्याख्याता है । यही कारण है कि ऋषि को क्रान्तदर्शी, निश्चितदर्शी, मनीषी (मनीषिन्) और कवि कहा गया है ।

ऋषियों की दृष्टि में 'दर्शन' जीवन के जीवन्तरूप का द्रष्टृत्व है । वह जीवन के कारण को देखता-जानता तो है ही, साथ ही वह कार्य की पारमार्थिक सत्यता को भी देखता-जानता है । कारण के रूपों और फलित कार्य की पारमार्थिक

सत्यता को देखता-जानता है । कारण के रूपों और फलित कार्य की पारमार्थिक सत्यता को देखता-जानता ऋषि जहाँ आधुनिक वैज्ञानिक तथ्यों से पूर्णतः अवगत है, वहाँ वह परमार्थसत्य के ज्ञाता के रूप में आधुनिक विज्ञान से भी कोसों आगे निकल जाता है ।

आधुनिक रसायनज्ञ जब 'तत्त्व' के अंग्रेजी पर्याय एलेमेण्ट (Element) को "the basic substances which build up chemical compounds" के रूप में परिभाषित करता है तब वह ऋषि-दृष्टि 'तत्त्व' (तत्+तु+अ) के सत्-असत् रूप को ही देख रहा होता है । आर्ष दर्शन ने क्रिया के द्रष्टा के रूप में, वस्तुतः, शक्ति के नियम (Law of Energy), जिसे आधुनिक विज्ञान प्रकृति का नियम (Law of Nature) कहता है, को 'ऋत' के रूप में देखा-जाना है ।

आधुनिक दर्शन, वस्तुतः स्मार्त दर्शन का अनुकरण है । स्मृति राज्यपरक व्यवस्था को महत्त्वपूर्ण मानती है और उसके सम्पोषक के रूप में हर वह वैचारिक सहयोग प्रदान करती है, जो उसकी शक्तिं को वृद्ध करती है, चाहे वह विचार कितना ही अवैज्ञानिक अथवा स्वयं दर्शन-विरोधी क्यों न हो । ऋग्वेदीय मन्त्रोक्ति सतो बन्धुमसति के विरुद्ध छान्दोग्य उपनिषद् की इस उक्ति को देखें– कुतस्तु खलु सोम्यैवंस्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ (छा०उप० 6.2.2)

भाष्यकार ने 'असत्' से 'अभाव' का और 'सत्' से 'भाव' का अर्थ लिया है । फिर 'भाव' से 'होने' का और 'अभाव' से 'न होने' का अर्थ लिया गया है । इस तरह प्रकारान्तर से वहाँ 'सत्' और 'भाव' से सत्य का तथा 'असत्' और 'अभाव' से असत्य का अर्थ लिया गया है । 'तत्' और असत् की अव्यक्तता और सत् की व्यक्तता के कारण पर ध्यान नहीं दिया गया है । ग्रिफ्फिथ (Ralph T.H. Griffiith) ने ऋग्वेद के अपने अंग्रेजी अनुवाद में सतो बन्धुमसति का अर्थ "Existent's Kinship in the non-existent" के रूप में किया है । स्पष्ट है कि वहाँ 'सत्' से existent (एक्जिसटेण्ट) और 'असत्' से नन-एक्जिसटेण्ट (non-existent) का अर्थ लिया गया है । इस तरह के अर्थ से 'दर्शन' की धारा ही उलट दी गयी है ।

'शक्ति' और 'शक्त' के अस्तित्व का द्रष्टा ऋषि शक्ति की सत्रूपता को शक्तरूप से और 'असत्' को शक्तिरूप से देखता है । फिर वह 'भाव' को क्रियारूप (शक्तिरूप) और 'अभाव' को 'शक्तरूप (कारित्वरूप) से देखता है । 'शक्ति' और 'शक्त' अथवा 'भाव' और 'अभाव' अथवा 'क्रिया' और 'कारित्व' रूपों को परस्पर

एक दूसरे का पूरकरूप से देखता आर्ष दर्शन पूर्णतः वैज्ञानिकरूप से दार्शनिक प्रश्नों का जबाव देता है ।

आर्ष दर्शन का चरम लक्ष्य आनन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति है । और, वह उसे वैयक्तिक पुरुषार्थ के अधीन मानता है । 'पुरुष' को वह द्रष्टा और नियन्ता पुरुष के रूप में देखता है । उसका यह पुरुष 'धृ+मन' रूप अर्थात् धर्म-पुरुष है । 'अर्थ' धृत मन का यथार्थ अर्थात्, 'क्रिया-कारित्व' के समन्वय का परिणामरूप है । 'काम' उसके लिये 'मन का प्रथम वीर्य' अर्थात् कामना है । और 'मोक्ष' कामना की पूर्ति है । वीर्य कार्यविस्तार के कारण का और 'मोक्ष' अर्थरूप कार्य-विस्तार का निरूपक है । यही परमार्थसत्य है; और इसी की प्राप्ति आनन्दघन या मोक्ष की प्राप्ति है ।

'आत्मन्' (अत्+मनिन्) रूप से अगर हम देखें तो आर्ष दर्शन दमो धर्मः सनातनः के 'धृ+मन्-रूप' धर्म से प्रारम्भ होकर 'मति' (मन्+क्तिन) द्वारा वास्तविक विवेचन और आत्मन् स्तर पर सार्व और ब्रह्म (बृंह्+मनिन्) के स्तर पर परमार्थसत्य की विवेचना के परिणामस्वरूप असीम आनन्द की प्राप्ति के रूप में परिभाषित होती है । इसे ही आत्मा के पाँच कोषों अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय रूप में देखें तो स्थूल अन्नरूप प्राणमय शरीर का मनोमय मंनन और विज्ञानमय विजानन आनन्द की प्राप्ति का साधन बनता दीखता है । स्पष्ट है कि आर्ष दर्शन जीवन से दूर नहीं वरन्, जीवन की यथार्थता का वास्तविक द्रष्टा-विज्ञाता है । 'यथार्थता' परमार्थसत्य का पर्याय है ।

इस तरह 'धर्म', जहाँ दर्शन की आँखें हैं वहाँ 'दर्शन' अभिव्यक्ति का कारण। इस तरह 'धर्म' और 'दर्शन' क्रमशः क्रिया के द्रष्टा एवं व्याख्याता हैं । 'कार्य' की क्रियारूपता का ज्ञान ही दर्शनपरक 'ज्ञान' (Knowledge) है । यह 'ज्ञान' परमार्थसत्य को देखता-जानता है, मात्र विषयपरक ज्ञान नहीं रह जाता । यहाँ विषयवस्तु का परमार्थसत्य उजागर हो जाता है । ऋग्वेद ने इस ज्ञान की चर्चा अनेकविध की है । उसकी कुछ मन्त्रोक्तियों को देखें– उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा ॥ उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वयन्त्यापि वाजिनेषु । अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्माम् ॥ (ऋ० 10.71.4-5) । ऋचो अक्षरे परमे व्योमन यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति या इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥ (ऋ० 1.164.39) । चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो

गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (ऋ० 1.164.45-46) ।

वस्तुतः, क्रिया-कारित्व की समन्विति अर्थात् सृष्टि, में क्रियापरक कार्य का ज्ञाता ही क्रिया के परमार्थरूप को जानकर वह सब कुछ पा सकता है, जिसकी उसे अपेक्षा होती है । और, वह प्राप्तकर्ता कोई और नहीं मात्र मननशील मानव ही हो सकता है । 'ज्ञान', वस्तुतः, 'क्रिया+कारित्व=अर्थ' की समष्टि के ज्ञान के रूप में परिभाषित है । यह ज्ञान 'धृ+मन्' अर्थात् **दमो धर्मः सनातनः** के माध्यम से ही प्राप्य है; क्योंकि यहाँ धर्म ज्ञानमय कर्म और कर्मसम्पुष्ट ज्ञान का कारण बना होता है । 'योग' और 'यज्ञ' की समन्विति में ही परमार्थसत्य की प्राप्ति हो पाती है । **योगः कर्मशु कौशलम्, यज्ञः कर्मशु कौशलम्** आदि उक्तियाँ 'ज्ञान' और 'कर्म' के समन्वय से प्राप्त परमार्थसत्य को धर्म-दृष्टि से ही देखे जा सकने की बात करती हैं ।

परमार्थसत्य की प्राप्ति ही मोक्ष है; क्योंकि परमार्थसत्य ही शुभ है; वही कार्य का कार्यकारी ब्रह्म है । 'तुरीयं'-रूप से 'मनुष्यजा' को कार्यविस्तारक ब्रह्म कहा गया है । फिर मनुष्य की आभिव्यक्तिक ध्वनि (वैखरी) को भी ब्रह्म ही कहा गया है । और इस रूप में ही यह सम्पूर्ण सृष्टि भी ब्रह्मरूप ही है । 'इन्द्र' अपने तुीरयरूप में ब्रह्म है; और 'मन' इन्द्ररूप से ब्रह्म है । 'ब्रह्म' ही 'ब्रह्म' का कारणरूप भी है और कार्यरूप भी ।

'ऊँ'– रूप ब्रह्म के चार पादों में चौथा पाद निर्गुण ब्रह्म है । और यही सगुण ब्रह्म का कारणरूप है । 'क्रिया' की निर्गुणता और निर्विकारिता ही सर्वत्र व्याप्त है। और वही पूर्ण है । 'धृति' और 'कृति' उसके ही स्वभाव हैं । अपनी धृति और कृति में ही 'धर्म' ज्ञान है, कर्म है और कार्य भी है । 'सत्' स्वयं में सगुण नहीं । जबतक निर्गुण अव्यक्त असत् उसमें व्याप्त न हो, वह सगुण नहीं होता । सगुणता उसे अनेकता अर्थात् विभिन्नरूपता प्रदान करती है । अपनी इसी अनेकरूपता से 'आत्मा' ब्रह्म और सार्व का प्रतीक है ।

'तुरीय', कार्यरूप से अभिव्यक्त होता हुआ, 'कारण' को ही उद्भासित और महिमान्वित करता है । कारण और कार्य के इस सामन्वयिक ज्ञान से ही वैश्विक संरचनात्मक ज्ञान को जाना जा सकता है । और, इस वैश्विक संरचनात्मक ज्ञान के सहारे परमार्थसत्य को प्राप्त करते हुए ही आनन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ।

ईशवास्य उपनिषद् इससे ही हमें इस रूप में परिचय कराती है– **विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ (ईश० 11)**

'असत्' को जाने बिना 'सत्' की सगुणता को नहीं समझा जा सकता। 'सगुणता' से अलग सगुण का कैसा अस्तित्व ?

'असत्' की अव्यक्तता उसे 'अनस्तित्व' नहीं बनाती, वरन् उसकी अव्यक्त निर्गुणता उसे नित्य बना जाती है। गुण का ग्राही सत् (द्रव्यपरक) सगुण होता हुआ नित्य-अनित्य (Infinite-finite) का रूप धारण करता है। 'द्रव्य' की रूपान्तरणीयता उसे शक्तिरूप में रूपान्तरण को बाध्य करती है। 'गुण' अपने-आपमें व्यक्त नहीं होता, अव्यक्त रहता है। 'गुण' क्रियापरक अर्थात् शक्तिरूप है। 'सत्-असत् का अभेदित रूप महाप्रलयकालीन 'तत्' है।

'तत्', वस्तुतः, सत्-असत्' का अभेदितरूप है। 'सत्' स्वधारूप से आहूत होने से असत्रूप धारण करता हुआ असत् से अभेदित हुआ रहता है। सिसृक्षा के कारण 'तत्' सत्-असत्रूप में इनके ही समन्वयन से कार्यकारी होता है। सत्-असत् के विभेदन में 'तत्रूप मन' की सिसृक्षा 'कामरूप' सिद्ध होती है। 'सत् और असत्' दोनों के समन्वय से सत्त्व, सत्य या सत्तारूप कार्यकारी शक्ति, 'मन' का अवतरण होता है, जो देवरूपों में 'सत्' के कारकत्व से कार्यकारी रूप धारण करता है।

'आनीदवातं स्वधया तदेकं'; 'कामस्तदग्रे'; 'मनसो रेतः प्रथमं'; 'सतो बन्धुमसति'; 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्त्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम ॥ आदि पद एवं मन्त्रोक्ति इसे ही सिद्ध करते हैं। ऐतरेय उपनिषद् इसे ही सम्पुष्ट करती है– **पुरुषो वाव सुकृतम्।**

देवता कार्यनिर्वाहक शक्ति होने के कारण ज्ञान और कर्म दोनों के कारण हैं। 'मन' सबका कारण होने से सब देवताओं का इन्द्ररूप राजा है। सब देव उसके लिये कार्य करते हैं। 'मन' की धृति में 'धर्म' ज्ञान का कारण और उसी धृत मन की कृति में कर्म का संज्ञापन होता है। धृत मन ही मति, आत्मा और ब्रह्मरूपों में कार्यकारी होता हुआ शुभ-कार्य के रूप में अभिव्यक्त होता है। 'धर्म' आचरण नहीं, आचरण-निर्धारण का कारण है। फिर, धर्म (धृ+मन्) द्वारा निर्धारित कृति भी शुभ ही होती है। शुभ कृत्य कर्म से परिणामित 'कृति' ही शुभ होती है। यहाँ न तो ज्ञान गौण (Secondary) है और न कर्म; क्योंकि दोनों का कारण 'धर्म' (धृ+मन्) है। और जहाँ तक मोक्ष की बात है, वह तो ज्ञान-कर्म के समन्वय से ही उत्पन्न होता है, और वही परमार्थसत्य का निरूपण करता हैं।

आर्षेतर दर्शन में आचार को ही धर्म मानने से सारी त्रुटियाँ उत्पन्न हुई हैं। ऐसे में धर्म, कर्म, ज्ञान और मोक्ष के सन्दर्भ से बेतुके प्रश्न उठने लगते हैं। 'सत्' कारित्वरूप या कारकत्वरूप में क्रियारूप ही है। संचित क्रिया ही क्रिया की

कार्यकारिता को रूप प्रदान करती है । द्रव्य (matter) संचित क्रिया (शक्ति) है। ईश्वर या ब्रह्म कार्यकारी शक्ति है, जो मनोधृति और मनोकृति की समन्विति में निवसित दीखती है । समन्बय में प्रधान-गौण का कोई प्रश्न नहीं उठता ।

'विश्व' बाजार नहीं; और न ही मानव-व्यक्ति मात्र उपभोक्ता सामग्री है । 'मानव' अपनी मननशीलता में जीवन्त होने से स्वयं में स्वयं का अर्थप्रदायी है । उसे अपने अर्थ के लिये किसी दूसरे 'अर्थ' (धन) की अपेक्षा नहीं । वह नियामक है, विनिमयन की सामग्री नहीं । आर्ष दर्शन स्वरूपतः मानव दर्शन है। इसे अपनाकर विश्वस्तरीय दर्शन को कारगार बनाया जा सकता है । आज की प्रासंगिकता में इस दर्शन से अलग कोई दूसरा दर्शन नहीं हो सकता । विश्व-दर्शन को विश्वस्तरीय प्रत्ययों से ही व्याख्यायित या परिभाषित किया जा सकता है । निष्पक्ष निश्चिति अर्थात् परमार्थसत्य का ज्ञान विश्वस्तरीय दर्शन के लिये अनिवार्यतः अपेक्षित है । और, 'धृ+मन्' रूप धर्म अर्थात् **दमो धर्मः सनातनः** का स्वरूप ही ऐसे विश्वस्तरीय दर्शन का मार्गदर्शक हो सकता है । आज साम्प्रदायिक सद्भाव के लिये **दमो धर्मः सनातनः** ही अपेक्षित नियन्त्रक दर्शन (Philosophy) के रूप में विश्व के सामने है ।

दर्शन जीवन का द्रष्टा-ज्ञाता-व्याख्याता है । द्रष्टा दार्शनिक की आँखें अगर 'धृ+मन्' रूप धर्म न हो तो वह दार्शनिक या निश्चितदर्शिन् हो ही नहीं सकता । 'धर्म' ईश्वर से नहीं, स्वयं 'मानव-मन' या 'मन-मानव' से सम्बद्ध है । मोक्ष ईश्वर की प्राप्ति में नहीं, वरन् स्वयं सुहृद ईश्वर बनने में है । 'मोक्ष' मृत्यु में नहीं, वरन् दम से नियन्त्रित कृति की सुफलमय सफलता की प्राप्ति में है । दर्शन का धर्म-अर्थ काम-मोक्ष क्रिया-संसार का अङ्ग है, उससे अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं । यही कारण है कि वह क्रिया-पुरुष का पुरुषार्थ है । कार्यपुरुष के लिये यह पुरुषार्थ तभी सार्थक होता है जब वह क्रियापुरुष को समझने-जानने और देखने के लिये तत्पर होता है । सामान्यतः वह कार्यपुरुष इन्द्रियों के अधीन भटकता ही रहकर इनके अर्थ को जानने और लाभ लेने की कोशिश भी नहीं कर पाता । गीता में श्रीकृष्ण इसी के सन्दर्भ में कहते हैं–

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ (गी० 7.3)



आर्ष दर्शन के कुछ प्रत्यय

लेखिका– श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा
संकलनकर्ता– शचीन्द्र

(1) दर्शन :

'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति 'दृश्' धातु में ल्युट् प्रत्यय जोड़ने से हुई है। भ्वादिगण परस्मैपद में 'दृश्' धातु पश्यति और दृष्ट का अर्थ देता है। इस रूप में 'दृश्' धातु का अर्थ होता है– देखना; अवलोकन करना; समीक्षा करता; निरीक्षण करना; सम्मान करना; दर्शन करना; मन से दृष्टिगोचर करना; सीखना; समझना; अनुसन्धान करना; निश्चय करना, अन्तर्ज्ञान की दिव्य दृष्टि से देखना। कर्म वाच्य में इसका अर्थ होता है– दिखाई देना; मिलना। प्रेरणार्थक रूप में इसका अर्थ है– किसी को कोई चीज देखने के लिये प्रेरित करना; संकेत करना; सिद्ध करना; प्रदर्शन करना। इच्छार्थक रूप में अर्थ है– देखने की इच्छा करना।

'दर्शन' शब्द का अर्थ, इस तरह, है– प्रत्यक्ष या साक्षात्कृत रूप से जानना, विवेक, गुण, यज्ञ।

दृश्यते यथार्थतया वस्तु पदार्थज्ञानमिति दर्शनम् कहकर 'दर्शन' को परिभाषित किया गया है। इसके अन्तर्गत 'तत्त्व-ज्ञानसाधक' शास्त्र आते हैं।

सूक्ष्मतः तत्त्व (तत् + त्वत्), वस्तु का क्रियापरक अंश या अवयव है और वह अपने-आपमें अव्यक्त किन्तु अनुभूति का विषय है, अनस्तित्व (Non-existent) का नहीं; वह भावपरक (क्रियापरक) है, अभावपरक (कार्यपरक) नहीं। इसमें सत्-असत् दोनों ही तत् रूप ही होते हैं। [तत्+(तु+अ)] इसके विपरीत 'सत्त्व' में [सत्+(तु+अ)] दोनों अवयव साथ होते हैं। यही कारण है कि 'तत्त्व' मीमांसा का और सत्त्व विज्ञान के अन्वेषण का विषय है।

क्रिया-कारित्व असत्-सत् के रूप में ऋग्वेद द्वारा बन्धुवत् कहे गये हैं। दूसरे शब्दों में सत्-असत् दोनों ही शक्ति के रूपान्तर हैं। शक्तिरूप होने से दोनों की समन्वितिरूप, 'परिणाम' या 'कार्य', भी शक्तिगत ही सिद्ध होता है। आर्ष दर्शन में सम्पूर्ण सृष्टि शक्ति का व्यक्त रूप है। शक्ति अपनी इस व्यक्तता में ही व्यक्तिरूप दृष्टिगत होती है। शक्ति का व्यक्तिगत रूप ही कार्यकारी होता है। शक्ति का

अव्यक्त रूप कारणरूप तथा व्यक्तरूप कार्यरूप कहा गया है । शक्ति + शक्त = शक्तिमान्, भी इसे ही सिद्ध करता है । क्रियापरक असत् (शक्ति) कारित्वपरक 'सत्' (शक्त) से समन्वित होकर कार्यकारी सत्ता (शक्तिमान्) का रूप लेता है ।

दर्शन अपने व्युत्पत्यार्थ में 'क्रिया' का द्रष्टा और अन्वेषक है । 'दर्शन', वस्तुतः, क्रियाशक्ति का विज्ञाता है । असत् रूप क्रियाशक्ति सत्‌रूप कारित्व शक्ति को कार्यकारी रूप देता है । इस तरह शक्ति (energy), वस्तुतः, वस्तु की कार्य करने की क्षमता सिद्ध होती है । आधुनिक भौतिकशास्त्री शक्ति को इसी रूप में परिभाषित करते हैं– Energy is the capacity of a body for doing work" It is measured by the total work the body can do under the circumstances (position, configuration, or motion). It is convenient to divide or recognise energy into Kinetic energy (energy of motion) and potential energy (stored energy). Energy has been recognised as tiny matter and matter as a storage of energy.

यहाँ यह स्पष्ट होता है कि 'द्रव्य' (matter) का कार्यकारीरूप, वस्तुतः, उसके द्रव्यत्वरूप क्रियाशक्ति के कारण है, जिसके बिना स्वयं शक्ति कोई भी कार्य नहीं कर सकती । 'कार्यकारी शक्ति', वस्तुतः, क्रिया और कारित्व शक्ति की समन्विति होती है । 'शक्ति' का रूपान्तरण और समन्वयन, वस्तुतः, कार्य की प्रकृति के अनुसार होता है । 'प्रकृति', वस्तुतः, क्रिया का ही कार्यकारी रूप है । इस तरह 'प्रकृति के नियम' (Law of Nature) के बदले हमें 'शक्ति के नियम' (law of Energy) पद का व्यवहार करना चाहिए ।

दर्शन अपने द्रष्टृत्व में, वस्तुतः, इसी शक्ति का द्रष्टा-विज्ञाता है; और शक्ति के अपने इस विजानन से ही वह परमार्थ सत्य को देख और समझ सकने में समर्थ है ।

इस तरह आर्ष दर्शन 'शक्ति' के द्रष्टा के रूप में कारण और कार्य दोनों को देखता तथा जानता है । आर्ष दर्शन इस अर्थ में मध्य युगीन, आइन्स्टाइन से पूर्व के पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान से अलग सिद्ध होता है कि वह 'द्रव्य' और 'क्रिया' (शक्ति) को शक्तिगतरूप से बन्धुस्वरूप अर्थात् शक्तिरूप ही देखता और जानता है।

वस्तुतः, दार्शनिक चिन्तन की विभिन्न धाराओं की चर्चा करते आज के विचारकसहित आर्षेतर विचारक यह भूलते हैं कि किसी भी कार्य का अन्वेषण हमें उसके कारण की खोज की ओर ले जाता है । दर्शन का दार्शनिक रूप वैज्ञानिक आनुसन्धानिक प्रक्रिया से प्रारम्भ होता है और वैज्ञानिक विधा से ही परिणाम की प्राप्ति के आनन्द में आगे बढ़ जाता है ।

कारण की ख़ोज अन्वेषक को शिखरस्थ क्रिया-कारित्व के प्रत्यक्षण तक ले जाता है। 'क्रिया' के स्तर पर पहुँचा अन्वेषक स्वयं क्रियारूप हो जाता है। वहाँ उसके लिये सम्पूर्ण सृष्टि क्रियारूप हो जाती है। और जब 'कारित्व' भी वहाँ क्रियारूप हो जाता है तो जैसे सबकुछ थम-सा जाता है। 'क्रिया' अपनी शुद्धता में कार्यकारी नहीं रह जाती सब कुछ क्रियामय हो जाता है। आर्ष दर्शन ने इसे महाप्रलय के रूप में देखा है।

महाप्रलयकालीन विशुद्ध शक्ति ही कालान्तर में सिसृक्षा अर्थात् परिस्थिति-अनुकूलता की स्थिति में आकर सृष्टि के सृजन की ओर अग्रसर होती है। आर्ष दर्शन ने महाप्रलयकालीन कार्य के लिये सुसुप्त शक्ति को 'तत्रूप' में तथा सृष्टि-विकास के लिये तत्पर शक्ति को 'मन' कहा है। 'तत्रूप' शक्ति में कारित्व के भी क्रियारूप होने से आर्ष दर्शन ने उसके अस्तित्व को आनीदवातं स्वधया तदेकं के रूप में देखा है। इस 'तत्' की एकमात्रता अर्थात् अद्वितीयता और सिसृक्षा के बाद 'क्रिया-कारित्व' या 'असत्-सत्' की समन्विति परिणामित होने पर वृद्धिशील मनःरूप कार्यकारी क्रार्यशक्ति का उद्भव होता है। इस कार्यकारी कार्यशक्ति को उसकी वृद्धिशीलता के कारण कार्यब्रह्म कहा गया है। 'तत्' रूप को कार्यब्रह्म की अपेक्षा से कारणब्रह्म कहा गया है। कारणब्रह्म अपनी अद्वैतता में पूर्ण है और कार्यब्रह्म अपनी कार्यकारिता में पूर्ण है। पूर्ण ही पूर्ण के विकास का कारण बनता है। पूर्णमदः पूर्णमिदं क्रमशः इसी 'कारण' और 'कार्यशक्ति' की पूर्णता को परिभाषित करता है। वस्तुतः, इनकी पूर्णता क्रिया-कारित्व के समन्वयन में निहित है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण में 'दर्शन' (Philosophy = Philos+Sophia) को मनुष्य का एक निष्पक्ष बौद्धिक प्रयत्न कहा गया है। अपने इस निष्पक्ष बौद्धिक प्रयत्न द्वारा वह विश्व को उसकी सम्पूर्णता में समझने की चेष्टा करता है। पाश्चात्य दर्शन बुद्धिप्रधान है। प्राच्य दर्शन में बुद्धि और अनुभूति दोनों के समन्वय को प्राथमिकता दी गयी है।

अनुभूति के सन्दर्भ से डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'दर्शनशास्त्र की रूपरेखा' में लिखा है– "अनुभूतियाँ दो तरह की हैं– ऐन्द्रिय (Sensuous) और अनैन्द्रिय (Non-sensuous)। दोनों ही दर्शन के क्षेत्र के अन्तर्गत आती है; किन्तु चार्वाकों के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिकों के अनुसार अनैन्द्रिय अनुभूति ही अधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि वास्तविक सत्ता का साक्षात्कार आध्यात्मिक (Spiritual) अनुभूति में ही होता है और आध्यात्मिक अनुभूति अनैन्द्रिय होती है। आध्यात्मिक अनुभूति बौद्धिक ज्ञान की तरह नहीं होती। बौद्धिक ज्ञान में तो ज्ञाता और ज्ञेय का

द्वैत बना रहता है, किन्तु इस अनुभूति में दोनों एक हो जाते हैं। यह अनुभूति अनायास ही नहीं मिल जाती, इसे प्राप्त करने की अवस्था तक पहुँचने के लिये साधना की जरूरत है। साधना का अर्थ है मन, बचन, बुद्धि, भावना और चेष्टा, सबको पवित्र और परिमार्जित करके एक विशेष दिशा में लगाना।'' (पृ० 5)

प्रोफेसर प्रसाद आगे 'पश्चिमी और भारतीय दृष्टियों के सम्बन्ध' के सन्दर्भ से लिखते हैं– ''भारतीय दार्शनिक बुद्धि को उतना महत्त्व नहीं देते जितना पश्चिमी दार्शनिक, और पश्चिमी दार्शनिक आध्यात्मिक अनुभूति को उतना महत्त्व नहीं देते जितना भारतीय दर्शन में दिया गया है।'' (वही, पृ० 5-6)।

डॉ० प्रसाद का मानना है कि भारतीय दार्शनिकों के अनुसार दार्शनिक चिंतन की उत्पत्ति जिज्ञासा से नहीं, बल्कि दुःख मात्र के नाश करने की आकांक्षा से होती है और इसका उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त करना है। उनके अनुसार 'दुःख का पूर्ण विनाश' ही मोक्ष है। उनके अनुसार जिज्ञासा-मात्र को शान्त करना दर्शन का मुख्य उद्देश्य नहीं है। विश्व के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान वे मोक्ष के उद्देश्य से प्राप्त करना चाहते हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों ने दर्शन को शुद्ध बौद्धिक प्रक्रिया तक सीमित रखा है, उसके लिये कोई विशिष्ट व्यावहारिक उद्देश्य निश्चित नहीं किया है।

डॉ० प्रसाद के उपर्युक्त विचार के परिप्रेक्ष्य में हमें आर्ष दर्शन को देखने का स्पष्ट आमन्त्रण मिलता है। आर्ष दर्शन, वस्तुतः, जीवन का द्रष्टा है। वह कोरी कल्पना और रहस्यवाद का सहारा नहीं लेता। वह जीवन्त जीवन का द्रष्टा और उसकी आवश्यकताओं का व्याख्याता है। परतम 'कारण' का अन्वेषक आर्ष दर्शन एक के ज्ञान से सब का ज्ञान की वैज्ञानिकता में विश्वास रखता है। वह यह भी जानता है कि एक 'आत्मा' मात्र को जान लेने भर से सम्पूर्ण लोकों और समस्त भोगों की प्राप्ति हो सकती है।

आर्ष दर्शन, वस्तुतः, सम्पूर्ण सृष्टि को, क्रिया-कारित्व की समन्विति के रूप में देखने के कारण, चेतनरूप देखता है। 'कारित्वरूप' शरीर क्रियारूप शक्ति से संचारित और संचालित होता है। इस तरह आर्ष दर्शन, वस्तुतः, सम्पूर्ण सृष्टि को 'मन' की अभिव्यक्ति मानता है। 'मन' जहाँ ज्ञानधर्मा है, वहाँ वह कर्मधर्मा भी है। उसका 'धर्म', वस्तुतः, 'धृ+मन्'-रूप होने से ज्ञान का कारण और कर्म का निर्धारक एवं निर्धारित कर्म का निष्पादक भी है। इस तरह आर्ष दर्शन जीवन दर्शन से एक पल भी अलग नहीं होता।

'कारण' को छोड़ता और 'कार्य' से प्रारम्भ करता कोई भी 'दर्शन' या 'विज्ञान' या 'धर्म' 'कारणरूप' निरपेक्ष को छोड़ सापेक्षरूप कार्य-सृष्टि में ही घूमता रह जाता है। मनुस्मृति का प्रारम्भ, वस्तुतः, वर्ण 'धर्म' की जिज्ञासा से होता है और

उत्तर जागतिक सृष्टि के विकास और व्यवस्था से दिया जाता है। स्पष्ट है कि इससे अलग दर्शन में 'धर्म' को जानने के लिये स्वयं कार्यरूप सृष्टि के कारणरूप को जानना अभीष्ट है। सृष्टि के कारणरूप 'मन' को मनुस्मृति की उक्तियों में देखें— **मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।** अर्थात् "रचने की इच्छा से प्रेरित मन सृष्टि की रचना करता है।" (मनु० 1.75)

इस मन की रचना के सन्दर्भ से मनुस्मृति कहती है— **तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते। प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥**

अर्थात् "उपर्युक्त रात-दिन पूर्ण होने पर ब्रह्मा निद्रा में से जागता है और जागकर सत्-असत्‌रूप मन को रचता है।" (मनु० 1.74)

इस 'मन' को मनुस्मृति ने ग्यारहवीं इन्द्रिय, और वह भी उभयेन्द्रिय के रूप में पहचान दी है। इसकी इन उक्तियों को देखें— **श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी। पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥ बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोतादीन्यनुपूर्वशः। कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्। यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥**

अर्थात् 'कान, त्वचा, दोनों नेत्र जीभ, पाँचवी नाक, गुदा, लिङ्ग, हाथ, पैर और दशमी वाणी ये दश इन्द्रियाँ कही गयी हैं। इनमें कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और गुदा आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। 'मन' को ग्यारहवीं इन्द्रिय जाननी चाहिये। यह अपने गुण से कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों का ही आत्मारूप है। इसके संयमन से उपर्युक्त दशों इन्द्रियाँ विजित या संयमित हो जाती है। (मनु० 2.90-92)

इस तरह स्पष्ट है कि 'शरीर' अपने-आपमें इन्द्रियरूप है। ऐसी स्थिति में शरीर की कार्यकारिता में अनैन्द्रियता का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर जब सम्पूर्ण सृष्टि ही मनःसृजित है तो फिर ज्ञान कर्म का नियन्ता 'मन' अपनी उभयेन्द्रियता में ज्ञानमय कर्म से अलग भला कैसे रह सकता है? आर्ष दर्शन में **मनसो रेतः, कामः तत् अग्रे, सतो बन्धुमसति** आदि कथन मूलतः **आनीदवातं स्वधया तदेकं** की सिसृक्षा से सम्बद्ध हैं।

'मन' का 'सदसदात्मकम्'-रूप, वस्तुतः, उसकी उभयेन्द्रियता का परिचायक है। 'सत्' कारित्वरूप से 'कर्म' अर्थात् अनुभव का और 'असत्' क्रियारूप से ज्ञान का विषय बनता है। फिर 'इन्द्रिय' शब्द 'इन्द्र' धातु से व्युत्पन्न होने के कारण 'इन्द्र' से सम्बद्ध सिद्ध होता है। 'इन्द्र' देवरूप में कार्यनिर्वाहक शक्ति है और कार्यकारी शरीर में मनरूप से निरूपित होता है। 'इन्द्र' देवों का राजा अर्थात् देवों का नियन्त्रक है और 'मन' इन्द्रियों का नियन्त्रक है।

यह 'मन' ज्ञान पक्ष में अन्तस्थ कार्यकारी क्रियाशक्ति के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है । वेदान्तसार इसे अन्तःकरण के रूप में इस तरह परिभाषित करता है– **मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम् । संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी ॥**

मन ही इन्द्रियाँ है; मन ही 'धर्म' (धृ+मन्) है; मन ही 'मति' (मन्+क्तिन्) है । मन ही आत्मा (अत्+मनिन्); 'मन' ही ब्रह्म (बृंह्+मनिन्) है; और मन ही कर्म (कृ+मनिन्) है । 'मन' ही प्राण है । और जैसा कि कहा भी जा चुका है 'मन' ही सम्पूर्ण सृष्टि का कारण भी है । वह अपने-आपमें पूर्ण होने से पूर्ण का ही सृजन करता है । इस तरह आर्ष दर्शन में कारण-जगत् और कार्यजगत् दोनों ही शक्तिगत होने से शक्ति-विचार के नियमों का ही अनुकरण करते हैं । मनुस्मृति की इन पंक्तियों के कारण जगत् का स्पष्ट मनोरूप देखने को मिलता है– **यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदासदात्मकम् ।** (1.11 पूर्वांश)

ऋषि, 'क्रिया' का द्रष्टा होने से, सर्वज्ञ और निश्चिति के साक्षात्कृत द्रष्टा हैं । आत्मा (अत्+मनिन्) को पाँच कोषों में (अन्न, प्राण मन, विज्ञान और आनन्द या सुख या भूमा) की समन्विति में साक्षात् करनेवाले ऋषि निश्चितत: क्रिया के ही द्रष्टा हो सकते हैं । **द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ।**

वस्तुतः, 'दर्शन' का आधार मात्र विषयगत गुणवाचकता (Subjective connotation) नहीं, वरन् वस्तुगत गुणवाचकता (objective connotation) भी है । अनन्तधर्मा वस्तु का दर्शन अनन्तधर्मा दृष्टि के लिये ही सम्भव है । क्रिया को देखने के लिये क्रिया-दृष्टि की ही आवश्यकता होती है । मनःदृष्टि अपने-आपमें क्रिया-दृष्टि ही है । क्रिया-दृष्टि ही 'क्रिया' या शक्ति के सारे कार्य-कलापों को देख सकने में समर्थ होती है ।

वेदान्तसार का उपर्युक्त श्लोक हमें पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों के समन्वय को मनःसंवेद्य या आत्मसंवेद्य रूप में दिखाता है । 'मन' और 'मति', वस्तुतः, कर्तृत्व और ज्ञातृत्व की समन्विति में ही आत्मा के स्तर पर सम्पूर्ण सृष्टि (सार्व) को समझ और समझा सकने में समर्थ होते हैं ।

आर्षेतर दर्शन के लिये 'दर्शन' मात्र बौद्धिक अथवा बुद्धिप्रधान ही रह जाता है । फलतः उनका ज्ञान भी तर्क-आधारित और संशयग्रस्त ही रह जाता है, 'आत्मा' या 'सार्व' या 'परम' के स्तर तक जा नहीं पाता । ध्यातव्य है कि आत्मा सार्वरूप है और वह सार्व का ही द्रष्टा-ज्ञाता है । इस तरह वह 'स्व' में सार्व और सार्व में स्व का द्रष्टा सिद्ध होता है।

आर्ष दर्शन में 'व्यक्ति' अव्यक्त शक्ति की कार्यकारी अभिव्यक्ति है । इस रूप में वह ससीम-असीम (Finite-infinite) का निरूपक सिद्ध होता है । ऐन्द्रियक स्थूल शरीर अपनी द्रव्यात्मकता में रूपान्तरणीय है; किन्तु उसका क्रियात्मक मनःमानवरूप सार्वभौम होने के कारण असीम-अनन्त और नित्य होता है । मन का क्रियारूप नित्य रहता है; 'कारित्व' या 'कारकत्व' रूप मात्र प्रलयकाल में क्रियात्व में रूपान्तरित हो जाता है ।

आर्षेतर दर्शन 'क्रिया', 'कर्म' और 'कार्य' में विभेद नहीं करते। उनका मानना है कि 'शक्ति' और 'शक्तिमान्' में कोई अन्तर नहीं होता। इसे आचार्य अभिनवगुप्त ने इस तरह शब्दबद्ध किया है– **शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न गच्छति । तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव ॥**

आर्ष दर्शन में 'क्रिया' शक्ति है । शक्ति रूपान्तरणीय है । अपनी कार्यकारिता में 'शक्ति' क्रिया और कारित्वरूपों में रूपान्तरित होती और पुनः समन्वित हो कार्यरूप में परिणत होती है । इसे शब्द-शास्त्र और रसायनशास्त्र के माध्यम से देखा-समझा जा सकता है । 'शब्द' का धातु (क्रिया)-रूप जब अपेक्षित प्रत्यय (कारित्व) से समन्वित होता है तभी शब्द अर्थदायी बनता है । इसी तरह रसायनशास्त्र में जब दो विपरीतात्मक आयोनिक शक्तियाँ (धनात्मक और ऋणात्मक आयन) समन्वित होती हैं तभी यौगिक (Compound) का सृजन या विकास होता है । सृष्टि शक्तिगत तत्त्वों के समन्वयन से बने यौगिक रूपों का प्रदर्शन या अभिव्यक्ति या तैत्तिरीय उपनिषद् की व्याहृतियाँ हैं ।

आर्ष दर्शन 'कारण' और 'कार्य' का सामान्य द्रष्टा है । 'कारण' को वह तीन रूपों में देखता है । पूर्व पक्ष, उत्तर पक्ष और समन्वयक या संयोजक पक्ष । वह संयोजन या समन्वयन के परिणाम को संधि या सन्तान कहता है । यह परिणाम कार्यकारी और कार्यविस्तारक होता है । इस कार्यकारी कार्यविस्तारक को वह कार्यब्रह्म के रूप में 'महः' कहता तथा 'तुरीय' या 'चतुर्थ' स्थान प्रदान करता है । 'तुरीय' पद कार्यब्रह्म का निरूपक है । यही अर्थरूप से पुरुषार्थ का 'अर्थ' है ।

तैत्तिरीय उपनिषद् एवं ऋग्वेद की निम्नांकित मन्त्रोक्तियाँ हमें यही दिखाती हैं । तैत्तिरीय उपनिषद् कि मन्त्रोक्तियाँ हैं–

वर्णः स्वरः । मात्रा बलम् । साम संतानः । (तै०उप० 1.2)

पञ्चस्वधिकरणेषु । अधिलोकमधिज्योतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् ।

.. (वही, 1.3 अंश)

अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् ।
आकाशः संधिः । वायुः संधानम् ।

अथाधिज्यौतिषम् । अग्निः पूर्वरूपम् । आदित्य उत्तररूपम् । आपः संधिः । वैद्युतः संधानम् । इत्यधिज्यौतिषम् ।

अथाधिविद्यम् । आचार्यः पूर्वरूपम् । अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या संधि। प्रवचनं संधानम् । इत्यधिविद्यम् ।

अथाधिप्रजम् । माता पूर्वरूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा संधिः । प्रजननं संधानम् । इत्यधिप्रजम् ।

अथाध्यात्मम् । अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक् संधिः । जिह्वा संधानम् । इत्यध्यात्मम् । (तै० उप० 1.3)

व्याहृति के सन्दर्भ से तैत्तिरीयोपनिषद् की मन्त्रोक्तियाँ हैं–

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः ।

भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौ लोकः । मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते ।

भूरिति वा अग्निः । भुव इति वायुः । सुवरित्यादित्यः । मह इति चन्द्रमाः । चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते ।

भूरिति वा ऋचः । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूंषि । मह इति ब्रह्म ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते ।

भूरिति वै प्राणः । भुव इत्यपानः । सुवरिति व्यानः । मह इत्यन्नम् । अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते ।

ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा । चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः । ता यो वेद । स वेद ब्रह्म । सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ।

यहाँ महःरूप चतुर्थ व्याहृति को 'तुरीय' रूप से ब्रह्मरूप कहा गया है । 'ब्रह्म', वस्तुतः, वृद्धिशील मननधर्मा कार्यकारी तत्त्व का निरूपक है । वह मात्र 'धारक' या मात्र 'क्रिया' नहीं । वह 'क्रिया' और 'कारित्व' की समन्विति है । वह 'धृ+मन्' रूप धर्म से देखता 'मन्+क्तिन्' रूप 'मति' से विवेचन करता और 'अत्+मनिन्'-रूप 'आत्मा' से परमार्थसत्य के रूप को देखता-जानता है । वह चाक्षुष् नहीं, वरन् मनश्चाक्षुष है; क्योंकि वह 'क्रियापुरुष' है, स्थूल कार्यपुरुष नहीं । वह 'मनोमानव' है । वह शक्तिगत है; और, कार्यकारी स्थूल मानवजीवन को मननशील, विवेचनशील बनाते हुए सार्व और परमार्थ तक पहुँचाने का साधन बनता है।

यहाँ आकर मैं स्वयं में स्पष्ट होती हुई तत् त्वम् असि (तत्त्वमसि) और अहम् ब्रह्मास्मि का अर्थ समझने लगी हूँ। मेरा व्यक्तित्व, जैसे चलचित्र की भाँति, स्वयं मेरे स्थूल शरीर से अलग हो मेरे कार्यरत शरीर के पास ही बैठा मुझे अर्थात् मेरे स्थूल शरीर को अबाधितरूप से कार्य करता देख रहा है। मेरा स्थूल शरीर मेरा 'अहं' नहीं रह गया है; और न ही मेरे सामने बैठा मेरा सूक्ष्म शरीर मेरा 'अहं' है। ये दोनों ही एक समन्विति में शक्तिगत रूप से कार्यरत हैं। यह स्वप्न का अलगाव नहीं और न ही जीवनगत सान्निध्य है। यह मेरी कल्पना भी नहीं; क्योंकि मैं अभी कार्यरत हूँ, शव नहीं। मैं अभी नींद में भी नहीं, अतः यह मेरा स्वप्न भी नहीं। क्या वह मेरे विचारों से सहमत होता हुआ मेरे सन्निकट है। मेरी प्रसन्नता में वह प्रसन्न है या कि उसकी प्रसन्नता से मैं प्रसन्न हूँ। मेरी कार्यरतता सहज है।

सिर भारी है। आँखों में दर्द जैसा मैं अनुभव कर रही हूँ; किन्तु मेरे सामने बैठे मेरे सूक्ष्म शरीर को ऐसा कुछ नहीं लगता; वह सहज भाव से मुझे देख रहा है। वह मेरे लिये कुछ करता क्यों नहीं ? मैं भूल रही हूँ, वह तो मेरा क्रियारूप है। मेरा मनःरूप। मेरा मन तो नहीं थका। आँख-सिर ये तो स्थूल आवयविक कारक हैं। इनका दर्द मन को नहीं लगता। वह भी स्वतन्त्र है शरीर से। शरीर का दर्द उसे नहीं शालता। मननशीलता मन का सहज कर्म है। 'मन' मन के लिये कार्य करता है। परन्तु ऐन्द्रियक मन ? वह संवेद्य हैं। दर्द उसे शालता है। वह मात्र द्रष्टा नहीं। सम्पूर्ण क्रिया, कारक और उसके भेद-समुदाय मनोमय प्राण ही हैं; मनोमय प्राण से बाहर कोई नहीं, कुछ नहीं। प्राण प्राण को प्राण के लिये ही प्राण (शक्ति) प्रदान करता है; क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि प्राणरूप ही है। धृत मन आत्मारूप से द्रव्यात्मक शरीररूप में कार्य के लिये रूपान्तरित है। फिर, द्रव्य का रूपान्तर भी तो शक्ति में अवश्यम्भावी हो जाता है।

शक्ति का जन्म नहीं होता। शक्ति का रूपान्तर और समन्वय नये रूपों का विकास करता है। 'प्राण' मात्र मनोद्रष्टा ही नहीं, मनःकर्मा भी है। मनःधृति में 'मनश्चक्षु' द्रव्यात्मक वस्तु को शक्तिगत रूप में देखता है। मनश्चक्षु अपने-आपमें क्रियारूप है। क्रिया ही क्रिया को देखती है, क्रिया से ही क्रिया का संचरण और संधारण होता है। अविनश्य क्रिया के भौतिक कार्य-कलाप ऋषि-दृष्टि से ही दृष्ट होना सम्भव है; क्योंकि वहाँ निर्गुणता की निरपेक्षता और सगुणता की सापेक्षता एकबारगी देखी जा सकती है। निष्पक्षता क्रिया का गुण है; क्योंकि वह अपने नियम अर्थात् सहज भाव या प्रकृति से अलग नहीं होती। द्रव्य के प्रति क्रिया (शक्ति) का कोई मोह नहीं होता, लोभ नहीं होता। कार्य-साधनामें कारित्वरूप साधन उसका स्वात्मनुभूत ही होता है; और वह प्राणरूप से उसका अनुप्राणन करता है। दर्शन

परमार्थसत्य के साक्षात्कार का साधन है, मात्र ज्ञान के प्रति अनुराग नहीं । वह 'अप्लायड फिलॉसफी' (Applied Philosophy) की तरह का कोई विषय नहीं, वरन् स्वयं जीवन का द्रष्टा और उसके अभ्युदय एवं निःश्रेयष् की प्राप्ति का साधन है । वह अपने-आपमें ज्ञानमय कर्म और कर्म-सम्पुष्ट ज्ञान का व्याख्याता है। वेद के मन्त्र रहस्यमय नहीं, वरन् जीवन के परमार्थसत्य के प्रकाशक हैं । प्रकाश में ही परमार्थसत्य का दर्शन होता है, और परमार्थ सत्य ही 'दर्शन' का विषय है । अध्यात्म विद्या इसी का पर्याय है, कोई रहस्य नहीं ।

2. धर्म :

आर्ष दर्शन ने 'धर्म' को 'धृ+मन्' के रूप में स्वीकार किया है; और उसे आचरण या आचार का निर्धारक माना है; स्वयं आचार को धर्म नहीं माना है । आचारः परमो धर्मः स्मृतियों के सत्य हो सकते हैं; क्योंकि वे राज्यपरक व्यवस्था के सम्पोषक हैं, परमार्थपरक व्यवस्था के सम्पोषक नहीं । राज्यपरक व्यवस्था में राजा ईश्वर हो जाता है, और 'ईश्वर' लोकेतरीय अनजान रहस्यमयी शक्ति । 'क्रिया' उस अनजान लोकेतर शक्ति की माया और विकाररूप समझी जाने लगती है । 'भाव' या 'सत्' सत्य (होने का अर्थ ले लेता है और 'अभाव' एवं 'असत्' असत्य (न होने) का अर्थ ग्रहण कर लेतें हैं । दर्शन 'क्रियादर्शन' का अर्थ छोड़कर मतवाद की साम्प्रदायिकता की ओर बढ़ जाता है । 'आत्मा' सार्व का अर्थ छोड़कर व्यक्तिपरक हो जाता है । ब्रह्म परमार्थपरक सत्य न रहकर ऐश्वर्यधारी 'ईश्वर' हो जाता है । ऐसे में 'दर्शन' भी धर्म का पृष्ठपोषक हो जाता है । और, 'धर्म' दर्शन का साधन न रहकर आचारपरक हो जाता है ।

प्रोफेसर राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'दर्शनशास्त्र की रूपरेखा' में लिखा है– "जाने-अनजाने, जीवन और जगत् के विषय में कोई-न-कोई मत हर आदमी रखता है, और ऐसा इसलिये करता है कि बिना ऐसा किये वह नहीं रह सकता, ऐसा करना उसके स्वभाव का एक अंग है । जीवन और जगत् के विषय में बिना कोई मत रखे जीना ही सम्भव नहीं है । यही कारण है कि हमारे सामने यह प्रश्न नहीं उठता कि हम दार्शनिक बने या न बनें, दार्शनिक तो हमें होना ही है, यदि हम सच्चे अर्थ में जीना चाहते हैं ।" (पृ० 8)

आगे प्रो० प्रसाद पी० डब्लू कन्निंघम की प्रॉब्लेमृस ऑफ फिलॉसफी (Problems of Philosophy by P.W. Cunningham) के सन्दर्भ से लिखते हैं– "अतएव प्रश्न हमारे सामने है तो यही है कि हम कैसा दार्शनिक बनें, कुशल या अकुशल ।"

कहना नहीं होगा कि डा० प्रसाद ने अपने उपर्युक्त कथन में 'दर्शन' और 'दार्शनिक' को क्रमशः Philosophy एवं Philosopher के पर्याय के रूप में देखा है; 'ऋषि' के रूप में नहीं ।

'कुशल' पद हमें 'योग' और 'यज्ञ' की याद दिला जाता है । 'योग' और 'यज्ञ' दोनों को **कर्मशु कौशलम्** के रूप में परिभाषित किया गया है । फिर हमें हितोपदेश और चाणक्य नीति की वह बात याद आती है, जिसके अनुसार 'नर' का धर्महीन होना उसे पशुवत् बना देता है । 'हितोपदेशः' की उक्ति है– **आहारनिद्राभयमैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् । धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।**

चाणक्य नीति इसे ही इन शब्दों में प्रस्तुत करती है– **येषां न विद्या न तपो न दानं, न चापि शीलं न गुणो न धर्मः । ते मृत्युलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥**

मनुस्मृति ने 'धर्म' को आचार के रूप में परिभाषित किया है । उसकी उक्ति है– **आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च । तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ॥ आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते । आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ॥ एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् । सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥** (मनु० 1.108-110)

अर्थात्, वेद और स्मृति में कहा हुआ आचार ही परम धर्म है । इसलिये आत्मज्ञानी द्विज इसमें सदा युक्त रहे । आचार से विच्युत विप्र वेद के फल को प्राप्त नहीं करता । आचार से युक्त होकर ही वह सम्पूर्ण फल को प्राप्त कर पाता है । इस प्रकार आचार से धर्म की गति को देखकर मुनिजनों ने सम्पूर्ण तप की मुख्य जड़ आचार को माना है ।" स्पष्ट है यहाँ अनुभव को प्रश्रय दिया गया है, किन्तु ज्ञान (वेद) को नहीं छोड़ा गया है । 'तप' की चर्चा मनुस्मृति युगधर्म के रूप में करती है– **अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे । अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥ तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते । द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥** (मनु० 1.85-86)

अर्थात् युगह्रास के अनुरूपतः मनुष्य के धर्म सतयुग में अन्य, त्रेता में अन्य, द्वापर में अन्य और कलियुग में अन्य होते हैं । सतयुग में 'तप' प्रधान है, त्रेता में 'ज्ञान' कहा है, द्वापर में 'यज्ञ' तथा कलियुग में दानमात्र को 'धर्म' कहा गया है ।

फिर, मनुस्मृति ने धर्म के मूल और लक्षणों की भी चर्चा की है । मूल की चर्चा करती मनुस्मृति की उक्ति है– **वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥** (मनु० 2.6)

अर्थात्, सम्पूर्ण वेद, वेदज्ञों के रचे धर्मशास्त्र, वेदवेत्ताओं के मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति, वेदवेत्ता साधुओं का आचार और वेदज्ञ शिष्टों का सन्तोष या सुख, ये सब धर्म के मूल या स्रोत हैं।

आगे, धर्म के लक्षण दिये हैं– **वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥** (मनु० 2.12)

अर्थात् वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मप्रिय (प्रियमात्मनः) कृत्य- ये चार धर्म के साक्षात् लक्षण हैं।

'वेद' ज्ञानपरक और स्मृति व्यवस्थापरक ग्रन्थ कहे गये हैं। व्यवस्थापरक होने के कारण स्मृतियाँ आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त की विशद् व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। कहा है– **श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्र तु वै स्मृति** । इस तरह स्मृतियों का प्रधान उद्देश्य हैं– 'धर्म' को जानना; शुद्ध आचरण का महत्त्व जानना; पाप-पुण्य, नीति-अनीति को पहचान सकने में समर्थ होना, अपने कर्तव्यों को जान सकने और तदनुसार आचरण कर सकने में समर्थ होना।

'वेद', वस्तुतः, अपने-आपमें सम्पूर्ण जीवन-दर्शन के द्रष्टा-विज्ञाता और व्याख्याता हैं। वहाँ 'मन' की दमःस्थिति वेदज्ञ को साक्षात् जीवन-द्रष्टा और परमार्थसत्य का प्रस्तोता सिद्ध करता है। वहाँ आचार भी **दमो धर्मः सनातनः** के अनुरूप होता है। वहाँ धृ+मन्' की व्यवस्था होती है, राजा-राज्य, और दण्ड-दाण्डिक की व्यवस्था नहीं होती। यह निर्माण और विकास का युग होता है। यहाँ 'सत्य' अर्थात् परमार्थसत्य की ही व्यवस्था चलती है। महाभारत की उक्ति है–**न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः । धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम्॥** (महा०, श०प० 59.14)

इस वर्णित स्थिति के अनुसार तथाकथित धर्म-व्यवस्था ऐसी थी, जिसमें सब व्यक्ति धर्म के द्वारा परस्पर पालित-पोषित होते थे। तब न तो राजा था, न राज्य; न दण्ड था, न दाण्डिक। उस धर्म व्यवस्था में मोह का सर्वथा अभाव था। मोह के न होने से निष्पक्षता और कर्तव्य-अकर्तव्य का उन्हें (प्रजा को) ज्ञान था। इस स्थिति में वहाँ लोभ, काम (libido), राग भी नहीं था। स्पष्ट है कि तब 'धर्म' मनःधृति का अर्थ रखता था। आचरण कर्तव्य-अकर्तव्य पर आधारित नीति के अनुकूल था। अगम्यागमन, वाच्य-अवाच्य, भक्ष्य-अभक्ष्य, दोष-अदोष के विवेचन पर नीति का निर्धारण होता था। 'मनःधृति के आधार पर कृति' तब का आचारिक सूत्र था। स्पष्टतः तब धृ+मन् रूप धर्म अर्थात् **दमो धर्मः सनातनः** का शासन रहा था। इस व्यवस्था की विनष्टि पर राजा-राज्य और दण्ड-दाण्डिक की व्यवस्था

प्रारम्भ हुई । 'धर्म' राजा के अधीन हो गया और राजा को ईश्वर का रूप दे दिया गया । 'ईश्वर' धर्म के लिये अनिवार्य हो गया । मनुस्मृति ने राजा की उत्पत्ति के सन्दर्भ से लिखा है– **इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च । चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥** (मनु० 7.4)

अर्थात् इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर इन आठ दिग्पालों के नित्य अंश से ईश्वर ने राजा को बनाया है ।

स्मृति, जैसा कि हम देख चुके हैं, राज्यपरक व्यवस्था का सम्पोषक है । राजा की महत्ता का सुनिश्चयन उसका अभीष्ट है । यथा– "राजा बालक हो तो भी उसे साधारण मनुष्य जानकर उसकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए; क्योंकि वह एक बड़ा देवता मनुष्यरूप में विद्यमान है । अग्नि के समीप जो असावधानी से जाता है तो वह उस अकेले को ही जलाती है, परन्तु राजा की कोपाग्नि कुटुम्ब, पशु और सम्पत्ति सहित, मनुष्य को नष्ट कर देती है ।" (मनु० 7.9–10)

"राजा के हित के लिये ईश्वर ने पहले से ही प्राणियों का रक्षक धर्मरूप और ब्रह्मतेजरूप अपने पुत्र दण्ड को उत्पन्न किया । (वहीं 7.14)

"यथार्थ में दण्ड ही राजा, दण्ड ही पुरुष, दण्ड ही राज्य का नेता और शिक्षक है, और ऋषियों ने दण्ड को ही चारों आश्रमों के धर्म का साक्षी कहा है ।" (वही 7.17)

"दण्ड यदि पूर्ण रीति से विचार कर दिया जाय तो सब प्रजा सुखी रहती है, और बिना विचारे देने से सब का विनाश हो जाता है । (मनु० 7.19)

'राजा' कि अनिवार्यता की सम्पोषिका स्मृति की उक्ति है– **अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् । रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ।** (मनु० 7.3)

अर्थात् "इस जगत् में राजा न होने से सब भय से व्याकुल होते हैं, इसलिये इस सब की रक्षा के लिये ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया है ।"

शुक्रनीति भी कुछ ऐसा ही कहती है– **न तु नृपविहीनाः स्युर्दुर्गुणा ह्यपि तु प्रजाः । यथा न विधवेन्द्राणी सर्वदा तु तथा प्रजाः ॥** (शु०नी० 1.74)

"यदि गुणी राजा प्रजा पर से अपना अधिकार खो देता है तो भी दुराचारी प्रजा राजा के बिना नहीं रहती । जैसे इन्द्राणी कभी बिना इन्द्र के विधवारूप में नहीं रह सकतीं, वैसे ही बिना राजा के प्रजा भी नहीं रह सकती ।"

आचार्य शुक्र ने 'इन्द्र और इन्द्राणी' की उपमा के साथ राजा और प्रजा की एक-दूसरे के लिये अपेक्षित अनिवार्यता का निदर्शन किया है । इन्द्र देवों के राजा और नियन्ता हैं । इसी तरह 'मन' इन्द्ररूप से शरीरस्थ कार्यनिर्वाहक शक्तियों या देवों का नियन्ता और उनके कार्यों का समन्वयक है । 'राजा' प्रजा के बिना और 'प्रजा' राजा के बिना नहीं रह सकती । 'मन' इन्द्रियों का राजा है । मन के बिना इन्द्रियाँ सुफला सिद्ध नहीं होती । इस तरह धर्म के लिये ईश्वर अनिवार्य अस्तित्व बन जाता है ।

'धर्म' के आचारिक रूप के सन्दर्भ से महाभारत में युधिष्ठिर की उक्ति है– **सदाचारो मतो धर्मः सन्तस्त्वाचारलक्षणाः । साध्यासाध्यं कथं शक्यं सदाचारो ह्यलक्षणः ॥**

अर्थात् "आपके कथनानुसार सत्पुरुषों का आचरण धर्म माना गया है और जिनमें धर्माचरण लक्षित होता है, वे ही सत्पुरुष हैं । ऐसी दशा में अन्योन्याश्रय दोष पड़ने के कारण साध्य और असाध्य का विवेक कैसे हो सकता है ? ऐसी दशा में 'सदाचार धर्म' का लक्षण नहीं हो सकता ।" (महा०, शा० प०, 260.5; पृ० 5091)

फिर, आचार तो युगानुरूप स्थितियों के अनुसार बदलता ही रहता है । ऐसी स्थिति में आचाररूप धर्म की शाश्वतता या नित्यता सिद्ध हो ही नहीं सकती । स्वयं महाभारत इसे शाश्वत अर्थात् नित्य मानता है । –**न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः । नित्यो धर्मः सुखदुःखेत्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥** अर्थात् कामना से, भय से, लोभ से अथवा प्राण-भय से भी धर्म का त्याग न किया जाय । धर्म नित्य है और सुख-दुख अनित्य । इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धन का हेतु अर्थात् शरीर अनित्य ।" (महा०, स्वर्गा० प० 5.63) ।

मन और इन्द्रियों के संयमन को महाभारत ने दम के रूप में देखते हुए उसे धर्म (धृ+मन्) के रूप में परिभाषित किया है ।

'धर्म' अपनी नित्यता में 'दमःरूप' ही है, आचाररूप नहीं । महाभारत की इस उक्ति को देखें– **धर्मस्य विधयो नैके ये वै प्रोक्ता महर्षिभिः । स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम् ॥** अर्थात् महर्षियों ने अपने-अपने ज्ञान के अनुसार धर्म की एक नहीं, अनेक विधियाँ बतायी हैं, परन्तु उन सब का आधार 'दम' ही है ।" (महा०शा०प० 160.6)

फिर कहा है– **आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् । तस्य लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥** अर्थात् चारों आश्रमों में दम को ही उत्तम व्रत कहा

गया है । अब मैं इन्द्रिय-दमन एवं मनोनिग्रह के उन लक्षणों को बताऊँगा, जिनका उदय होना ही दम कहा गया है ।'' (वही, 160.14)

'दम' की व्याख्या करते हुए कहा है– ''क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्यवादिता, सरलता, इन्द्रिय-विजय, दक्षता, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, क्रोधहीनता, संतोष, प्रिय वचन बोलने का स्वभाव, किसी भी प्राणी को कष्ट न देना, और दूसरों के दोष न देखना– इन सद्‌गुणों का उदय होना ही दम कहलाता है ।'' (वही, श्लो० 15-16) ।

दमोरूप 'धर्म' की असाम्प्रदायिक प्रकृति का निदर्शन इस रूप में किया गया है– **दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुमु । दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम् ॥** अर्थात्, ''हमने संसार में दम के समान दूसरा कोई धर्म नहीं सुना । जगत् में सभी धर्मवालों के यहाँ दम को उत्कृष्ट बताया गया है । सबने उसकी प्रशस्ति गायी है ।'' (वही, श्लो० 10)

दमरूप धर्म की सनातनता के सन्दर्भ से कहा है– **दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः । ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ।** (महा०, शा०प० 160.7)

दमरूप धर्म की महत्ता या प्रमुखता के सन्दर्भ से कहा है– **यच्च पैतामहं स्थानं ब्रह्मराशिसमुद्‌भवम् । गुहायां पिहितं नित्यं तद् दमेनाभिगम्यते ॥** अर्थात्, ''ब्रह्मराशि से उत्पन्न हुआ जो पितामह अर्थात् ब्रह्मा का उत्तम धाम या स्थान है, वह हृदयगुहा में छिपा या पिहित है । उसकी प्राप्ति सदा 'दम' अर्थात् इन्द्रिय संयम और मनोनिग्रह से होती है ।'' (वही, श्लो० 32)

दमोधर्मा के लिये गृहत्याग का प्रश्न ही नहीं उठता । वह जहाँ भी रहे उसके लिये वहीं वनस्थली है; वहीं उसका आश्रम है । महाभारतीय उक्ति है– **दान्तस्य किमरण्येन तथादान्तस्य भारत । यत्रैव निवसेद् दान्तस्तदरण्यं स चाश्रमः ॥** (श०प० 160.36)

'दम' को 'उत्तम व्रत' का पर्याय कहा गया है । फिर व्रत को 'व्रज+घ, जस्य तः' के रूप में 'मानसिक क्रिया-कलाप' का पर्याय कहा गया है । **व्रतमिति च मानसं कर्म उच्चयते ।** इस तरह 'व्रत', वस्तुतः, मनःधृति का पर्याय है ।

हमने अपने विवेचनों में 'मन' को 'धृति' और 'कृति' दोनों से जुड़ा पाया है । इस तरह व्रत, वस्तुतः, धृत मन से साक्षातन, विचारण, विवेचन, विज्ञानन (विजानन) और परमार्थ सत्य का विज्ञापन या प्रकाशन का पर्याय है । इस रूप में ही आर्ष दर्शन ने 'धर्म' का अर्थ किया है । आर्ष दर्शन में, वस्तुतः, 'धर्म' (धृ+मन्)

से आचरण की नति निर्धारित होती है, और उसके आधार पर नियम बनता है। यहाँ व्यक्ति नहीं, परमार्थसत्य अर्थात् सामाजिक या वैश्विक शुभ (Universal good) को प्रश्रय दिया गया है। यहाँ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एक समन्वय में जीते हैं। व्यक्तिगत पुरुषार्थ क्रियापुरुष के पुरुषार्थ की अभिव्यक्ति होती है। इसमें प्रजातान्त्रिक शासन-व्यवस्था हो सकती है। राजा भी प्रजा के रञ्जन के लिये ही नियुक्त होता है।

विभिन्न कारणों से आर्ष दर्शन की समाप्ति के बाद ब्रह्मा द्वारा अवधारित जिस नीतिशास्त्र का प्रचलन हुआ उसमें प्रजा को राजा के अधीन करते हुए राजा को ही 'धर्म' का रूप दे दिया गया। सिद्धान्ततः इसके लिये नीति और नियम निर्धारित किये गये, जो युगानुरूप परिवर्तनीय सिद्ध हुए। आज की स्थिति में सिद्धान्त और व्यवहार की स्थितियाँ मानों दो ध्रुवों पर चली गयी हैं; और, उनका समन्वय स्वार्थपूर्ति के साधन रूप में ही सम्भव हो पाती है। समस्या का निदान वैश्विक शुभ के आधार पर नहीं, वरन् व्यक्तिगत या स्वार्थपूर्ति या व्यापारिक विनिमय के निदान पर खोजा जाता है। 'धर्म' को 'धृ+मन्' अर्थात् **दमो धर्मः सनातनः** के रूप में न देखा जाकर **आचारः परमो धर्मः** के रूप में व्यवहार का अङ्ग बना दिया गया है।

आचार आज वैयक्तिक विषय हो गया है। और, आज के व्यक्ति का ध्यान वस्तुगत गुणवाचकता (objective connotation) की ओर नहीं जाता; क्योंकि वह अपने अन्वेषण में न तो मनःधृति को स्थान दे पाता है और न ही धृत मन की कृति को वहाँ स्थान मिल पाता है। आज का व्यक्ति आत्मगत गुणवाचकता (subjective connotation) में ही रहकर जीता है। अपने 'क्रियैकदेशबोधिनी' ज्ञान के साथ सन्तुष्ट व्यक्ति, जहाँ आज कट्टरता के साथ जीवन-दौड़ में चल रहा है, वहाँ वह आतंकवाद (Terriorism) को भी प्रश्रय दे रहा है। वैश्विक शुभ ज्ञान की प्राप्ति **दमो धर्मः सनातनः** की राह चलते, एवं बहुशास्त्रज्ञता प्राप्त करते हुए ही हो सकती है; क्योंकि अनन्तधर्मा वस्तु का ज्ञान उसकी वस्तुगत गुणवाचकता (objective connotation) के ज्ञान से ही सम्भव है। बहुशास्त्रज्ञता वस्तु की वैज्ञानिक गुणवाचकता (scientific connotation) से हमारा परिचय कराती है।

'धर्म', वस्तुतः, परमार्थसत्य के ज्ञान और वैश्विक शुभकर्म के ज्ञान का साधन है, मात्र आचारिक या सैद्धान्तिक नहीं। वहाँ 'ज्ञानमय कर्म' और 'कर्मसम्पुष्ट ज्ञान' का समन्वय होता है। आर्ष दर्शन में 'धर्म', वस्तुतः 'क्रिया' का वह द्रष्टा है, जो 'ज्ञान' और 'कर्म' दोनों के लिये अनिवार्य है। 'धर्म' अपने 'धृ+मन्' रूप में क्रियादृष्टि है, मात्र आचार या कर्म नहीं। मुण्डकोपनिषद् ने ठीक ही कहा है–**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥**

अर्थात् कार्य-कारणस्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तम को तत्त्व से जान लेने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं । और, समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं । (2.2.8)

3. अध्यात्म :

आर्ष दर्शन का 'आत्मन्' (अत्+मनिन्) पद अपनी पूर्णता में अंग्रेजी 'सोल' (Soul) या स्पिरिट (Spirit) का पर्याय नहीं सिद्ध हो पाता । फलतः अंग्रेजी स्पिरिट्यूअल पद भी 'अध्यात्म' पद का उसकी पूर्णता में, पर्याय नहीं बन पाता । 'आत्म' पद, वस्तुतः, मनःसम्बद्ध होने से ज्ञान-कर्म दोनों के सन्दर्भ में कार्यकारी होता है । ज्ञान और अनुभव या अनुभूति के समन्वय में चिदात्मक चिन्तन ही शुभ और आनन्दप्रदायी होता है । यह 'सोल' (Soul) की तरह मात्र चिन्तन (thinking) का साधन नहीं । 'आत्मा' वैयक्तिक नहीं, वरन् 'सार्व' का प्रतीक है । यही कारण है कि 'आत्मा' को 'ब्रह्म' (बृंह्+मनिन्) कहा गया है। तत् ब्रह्म । स आत्मा । (तै०उप० 1.5)

सृष्टि शक्तिगत है; और, शक्ति अविनश्य है । शक्ति रूपान्तरणीय और समन्वयपरक है । समन्वयन से ही सृजन और विकास का सम्भवन होता है । ऋग्वेद का नासदीय सूक्त अपने मन्त्रों द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि के विकास का विज्ञान हमें समझा जाता है ।

'ऋषि' जहाँ सृष्टि-विज्ञान को समझता है, वहाँ चिदात्मरूप से परमार्थसत्य को देखता हुआ वह उसे उपयोगी भी बनाता है । हम इस सन्दर्भ में इस सूक्त के महत्त्वपूर्ण मन्त्रांशों– आनीदवातं स्वधया तदेकं; कामस्तदग्रे; मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्; सतो बन्धुमसति निरविन्दन हृदि प्रतीष्यां कवयो मनीषा की व्याख्या अन्यत्र देख चुके हैं । वहाँ हमने शक्ति की विशुद्धरूपता को महाप्रलय के तत्-रूप सूक्ष्मतम और परतम कारणशक्ति के रूप में देखा है । कार्य हेतु प्रतिबन्धित (restricted) या सुसुप्त यह तत्शक्ति, वस्तुतः, मात्र 'क्रिया' या क्रियात्वरूप में वहाँ अस्तित्वमान् रहती है । वह 'स्वधया' इसलिये होती है कि उसके कार्यकारीरूप का 'कारित्व' अवयव भी क्रियात्वरूप में ही रूपान्तरति और 'क्रियात्व' में आत्मसातित हुआ रहता है । कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः अर्थात् सिसृक्षारूप काम, जो वस्तुतः 'मन' का प्रथम बीज है, के कारण 'तत्' अपने कार्यकारी रूप को प्राप्त करता हुआ सत्-असत् के रूप में रूपान्तरित और फिर उनकी परस्पर की समन्विति के रूप में कार्यकारी 'सत्य' या 'सत्ता' के रूप में विकसित होता है ।

इस तरह आर्ष दर्शन का 'सत्य' या 'सत्ता' मात्र 'सत्' या मात्र 'असत्' नहीं होता । वे दोनों पद (सत्य और सत्ता) सत् और असत् की समन्विति सिद्ध होते हैं। इस 'सत्-असत्' की समन्विति में 'सत्' कारित्व का और 'असत्' क्रियात्व का निरूपक है । इन्हें 'शक्ति के रूपान्तरण' और 'रसायनशास्त्र के तत्त्वों के आयनीकरण' तथा 'रासायनिक बॉन्डिङ्ग' (Chemical bonding) के सिद्धान्तों के आधार पर 'यौगिकों के निर्माण' और 'सृष्टि-विस्तार' के साथ उसके 'तात्त्विक रूपान्तरण' की प्रक्रिया को भी समझा जा सकता है । इसके साथ ही आर्ष दर्शन की, महाप्रलय एवं खण्ड प्रलय के साथ अन्य, वैकासिक अवधारणाओं को भी आसानी से समझा जा सकता है ।

वस्तुतः, आर्ष दर्शन शक्ति के सम्पूर्ण क्रिया-कलाप का द्रष्टा है । आर्ष दर्शन में क्रिया, अपनी प्रसुप्तावस्था (dorment) में हो कि कार्यकारी अवस्था में, पूर्णता की स्थिति में ही होती है । **पूर्णमदः पूर्णमिदं...** की औपनिषदीय मन्त्रोक्ति (बृहदा॰ उप॰ 5.1.1) इसका ही साक्ष्य है । **ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥**

वस्तुतः, यह मन्त्र शक्ति की पूर्णता और उसके संरक्षण (Conservation) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है । सृष्टिकाल में 'क्रिया' कारित्व में बदलकर फिर अपने ही इस रूपान्तर की समन्विति में कार्यकारी-कार्यविस्तारक शक्तिमान्‌रूप (कार्यरूप) से पूर्ण होती है; और महाप्रलयकाल में कारित्व क्रियारूप में बदल और उसमें ही आत्मसातित हो उसे पूर्ण कर जाता है ।

शक्ति की कार्यकारिता, वस्तुतः, उसके अपने ही शक्तिमान्‌रूप कार्यकारी-कार्य होने के कारण में निहित हैं । 'शक्ति+शक्त'=शक्तिमान् के रूप में शक्ति ही अपना रूप बदलती समन्वित होती हुई कार्यकारी रूप धारण करती है । शक्ति अपनी शक्तिगतता नहीं छोड़ती । शक्ति का कार्यकारी रूप अर्थात् वस्तुगतता उसकी तरह ही अनन्तधर्मा होती है । शक्ति की अनन्त रूपात्मकता का द्रष्टा ऋषि शक्ति के नियमों का द्रष्य-ज्ञाता है । शक्ति के नियम अपरिवर्तनीय हैं; क्योंकि देश-काल-परिस्थिति के अनुसार शक्ति की कार्यकारिता निश्चित राह पर चलती और निश्चित कार्यकारी रूप धारण करती है । तत्त्वों (elements) का पिरिऑडिक टेबल (Periodic Table) रसायनशास्त्र के अधीन उसकी भौतिक और रासायनिक स्थिति तथा उनकी तत्त्वगतता साम्बधिक विस्तृति का भविष्य कह सकता है । (Periodic Table is a table of elements arranged in order of increasing atomic number to show relationship in chemical nature between elements.)

सृष्टि का विस्तार, वस्तुतः, शक्ति (Energy) के रूपान्तरणों और उनके नियमबद्ध समन्वयनों पर निर्भर है । शक्ति पर शक्ति का ही प्रभाव पड़ता है । शक्ति (energy), वस्तुतः, वस्तु की कार्य करने की क्षमता है । जिस परिस्थिति में वस्तु हो, उस परिस्थिति में वस्तु जो कार्य कर सकती हो वही शक्ति का नाप है । परिस्थिति (Circumstances) को स्थिति (Position), अनुन्यास (configuration) या गति (Motion) के रूप में देखा गया है । [The capacity of a body for doing work is known as energy. It is measured by the total work the body can do under the circumstances (position, Configuration, or motion) in which it is placed.]

'कार्य' का एक पर्याय काम (Work) भी है । यह कार्यकारी शक्ति बल (Force) का विषय है । बल द्वारा या बल के विपरीत कार्य तभी किया हुआ माना जाता है, जब कि बल का लगाव या क्रियात्मक बिन्दु (Point of application) बल की दिशा या उसके विपरीत चले ।

(Work is said to be done by or against a force when its point of application moves in or opposite to the direction of the force)

स्पष्ट है कि कार्य, वस्तुतः, शक्ति के क्रियारूप का शक्ति के कारित्वरूप पर क्रियात्मक प्रभाव की अभिव्यक्ति है । यह अभिव्यक्ति सन्धि और व्याहृतियों के रूप में प्रतिफलित होती है, जिनका वर्णन हमें तैत्तिरीयोपनिषद् (शिक्षावल्ली) में मिलता है । तैत्तिरीय उपनिषद् (1.3) अपने इस वर्णन में संहिता की व्याख्या का सङ्कल्प लेती है– **अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः ।**

वहाँ इस संहिता के पाँच अधिकरण कहे गये हैं– अधिलोक, अधिज्योति, अधिविद्या, अधिप्रजा और अधिआत्मा या अध्यात्म । उपनिषद् ने इन्हें महासंहिता के रूप में लिया है । ता महासंहिता इत्याचक्षते । शिक्षावल्ली के इस वर्णन में, वस्तुतः, वर्णों के बीच होनेवाली सन्धि और उससे उत्पन्न शाब्दिक विकास का आधार लेकर लोकादि की विकासात्मक अभिव्यक्ति को स्पष्ट किया गया है । इस सन्धि-प्रकरण में स्वर, व्यञ्जन, स्वादि, विसर्ग और अनुस्वार को सन्धि का अधिष्ठान माना जाकर सन्धि के पाँच रूप निर्धारित हुए हैं । यहाँ उपनिषद् उनका ही आधार लेकर जागतिक विकास की प्रक्रिया समझाने का सफल प्रयास करती है ।

संधि या संयुक्ति या समन्वय, वस्तुतः, विकास का साधन है; और संधि-विच्छेद उसकी ही विश्लेषणात्मक प्रक्रिया । संयोजन-वियोजन या वियोजन-संयोजन के क्रम में ही शक्ति का वास्तविक कार्यकारी विकास अनन्तगामी हो पाता है । शक्ति का यह अनन्तगामी विकास कार्यकारी अर्थात् अर्थकारी होता है । निरर्थक नहीं । स्वर,

व्यञ्जन आदि रूप अपनी ध्वनियों में अलग-अलग व्यवहारतया निरर्थक हो सकते हैं; किन्तु संकेतात्मक अथवा नियमगत समन्वयन से वे अर्थदायी शब्द बनते हैं । ध्यातव्य हैं कि आर्ष दर्शन में 'वाक्' को ब्रह्मरूप लिया गया है । स्वर की नित्यता में व्यञ्जन भी अनित्य नहीं रहते । ये 'अक्षर' कहे गये हैं । शब्दों में अक्षरों का समन्वयन शब्दों को भी अनित्य नहीं होने देता । जीवन का सत्य अक्षरों में ही वर्णित या व्याख्यायित होता है । वैसे अनित्यता का अर्थ आर्ष दर्शन में रूपपरिवर्तन ही समझा जाता है, विनाश नहीं । संधि के पाँच ही प्रकरण शब्द-संसार को अनन्तगामी बना जाते हैं। संधि-प्रकरण में व्याख्यायित जागतिक सृष्टि भी अनन्तगामी ही सिद्ध होती है ।

जागतिक सृष्टि के महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं- लोक, ज्योति, विद्या, प्रजा और कार्यकारी शरीर अर्थात् कार्यकारी पुरुष या व्यक्ति । इनके विकासक्रम में भी संधि के ही चार भागों का आधार लिया गया है । ये चार भाग हैं- पूर्व वर्ण या पूर्व रूप, उत्तर वर्ण या उत्तर रूप, सन्धान और सन्धि । 'सन्धान', वस्तुतः, 'संयोजक नियम' का निरूपक और 'सन्धि' फलित कार्य या परिणाम की निरूपिका है । ध्यातव्य है कि उपनिषद् वर्ण-सन्धि में पूर्व या उत्तर के साथ 'वर्ण' पद का और लोक आदि विषयक सन्धि में वर्ण के स्थान पर 'रूप' पद का व्यवहार किया है । यहाँ यह कहना श्रेयष्कर होगा कि आर्ष दर्शन ने 'वर्ण' और 'रूप' के साम्बन्धिक माध्यम से नामरूप-आधाय सृष्टि की अनन्तगामिता का सफल चित्र प्रस्तुत किया है ।

लोक-विकास की स्थिति में हम सन्धिगत चार भागों को इस प्रकार वर्णित पाते हैं- 'भूः' अर्थात् 'पृथ्वी' पूर्व लोकरूप है, 'द्यौः' उत्तररूप, 'वायु' संधान और 'आकाश' परिणाम या सन्धिरूप है । 'भू' से पृथ्वी का तथा 'द्यौ' से द्युति या प्रकाश या स्वर्गलोक का निरूपण होता है । संधान के रूप में वायु और सन्धि के रूप में आकाश की अवधारणा आती है । 'पृथ्वी' और स्वर्ग को पूरक-रूप लिया गया है। इन दोनों के समन्वय का साधन या संधान 'वायु' को माना गया है । वायु की उपस्थिति और इन तीनों की समन्विति में लौकिक जगत् का कार्यकारी रूप सामने आता है ।

इसी तरह ज्योति विषयक ज्ञान में हमें अग्नि, आदित्य और विद्युत के समन्वय-प्रयास से प्राप्त जल परिणामित मिलता है ।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'अग्नि' भूलोक की ज्योति है और 'सूर्य' द्युलोक की । दोनों के बीच का समन्वयक अंतरिक्षीय विद्युत है, जिससे जल (आपः) का प्रतिफलन होता है । ध्यातव्य यह है कि जल-वृष्टि में विद्युतीय शक्ति का विशेष महत्त्व है । दो विपरीतात्मक मगर पूरक विद्युतावेश वाले बादल-समूह के परस्पर मिलने या टकराने से अन्तरीक्षीय बिजली या अग्नि प्रतिफलित होती है । फिर,

ध्यातव्य यह भी है कि अग्नि-तत्त्व से जल की उत्पत्ति होती है। मनुस्मृति की उक्ति है– ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः। अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ अर्थात् तेज से जल उत्पन्न होता है, जिसका गुण रस है। फिर जल से भूमि उत्पन्न होती है, जिसका गुण गन्ध है। (मनु० 1.78)

इस सन्दर्भ में यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि 'मन'-रूप महत् तत्त्व की कार्यकारी शक्ति (सत्-असत्) से आंकाश की उत्पत्ति (विकासात्मिका) होती है। शब्द आकाश का गुण कहा गया है। फिर आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है। वायु का गुण स्पर्श है। फिर, वायु से तेज की उत्पत्ति होती है जिसका गुण रूप है। (मनु० 1.74 से 77)।

विद्यारूपी संहिता में आचार्य पूर्वरूप है और अन्तेवासी अर्थात् समीप निवास करनेवाला शिष्य उत्तररूप है। 'प्रवचन' संधान और 'विद्या' संधि है। आचार्य और शिष्य का मिलन जब आचार्य के प्रवचन द्वारा होता है तो विद्या का विकास होता है। इसी तरह पूर्वरूप माता और उत्तररूप पिता का संधान जब प्रजनन क्रिया द्वारा होता है तब प्रजा संतानरूप विकसित होती है। प्रजनन सिसृक्षा है और यह विस्तार का कारण है।

अब अध्यात्म की बात। पूर्वरूप मुख का 'अधरा हनु' (निचला जबड़ा) उत्तररूप 'उत्तरा हनु' (ऊपर का जबड़ा) का संयोजन या संधान जब जिह्वा द्वारा होता है तब सन्धिरूप वाक् या वाणी प्रतिफलित होती है।

वाक् की उत्पत्ति जबड़ों के खुलने तथा बन्द होने के बीच मुख गुहा में प्राण-वायु के वर्णानुसार कम्पन तथा उस पर कण्ठ, तालू, मूर्द्धा, दन्त (दाँत), ओष्ठ (ओठ), नासिका (नाक), जीभ (जिह्वा) आदि के अलग-अलग तथा समन्वित प्रभाव से होती है।

यहाँ यह स्पष्ट होना आवश्यक है कि प्रयत्न में 'वायु' या 'प्राण' मूलाधारचक्र से उत्थित होता तथा षट्चक्रों से संस्कृत होता हुआ मुखगुहा से निकलकर वाक्रूप धारण करता है। इसे ही जब कण्ठ से मुखगुहा की ओर न जाने दिया जाकर मस्तिष्क-स्थित सप्तम् चक्र, 'सहस्रार' की ओर ले जाया जाता है तब प्रकाशवत् 'सत्य' का दर्शन होता है। इसे योगी अपनी योग-साधना से प्राप्य मानते हैं। पर यह ऐसा है नहीं। 'क्रिया' का कोई भी द्रष्टा अपने मनः संयमन में इस प्रकाश की अनूभूति कर सकता है। वस्तुतः, 'प्रकाश' बाहरी सत्य और 'सत्य' अन्तः प्रकाश है। बाहरी सत्य वैयक्तिक और अन्तःप्रकाश का सत्य पारमार्थिक है। 'क्रिया का द्रष्टा' ही परमार्थसत्य को देखता है। क्रिया का द्रष्टा स्वयं में योगी भी है और याज्ञिक भी।

यहाँ उपनिषद् के भाष्यकार ने 'अध्यात्म' को आत्मिक शरीर और वाक् की समन्विति माना है । उपनिषद् की अध्यात्म से सन्दर्भित मन्त्रोक्ति को देखें– **अथाध्यात्मम् अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् वाक् संधिः । जिह्वा संधानम् । इत्यध्यात्मम् ॥** (तैत्तिरीय उप० 1.3) भाष्यकार द्वारा 'अध्यात्म' का शब्दिक अर्थ 'आत्मविषयक' अर्थात् 'आत्मा से सम्बन्धित' विषय के रूप में लिया गया है । **आत्मनः सम्बद्धम् ।** इसे 'आत्मा और परमात्मा' के बीच के सम्बन्ध का भी निदर्शक माना गया है ।

डॉ० राजबली पाण्डेय के 'हिन्दू धर्म कोष' के अनुसार– **अमरिकी वेदान्ती इमर्सन ने इसका अर्थ 'अधीश्वर आत्मा' (Over Soul) किया है । वास्तव में जो पदार्थ क्षर अथवा नश्वर जगत् से ऊपर अर्थात् परे है उसको अध्यात्म कहते हैं । इस रूप से 'अध्यात्म' परमात्मरूप सिद्ध होता है ।**

फिर, उपर्युक्त औपनिषदिक मन्त्र की व्याख्या भाष्यकार द्वारा इस प्रकार दी गयी है– ''इस मन्त्र में शरीरविषयक संहिता-दृष्टि का उपदेश किया गया है । शरीर में प्रधान अङ्ग मुख है, अतः मुख के अवयवों में संहिता का विभाग दिखाया गया है ।'' मन्त्र में वाणीरूप संधि के प्रकट होने का कारण जिह्वा की संधानरूपता में निहित है । जिह्वा के बिना व्यक्ति कोई भी शब्द नहीं बोल सकता । वाणी में शारीरिक और आत्म विषयक, दोनों तरह की सिद्धि प्राप्त कर सकने की सामर्थ्य है ।

वस्तुतः, 'अध्यात्म' पद 'अधि' और 'आत्म' का संधिरूप है । 'अधि' की व्युत्पत्ति 'आ+धा+कि पृषोदरादि ह्रस्वः'' के रूप में हुई है । 'अधि' का अर्थ ऊर्ध्व, 'आगे बढ़कर', 'के सम्बन्ध में', 'स्वामित्व', 'प्रधान' आदि लिया जाता है ।

उपर्युक्त औपनिषदिक संधिपरक व्याख्या स्पष्टतः 'क्रिया-कारित्व' समन्वय से प्राप्य 'अर्थ' की अनुरूपता रखती है । इस रूप में ही उपनिषद् ने आगे संधिरूप प्राप्त चतुर्थ स्थानी परिणाम को व्याहृतिरूप से 'ब्रह्म', 'आत्मा' और महिमावान् भी कहा है । इस महिमावान् को उसने 'महः' कहा है ।

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः ।

इस मन्त्र के आधार पर 'भूः' को पृथ्वी लोक, 'भुवः' को अन्तरिक्ष लोक, 'सुवः' को स्वर्गलोक और महः को आदित्यलोक कहा है । 'आदित्य' से ही भूः, भुवः और स्वः महिमान्वित (महीयन्ते) होते हैं । इसी तरह ज्योतिरूप से 'भूः' को अग्नि, भुवः को वायु, 'सुवः' को आदित्य और महः को चन्द्रमा कहा है । फिर विद्या के सन्दर्भ से 'भूः' को ऋग्वेद, 'भुवः' को सामवेद, 'सुवः' को यजुर्वेद और 'महः'

को ब्रह्म कहा है। ब्रह्म से ही सम्पूर्ण वेद महिमान्वित होते हैं। प्राण के सन्दर्भ से 'भूः' को प्राण, 'भुवः' को अपान, सुवः को व्यान तथा 'महः' को अन्न कहा है। अन्न से ही सब प्राण महमान्वित होते हैं।

उपर्युक्त व्याख्या में 'लोक', 'ज्योति', 'विद्या' (वेद) और 'प्राण' आदि चार के सन्दर्भ से चार-चार व्याहृतियों अर्थात् कुल सोलह व्याहृतियों की चर्चा हुई है। उपनिषद् कहती है इन सोलह व्याहृतियों को तत्त्वतः जाननेवाला ही ब्रह्म को जाननेवाला होता है। इस ब्रह्मज्ञानी के लिये ही समस्त देवता भेंट समर्पित करते हैं। 'भेंट' फलित शुभ कार्य का प्रतीक है।

उपर्युक्त वर्णन में 'महः' को प्रकारान्तरतः कार्यब्रह्म कहा गया है और संधि प्रकरण से पूर्वरूप, उत्तररूप और संयोजक रूप को उनकी समन्विति में कारणब्रह्म कहा है। स्पष्ट है कि कारण ब्रह्म से जहाँ कार्यब्रह्म विकसित होता है, वहाँ कार्यब्रह्म से कारणब्रह्म कार्यकारी होता है।

महः को 'ब्रह्म' कहते हुए उपनिषद् ने उसे आत्मा भी कहा है। इस तरह महःरूप 'आत्मा' या 'ब्रह्म' लोक, ज्योति, प्राण, विद्या आदि सब में व्याप्त सिद्ध होता है। आत्मा के पाँच कोष इसी रूप में अवधारित है। आत्मा के पाँच कोष, बाहर से भीतर की ओर, इस तरह हैं– अन्नमय कोष, प्राणमयकोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। कार्यब्रह्म को कारणब्रह्म द्वारा जानना ही उस कार्यब्रह्म के लिये आनन्दमय होना है। ऋग्वेद जब यह कहता है **इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥** (ऋ० 10.129.7) तो वह कारणब्रह्म के ज्ञाता होने का ही प्रश्न पूछ रहा होता है।

इस तरह आत्मा अपने-आपमें क्रमशः अन्न, प्राण मन, विज्ञान और आनन्द की समष्टि है। वह स्वयं में सार्व या परम के प्रतीक सार्व का द्रष्टा-ज्ञाता-व्याख्याता है।

शरीर, वस्तुतः, इन्द्रियरूप है। इन्द्रियाँ प्राणमय हैं; और, मनोमय मन प्राण के आश्रय हैं। इन कोषों में अन्नमय कोष स्थूलतम और आनन्दमय कोष सूक्ष्मतम है। 'स्थूल' में 'सूक्ष्म' की व्याप्तता स्वयंसिद्ध है। इस तरह स्थूल अन्नमय कोष में सूक्ष्मतर प्राणमय कोष व्याप्त है। इसी तरह प्राणमय कोष में मनोमय कोष; मनोमय कोष में विज्ञानमय कोष; विज्ञानमय कोष में आनन्दमय कोष व्याप्त है। द्रव्यात्मक स्थूल शरीर के समरूप उसमें ही व्याप्त शक्त्यात्मक सूक्ष्म शरीर ही मनोमानव है। यही अथर्ववेद का अध्यात्म देवता है।

'मन' इन्द्ररूप है । आर्ष दर्शन में 'मन' सृष्टि का कारण होने से कारणब्रह्म है । देवता 'मन' के ही कार्यकारीरूप हैं । महःभाव से चतुर्थ स्थानी देवता इन्द्र कार्यकारी कार्यविस्तारक होने से मनोमानवरूप कार्यब्रह्म है । **मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः । ('अङ्गान्यन्या' = अङ्गानि+अन्या) ।** देवता मनोरूप होने से मनोमानव को निरूपति करते हैं मनु स्मृति कहती है– **यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्त्स्येमान्याश्रयन्ति षट् । तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥** (मनु० 1.17)

तात्पर्य है कि पञ्महाभूत और उनका कारणरूप उनकी पञ्चतन्मात्राएँ तथा अहंकार की समन्विति से शरीर अस्तित्वमान होता है । शरीर, वस्तुतः, बाह्य कार्यकारी शक्ति है और अन्तःकरण आभ्यन्तरिक कारणशक्ति । कहा भी है– **षडाश्रयणात् शरीरम् ।** अर्थात् शरीरोत्पादक छः सूक्ष्म अवयवों (पञ्च तन्मात्राएँ एवं अहंकार) का आश्रयी शरीर कहाता है ।'' (मनुस्मृति)

अब हम ऋग्वेदीय इस उक्ति की ओर देखते हैं– **सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥**

यहाँ 'पुरुष' पद क्रियापुरुष अर्थात् 'कारण पुरुष' के लिये हैं और 'सहस्र' पद 'अनन्तता' का निदर्शक है । श्वेताश्वतर उपनिषद् प्रायः ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्र (सहस्रशीर्षा...) को ही इस प्रकार प्रस्तुत करता है– **अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् । विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥** (श्वेताश्व० 5.13)

यहाँ विश्व के स्रष्टा का कारणरूप से अनादि अनन्त और कार्यरूप से अनेकरूपी कहा गया है । अपनी अनादि-अनन्तरूपता में वह दुर्गम संसार (कलिल) के भीतर (मध्ये) कारणरूप से व्याप्त है । और, कार्यकारी विश्वरूप में उसी की अनेकरूपता प्रदर्शित होती है । **और वही एक अद्वितीय इस अनेकरूपा वैश्विक सृष्टि को परिवेष्टित किये अर्थात् घेरे हुए है । इस देवरूप अर्थात् कार्यकारी शक्ति को जानकर मनुष्य समस्त बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो सकता है ।**

स्पष्ट है कि बिना कारण को जाने कार्य की व्याख्या नहीं हो सकती; और, कार्य की व्याख्या हो जाने के बाद कोई दुश्चिन्ता नहीं रह जाती । उपर्युक्त ऋग्वेदीय मन्त्र में भूमिं और विश्वतो पद, वस्तुतः, उसी देवरूप शक्ति के व्याप्ति-स्थान के प्रतीक हैं । 'भूमि' में कारणरूप से और विश्वरूपता में कार्यरूप से विस्तीर्ण शक्ति ही सृष्टिरूप में दृष्टिगोचर होती है । ध्यातव्य है कि इसी शक्तिगत अर्थात् देवरूप कारण-कार्य की समन्विति को अध्यात्म पुरुष कहा गया है । इसे ही ऐतरेय उपनिषद्

(1.2.3) ने पुरुषो वाव सुकृतम् कहा है । शक्त्यात्मक कार्यकारी शक्ति ही 'शिव' या 'शक्तिमान्' या 'स्वयम्भू' कहा गया है । यह शक्तिमान् ही अपने स्रष्टा-द्रष्टा रूपों में सर्वशक्तिमान्, सर्वव्याप्त, और सर्वज्ञ है; अथर्ववेद का 'अध्यात्म' देवता भी यही है; और यह शक्तिमान् ही महाभारत का 'बालमुकुन्द' भी है ।

भाष्यकारों ने 'अध्यात्म' पद से शरीर और मन की समन्विति का अर्थ लिया है । 'शरीर' अपने कार्यकारीरूप में, वस्तुतः, क्रियारूप आत्मिक (मनस्) शक्ति और 'कार्यकारी रूप' ऐन्द्रियक शक्तियों का समन्वय है । इन्द्रियाँ कार्यकारी या कार्यनिर्वाहक देव शक्तियों का निवास-स्थल हैं ।

'आत्मन्' पद 'अत्+मनिन्' रूप में व्युत्पन्न है । इस तरह 'अध्यात्म' पद 'अधि+आत्मन्' रूप से व्युत्पन्न सिद्ध होता है । 'अधि', वस्तुतः, आधिक्य का पर्याय है । और, इस तरह यह आत्मा के बाह्य आवरण या कोष का निरूपक सिद्ध होता है । पुरुष सूक्त (ऋ० 10.90) का पहला मन्त्र इसी अध्यात्म देव (पुरुष) का चित्रण करता है । सहस्रता शक्ति की असीमता-अनन्तता का पर्याय है । शीर्ष अनेकता का, पाद गत्यात्मकता या कार्यकारिता का और अक्ष ज्ञातव्यता का प्रतीक है । और, वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् का दशांगुल ऐन्द्रियक शरीर का निरूपक है । आत्मा मनोशक्ति का पर्याय है और अध्यात्मा कार्यकारी मनोशरीर का निरूपक । अध्यात्मपुरुष का पारमार्थिक स्वरूप ही 'मनुष्यजा' के रूप में सृष्टिगत कार्यकारी कार्यविस्तारक रूप सिद्ध होता है । यह सृष्टि आर्ष दर्शन में कार्यब्रह्म के रूप में देखी गयी है ।

तैत्तिरीयोपनिषद् (3.10) की मन्त्रोक्ति है– क्षेम इति वाचि । योगक्षेमं इति प्राणापानयोः । कर्मेति हस्तयोः । गतिरिति पादयोः । विमुक्तिरिति पायौ । इति मानुषीः समाज्ञाः ।

अर्थात्, 'वाणी' में वह रक्षाशक्ति के रूप से है; प्राण और अपान में वह प्राप्ति और रक्षा दोनों शक्तियों के रूप से है; हाथों में कर्म करने की शक्ति के रूप में है; पैरों में चलने (गति) की शक्ति के रूप में स्थित है; गुदा में मल त्याग की शक्ति के रूप में है । मानुष शरीर की यही कीर्ति है (मानुषीः समाज्ञाः)

भाष्यकार ने 'समाज्ञा' से आध्यात्मिक उपासना का अर्थ लिया है ।

इसी मन्त्रोक्ति में आगे कहा गया है कि आकाश में वह सब का आधार बनकर स्थित है । (सर्वमित्याकाशे) ।

इस तरह 'अध्यात्म' कार्यकारी शरीर का निरूपक है ।

आगे का मन्त्रांश है– अथ दैवीः । तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्युति। यश इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे।

स्पष्ट है कि दैवी समाज्ञा, वस्तुतः, क्रियाशक्ति का वह कार्यकारी शक्त्यात्मकरूप है जो मनुष्य एवं सभी कार्यकारी-कार्यविस्तारक शक्ति में होता है। सृष्टि कार्यकारी क्रियाशक्ति का कार्यकारी द्रव्यात्मक रूप है। वृष्टि, विद्युत, पशु, नक्षत्र, उपस्थ आदि सब भौतिक तत्त्व क्रियाबल से ही संचालित होते हैं। मन्त्र के अनुसार वृष्टि में तृप्तिरूप, विद्युत में विद्युतावेश, पशु में स्वामी की यशेच्छा, नक्षत्र में ज्योति और उपस्थ में प्रजनन एवं आनन्दवर्द्धन आदि क्रिया-शक्तियाँ या कार्यनिर्वाहक शक्तियाँ हैं।

आर्ष दर्शन में 'अध्यात्म' कोई रहस्य नहीं, वरन् कार्यकारी क्रियाशक्ति के रूप में ही परिभाषित है। यहाँ 'क्रिया' और 'कारित्व' अर्थात् कारणरूप शक्तियाँ कार्यकारीरूप से समन्वित हुई होती हैं। **आध्यात्मिक उपासना का अर्थ है– कारण और कार्यरूप शक्तियों को जानकर कार्यरूप शक्ति के परमार्थसत्य को प्राप्त करना और परमार्थ के लिये उसका व्यवहार करना।** आर्ष दर्शन की दृष्टि में सम्पूर्ण सृष्टि क्रियामय अर्थात् चेतन है; और वह सहजतः शुभमय है। व्यक्ति की वैयक्तिकता उसे अवैज्ञानिक असहजता की ओर ले जाती है। व्यक्ति जब क्रियादृष्टि का द्रष्टृत्व छोड़, कार्य को परमार्थसत्य से दूर करते हुए मात्र विषयगत वैयक्तिक स्वार्थ की ओर अपने को अभिप्रेरित करता है, तब वह अशुभ ही सिद्ध होता है। ऋग्वेदीय मन्त्रोक्ति 'सत्य' को परमार्थसत्य का अर्थ देने की अनुशंसा करती है– **सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते॥ समानो मन्त्रः समिति समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥** (ऋ० 10.191.2-4)

'मन' से सृष्ट सृष्टि के सब अवयव समान आकूति के हैं। इन्हें तो हृदय की एकता में ही आनन्द की अनुभूति होगी। मन और चित्त की सहज समानता ही समान विचारवाली समिति को परमार्थसत्य की पारमार्थिक व्यावहारिकता तक ले जाती है।

'शरीर' को 'मन' से अलग समझने अथवा 'मन' को शरीर से अलग समझनें की भूल ने ज्ञान और अनुभव को अलग करते हुए मतवाद का श्रीगणेश तो किया ही, **समिति समानी** को तोड़ते हुए **समाना हृदयानि वः** की पूरकता को विरोधात्मक बना गया। **समानी व आकूतिः** का व्यक्तिगत बँटवारा स्वयं मानुषी समाज्ञा को जैसे व्यक्ति से दूर ले जाकर फेंक आया। फलतः, हमने शक्ति और शक्तिमान् को अभेदित मानकर, शक्तिरहित शक्तिमान् को 'पत्थर' का रूप दे, उसकी उपासना प्रारम्भ कर दी।

'अध्यात्म', वस्तुतः, शरीररूप कारित्व या कारकत्व-शक्ति और मनोरूप क्रियात्व शक्ति की समन्विति है। यह एकाकी न तो कारित्व है और न ही क्रियात्व। 'मन' साधक को 'धर्म' (धृ+मन्) रूप से बौद्धिक स्तर पर ज्ञानेन्द्रिय के माध्यम मति, आत्मन् और ब्रह्म-परब्रह्मरूप परमार्थसत्य तक पहुँचाता है; और मनोरूप स्वयम्भू ही उस साधक को परब्रह्म एवं ब्रह्म के माध्यम से कर्म (कृ+मनिन्) के स्तर पर आत्मन्, मति, धर्म अर्थात् संयमित मनोरूप व्यक्तित्व और व्यक्तिरूप स्थूल सृष्टि का रहस्य समझा जाता है। यह औपनिषदिक पूर्ण का वह रूप है, जो मनःप्रकाश में चेतनमय कार्यकारी रूप में साक्षातित होता है। उपासना मनोदीप को जलाना है। मनःप्रकाश में पूर्ण के पूर्णत्व को देखे बिना व्यक्ति न तो सृष्टि को समझ पाता है और न ही अपनी सृष्टिगतता को। परमार्थसत्य इसी पूर्ण का पर्याय है; और, 'अध्यात्म' इसी पूर्ण का रूपगत व्याख्यान या अभिव्यक्ति या व्याहृति है। यही 'पूर्ण' अथर्व वेद का अध्यात्म देवता है।

गीता ने इसी 'नित्य पूर्ण' के ज्ञान को 'अध्यात्मज्ञान' कहा है। **अध्यात्मज्ञान नित्यतत्वं**। (गी० 13.11)। श्रीकृष्ण ने इसी 'अध्यात्म' को अपना स्वभाव माना है– **अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते**। (गी० 8.3) और, विद्यारूप से श्रीकृष्ण ने अपने को अध्यात्मविद्या कहा है। **अध्यात्मविद्या विद्यानां** (गी० 10. 32)। श्री कृष्ण को पूर्णावतार कहा जाता है। 'पूर्ण' धृ+मन् रूप धर्म-दृष्टि से ही देखा जा सकता है, चञ्चल मन से नहीं। और, **चञ्चल मन** (गीता 6.34) को ऐन्द्रियक वैराग्य के अभ्यास से ही जीता जा सकता है (वही 6.35)।

आर्ष दर्शन, वस्तुतः, रहस्यात्मक नहीं, वरन् जागतिक सत्य का पारमार्थिक विज्ञान है; और उसके ज्ञान का साधन है 'आध्यात्मिक उपासना' अर्थात् क्रिया-संसार में रहकर क्रियाशक्ति के कार्य-कलापों को देखना-जानना-व्यवहार करना। उपनिषद् की महत्ता इससे ही है। 'तर्क' साक्षात्कृत सन्दर्भों में सुफलित होता है, मात्र सांशयिक प्रश्नों के व्यक्तिगत पूर्वग्रहों से ग्रस्त उत्तरों में नहीं।

अथर्व वेद का 'अध्यात्म' देवता अपने को उत्तम पुरुष और 'अहं' सर्वनाम से व्यक्त करता हुआ अपनी क्या सबों की कार्यकारिता को उद्घाटित करता है– **अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि**।

वस्तुतः, यह 'अहं' (मैं) अपने क्रियात्वरूप की दृष्टि से ही 'सार्व' और 'परम' को देख-समझ और व्याख्यायित कर सकने में समर्थ होता है। यह 'मैं' ऋग्वेद के **आनीदवातं स्वधया तदेकं** (ऋ० 10.129.2 अंश) से भिन्न कोई दूसरा नहीं और वह स्वयं अपने परमत्व और सार्वत्व की व्याख्या ऋग्वेद की इस मन्त्रोक्ति में पाता है– **कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्यां कवयो मनीषा**॥ (ऋ० 10.129.4)

उपनिषद् (तैत्तिरीयोपनिषद् 3.10) इसकी व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत करती है– तत्प्रतिष्ठित्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत ।

फिर कहा है– महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति । तन्नम इत्युपासीत । स्पष्ट यह मानवान् स्वयं में अध्यात्मदेव है ।

4. सत्-असत् :

मनुस्मृति ने प्रलय काल को 'सर्वत्र सोते हुए के समान' (प्रसुप्तमिव सर्वतः) माना है । इस प्रसुप्तावस्था में मनु ने जगत् को अंधकारमय रूप में देखा। यह किसी भी तरह जानने के आयोग्य था । इसमें जीवन का कोई लक्षण नहीं था। जगत् अप्रतर्क्य और अविज्ञेय था । मनुस्मृति इसके बाद सीधे स्वयम्भू भगवान् अव्यक्त के प्रादुर्भाव पर उतर आती है । वह सीधे 'कारक' पर पहुँचकर 'कार्य-कारण' की स्थिति को उपेक्षित कर जाती है । वेद ऐसा नहीं करता । वेद वहाँ उस 'एक' को देखता है, जो उस अवात (वायुरहित) स्थिति में भी अपने की ही आहूति (स्वधया) से अस्तित्वमान् था । वह 'एक' अपने-आपमें अद्वैत कारणरूप से अस्तित्वमान् था। उस 'एक' को वेद ने 'तत्'-रूप देखा है । वेद ने प्रलयकाल की स्थिति को जिस रूप में देखा वह ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में दृष्ट हुआ है ।

सूक्त का नासदीय नाम क्यों ? 'नासदीय' को 'न असदीय' के रूप में देखा जा सकता है । किन्तु, सूक्त का पहला मन्त्र ही इस दुविधा का समापन कर देता है । मन्त्र है– नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत् । किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ (ऋ० 10.129.1)

(न असत् आसीत् नो सत् आसीत् तदानीं न आसीत् रजः न व्योमोपरः यत्। किम् आवरीवः कुह कस्य शर्मन् न अम्भः किम् आसीत् गहनं गभीरम् ।।)

स्पष्ट है कि नासदीय सूक्त मात्र असत् के अनस्तित्व की बात नहीं करता, वरन् वह तो 'सत्' के अनास्तित्व की भी बात करता है । वह जागतिक हर तत्त्व को अनास्तित्विक ही देखता है । हाँ, अगर देखता है तो वह उस एक 'तत्' को देखता है, जो आनीदवातं स्वधया अस्तित्वमान् है । स्पष्ट है कि प्रलय की समाप्ति सृष्टि के प्रारम्भण में और सृष्टि की समाप्ति स्वयं सृष्टि के प्रलयित होने में होती है । इस तरह सृष्टि स्वयं में शक्ति के रूपान्तरण और रूपान्तरणों के संयोजन-वियोजन की प्रक्रिया है । सृष्टि का प्रलयन शक्ति-रूपान्तरणों के बीच शक्ति के शक्ति में ही आत्मसातन से होता है।

आर्ष दर्शन 'विकास' का द्रष्टा-व्याख्याता है, जन्म-मृत्यु का द्रष्टा व्याख्याता नहीं। वह न तो लोकेतर सृष्टि का द्रष्टा-व्याख्याता है और न लोकेतर ईश्वर या ब्रह्म का द्रष्टा-व्याख्याता। वह साक्षात्कृत-धर्माण है। आर्ष दर्शन निश्चिति अर्थात् प्रमा का पक्षधर है, संशयात्मक तर्क का नहीं। इस तरह उसका कारण-स्रष्टा और कार्य-सृष्टि लोकरूप से ही लोकरूप में अस्तित्वमान् है। उसका कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म दोनों सत्य अर्थात् पूर्ण हैं। **बृहदारण्यक उपनिषद् का पूर्णमदः पूर्णमिदं** इसका ही उद्घोषक है।

लोक (लोक्यतेऽसौ लोक्+घञ्), वस्तुतः, साक्षात्करण या प्रत्यक्षण का विषय है। 'लोक्' धातु का अर्थ है– 'देखना', 'प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना'। स्पष्ट है कि आर्ष दर्शन के लिये लोक से परे कुछ भी नहीं है। और 'लोक' जन्म-मरण का विषय नहीं, वरन् विकास का विषय है। 'लोक' का रूप अनायास या बिना नियमानुकरण के सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में ब्रह्मसूत्र (2.1.33) के इस सूत्र **लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्** का अर्थ 'प्रयोजनविहीन लीलामात्र' नहीं किया जा सकता। पं० पञ्चानन तर्करत्न ने अपनी रचना 'ब्रह्मसूत्र पर शक्तिभाष्य' में 'ब्रह्म' का उमारूपग्रहण एवं जगत् सृजन लीलामात्र के लिये है, ऐसा प्रतिपादित किया है।

ऐसा इसलिये हुआ है कि 'सत्-असत्' को वैदिक अर्थात् वैज्ञानिक अवधारणा के ठीक उलटरूप अर्थात् अवैज्ञानिक रूप में देखा गया है। 'सत्' को सत्य या अस्तित्वमान् और 'असत्' को असत्य या अस्तित्वहीन मानना स्वयं दर्शन के लिये ही नहीं, मानवता के लिये भी भारी पड़ा है।

हम पहले वैदिक अवधारणा को स्पष्टतः देखने का प्रयास करते हैं। 'ब्रह्म', वस्तुतः, मात्र महेश्वर या शिव नहीं; और न ही मात्र उमारूप है। और, न ही 'शक्ति से अभेदित शक्तिमान्' ही है।

शक्त्या विरहितः शक्तः शिवः कर्तुं न किञ्चन के आधार पर 'शक्ति' और 'शक्त' अर्थात् 'क्रिया' और 'कारित्व' के समन्वय के बिना न तो 'शक्त' कार्यकरी हो सकता है और न ही 'शक्ति' कार्यकारी हो सकती है। किन्तु यह भी सत्य है कि 'शक्ति' प्रतिबन्धित या प्रसुप्त रहकर कार्य से विमुख रह सकती है; क्योंकि यह 'क्रिया ही है जो कारित्व में रूपान्तरित और फिर उससे ही समन्वित होकर कार्यकारी होती है। प्रलयकाल में यह कारित्व है, जो क्रियात्व में रूपान्तरित होकर क्रिया में आत्मसातित हो जाती है; क्योंकि क्रियां या क्रियात्व ही नित्य है, कारित्व या कारकत्व नहीं। 'कारित्व' या 'कारकत्व' क्रिया की सिसृक्षा की पहली

परिणति है । आर्ष दर्शन में 'क्रिया' या क्रियात्व का पर्याय 'असत्' तथा कारित्व या कारकत्व का पर्याय 'सत्' है ।

सत्-असत् तत् की सिसृक्षा की परिणति हैं । तत्, वस्तुतः, 'क्रियात्व' या प्रतिबन्धित (restrained) या प्रसुप्त या विशुद्ध शक्ति का निरूपक है । सिसृक्षा अर्थात् 'काम' 'तत्' का विषय है, जो सिसृक्षा के साथ सत्-असत् में विभेदित और उनके परस्पर के समन्वयन के साथ कार्यकारीरूप 'शिव', 'शक्तिमान्' या 'कारक' या सत्ता का रूप धारण करता है ।

दूसरे शब्दों में कारक कार्यरूप है । कार्य से ही कार्य का विस्तार होता है। क्रिया और कारित्व के समन्वय से कार्यरूप 'कारक' विकसित होता है । सत्-असत् का समन्वय ही 'सत्ता' रूप कारक की विकसिति और इस तरह सृष्टि-विकास का कारण है ।

'क्रिया' की नित्यता, पूर्णता, असीमता, अनन्तता, निगुर्णता, निर्विकारिता एवं रूपान्तरता सृष्टि की अनन्तता और सान्तता का कारण है । विकास में रूपान्तरण 'विनाश' या 'मृत्यु' का पर्याय नहीं । यही कारण है कि आर्ष दर्शन में 'मृत्यु' पद का कोई स्थान नहीं । गीता इसी तथ्य को तब उजागर करती है जब श्रीकृष्ण आर्ष दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हुए स्पष्ट करते हैं– **न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (गीता 2.20)**

यहाँ 'शरीर' पद कारित्व या कारकत्व को, और **अजो नित्यः** क्रियात्व या क्रिया को निरूपित करता है । **हन्यमाने शरीरे** के कारण ही **अजो नित्यः शाश्वतः पुराणः** अपने **जीर्णानि वासांसि** को बदलकर **नवानि गृहणाति** अर्थात् नये वस्त्र ग्रहण कर लेता है । गीता की उक्ति है– **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि । तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ (गीता 2.22)**

देह-देही, शरीर-शरीरी, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, वस्तुतः, 'शक्त-शक्ति' अथवा कारित्व क्रिया के ही निरूपक हैं । सृष्टि के कार्यरूप होने से इसका हर अवयव कार्यरूप या अर्थरूप ही दृष्टिगोचर होता है । कार्य अपने पारस्परिक सम्बन्धों में सापेक्षिक ही होते या हो सकते हैं । पाश्चात्य विज्ञान के अनुसार सृष्टि में निरपेक्ष उपलभ्य नहीं।

यहाँ 'कार्य-कारण' को जानने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । पाश्चात्य विचारक हेगेल (Hegel) ने कार्य-कारण सम्बन्ध को इसलिये नकारा; क्योंकि उसे परतम कारण की व्याख्या नहीं मिली । वह अनवस्था दोष के मायाजाल में नहीं पड़ना

चाहता था । शक्ति (Energy) और द्रव्य (matter) का आर्षेतर या पाश्चात्य विभेद सत्-वदियों को आर्ष दर्शन की समझ से दूर ले जा चुका था ।

'सत्य' को सत्‌रूप समझने की भूल ने जहाँ छान्दोग्य उपनिषद् (6.2.2) के अवैज्ञानिक तर्क- कतुस्तु खलु सोम्यैवंस्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । –ने तैत्तिरीयोपनिषद् के इस तथ्य- असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ॥ –को स्वीकारा वहाँ उसने आर्ष दर्शन के सार्वरूप को भी वैयक्तिक बना दिया । 'आत्मा' का सार्वरूप बदलकर व्यक्तिगत बना दिया गया। शक्तिमान् ने 'शक्ति' से अभेदित होकर 'शक्त' और 'शक्ति' की अवधारणा को हटाया ही नहीं, वरन् कारकरूप लेकर लोकेतर ईश्वर की अवधारणा में सिमट गया। वैज्ञानिक भी कार्य-सापेक्ष की अवधारणा में ऐसे सिमट गये कि ऋग्वेदीय 'निरपेक्ष' 'तत्' के 'असत्' पक्ष को ही अनास्तित्विक सिद्ध कर दिया । 'कार्य-कारण' नियम उनके लिये काल्पनिक तथा अनवस्था दोष के कारण अमान्य हो गया । 'परतम कारण' के कारण की जिज्ञासा 'अनवस्था दोष' की अवधारणा को जन्म देती है । वस्तुतः, गीता का अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः द्रव्यात्मक या स्थूल कार्यरूप न होकर द्रव्यगत सृष्टि का कारणरूप है ।

आर्ष दर्शन ने सृष्टि के इस परतम कारणरूप को 'शक्ति' की विशुद्धता के आधार पर 'तत्' कहा है । 'तत्' का 'आनीदवातं स्वधया' रूप 'सत् आहूत' असत् से हमारा परिचय कराता है । सिसृक्षा में असत्‌प्रधान यह 'तत्' ही 'सत्-असत्' के रूप में व्यक्त-अव्यक्त रूप से सृष्टि का कारण बनता है । इस 'सत्-असत्' की समन्विति को मनुस्मृति ने ब्रह्म या ब्रह्मा कहा है । (1.11) । फिर आगे सत्-असत् के समन्वय को मन भी कहा है । (1.74) । 'मन' को मनुस्मृति में महत् तत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसे ही अन्यत्र बुद्धि या मति के रूप में भी स्वीकार किया गया है ।

आर्ष दर्शन ने स्थूल सृष्टि के 'कारण' को दो रूपों में दखा है– 'सूक्ष्मतम कारण और सूक्ष्म कारणजगत् । सूक्ष्मतम कारण' भी दो हैं– क्रियात्व और कारित्व। महाप्रलय में कारित्व भी क्रियात्व में रूपान्तरित हो जाता है । इसे हम आत्मसातन (annihilation) के रूप में देख सकते हैं ।

मन, वस्तुतः, उस कारणजगत् का निरूपक है, जिसमें 'क्रिया' और कारित्व अर्थात् असत् और सत् दोनों समन्वित हैं । 'मन' सत्ता का रूप होने से सत्य है । महाप्रलय में 'मन' का सत्तारूप 'सत्-असत् में विघटित हो अव्यक्त तत् रूप धारण कर लेता है । 'सत्-असत्' समन्विति की सृष्टिगत व्यक्तता अव्यक्त तत्‌रूप में असत्

रूप से आत्मसातित हो जाती है । तत् विशुद्ध क्रियात्व या विशुद्ध शक्तिरूप होने से कार्यकारी नहीं होता । यहाँ मन धातुरूप मन् में रूपान्तरित हो जाता है । यह कारित्व नहीं रह कर क्रिया या क्रियात्व का रूप ले लेता है ।

हेगेल ने भी सत् को 'भाव' या 'सत्य' के रूप में तथा 'असत्' को असत्य या अभाव के रूप में लिया है; किन्तु, इनके समन्वयन को नकारा नहीं है । फलतः अपने समन्वय में उसका सत्-असत् या 'भाव-अभाव' परिणामित भी होता है । किन्तु तब वह 'पूर्ण' (सत्ता) न होकर 'सम्भवन' (becoming) मात्र रह जाता है । दूसरी ओर आर्ष दर्शन में 'सत्-असत्' या 'भाव-अभाव' की पारस्परिक समन्विति 'सत्य' या 'सत्ता' के रूप में परिणामित होती है । सत्य की ही सत्ता होती है । 'सत्ता' ही सृष्टिरूप में विस्तीर्ण होती है । निरुक्त की उक्ति है- **भावप्रधानमाख्यातम् सत्त्वप्रधानानि नामानि । तद्यत्र उभे भाव प्रधाने भवतः ।** भाव यह है कि क्रिया की क्रियाशीलता जब तक पूर्ण नहीं होती है स्थिति सम्भवन की ही स्थिति में होती है । हेगेल ने द्वन्द्ववाद की अपनी व्याख्या में 'भाव' को बिइंग (Being) और अभाव को 'नन बिईंग' (Non-being) के रूप लिया है । ध्यातव्य है कि आर्ष दर्शन में 'भाव' पद से असत् पद की ही तरह क्रिया का अर्थ लिया गया है; और 'अभाव' पद से 'सत्' पद की तरह कारित्व या कारकत्व का अर्थ लिया गया है । इस तरह आर्षेतर दर्शन में आर्ष दर्शन की स्थिति उलट दी गयी है । वहाँ 'सत्' सत्य का और 'असत्' असत्य का पर्याय बना दिया गया है । अब निर्गुण को महत्त्वहीन सिद्ध करते हुए सत् को अस्तित्व (existent) और असत् को अनस्तित्व (non-existent) का पर्याय बना दिया गया । ऐसे में ही राजा के प्रजा रञ्जक-पद को ऐश्वर्य का रूप दिया गया । धर्म तथा दण्ड उसके सहायक बनाये गये ।

ऐश्वर्य में ईश्वर को धर्माधिकार स्वतः हस्तगत हो जाता है । 'धर्म' धारण का अर्थ लेते हुए मन से अलग हो जाता है । 'मन' से अलग धर्म ईश्वर की इच्छा बन जाता है । यहाँ ज्ञान और कर्म अलग-अलग होने को बाध्य होते हैं । श्रमविभाजन का रूप यहाँ से ही बनने लगता है । वर्ण और जाति इसी श्रमविभाजन की देन सिद्ध होते हैं । सृष्टिरूप समाज कार्मिक रूप से अनेकों समाज में बँट जाता है और आचार ही उनका धर्म हो जाता है । परम्परा उन्हें साम्प्रदायिक बना जाती है।

इस तरह दमो धर्मः सनातनः में जहाँ वस्तुनिष्ठता को प्रश्रय दिया जाता है, वहाँ आचारः परमो धर्मः में वैषयिकता को प्रश्रय मिलता है । ऐसे में आचारः परमो धर्मः में साम्प्रदायिकता का विस्तार और सामाजिक विघटन का रूप स्वतः स्पष्ट होता जाता है । राजधर्म के प्रजारञ्जक रूप की आड़ में राजा स्वतन्त्रता देने के बदले अपने लिये स्वेच्छाचारिता को अपनाने से कभी नहीं कतराता। न्याय के नाम पर

नीति-न्याय-दण्ड उसके अधिकार बन जाते हैं । राज्य के कारकून विशिष्ट से विशिष्टतर होते जाते हैं । 'प्रजा' राजा और राज्य के कर्मचारियों के लिये, अर्थप्रदायी हो जाती है । धन (अर्थ) के संग्रह और राज्य के विस्तार में राजा की निरंकुशता और हठधर्मिता या मतान्धता को हवा मिलती है । ब्रह्माण्डीय सामाजिक सहधर्मिता का विचार गौण होता हुआ राष्ट्रवादिता का निवाला बन जाता है । राष्ट्रवादिता भी, अनेक तन्त्रों के अधीन साम्प्रदायिकता और जातिवादिता होते हुए, भाई-भतीजावाद का दामन थामती है । आज बाजार पर आधारित वैश्विक दर्शन में निमग्न विचारक अपने वैषयिक व्यामोह में सार्व की तलाश कर रहे हैं, जो कभी सफलता तक नहीं पहुँच सकती । फिर 'राजनीति' भी आज 'जीवन दशर्न' से अधिक साम्प्रदायिक आचारगत धर्म की उपासना में लगी दिखती है । 'परमार्थसत्य' की आर्ष अवधारणा का दर्शन अब बेमानी-सा बना दिया गया है । हम भी अपनी पाशविक वृत्ति को भुला नहीं पाये हैं; और हमारी पाशविक वृत्ति हमें अन्धविश्वास का सहारा लेकर आज भी पशु बने रहने को ही प्रेरित करती है । 'धर्म' का 'धृ+मन्' रूप स्वयं हमारे मन को भी अरुचिकर प्रतीत होता है । मन का नियन्त्रण हमें कष्टकारी प्रतीत होता है; और, ऐन्द्रियक स्वेच्छाचारिता हमें मनःधृति से दूर ले जाती है । 'फेथ' (Faith) एवं 'बिलीफ' (Belief) जैसे अंग्रेजी पद जहाँ हमें सामान्यता (Universality) से अलग करने को उद्यत रहते हैं, वहाँ वे, वस्तुतः, हमें अन्धविश्वास (Blind faith) और अन्धभक्ति (Blind following) के अधीन छोड़ जाते हैं । वस्तुतः, 'बिलीफ' (Belief) और फेथ (Faith) सार्वपरक (universal) पद हैं, व्यक्तिपरक नहीं । विश्वास, 'फेथ' (Faith) या 'बिलीफ' (Belief) मात्र ऐन्द्रियक विचारणा का विषय न होकर इन्द्रिय, मन, मति (मन्+क्तिन्), आत्मा (अत्+मनिन) और ब्रह्म (बृंह्+मनिन्) की समष्टि में विचारित और अनुष्ठानात्मक अर्थात् प्रयोगात्मक रूप से प्राप्त परिणामों से सम्पुष्ट होने का विषय है । यह मन की धृति और धृत मन की कृति का विषय है, मात्र इन्द्रियंगत चाहत का नहीं । यही संकल्प है ।

इस तरह 'धर्म' (धृ+मन्) जहाँ धृत मन का दर्शन-चिन्तन और विज्ञानन है, वहाँ 'कर्म' (कृ+मनिन्) धृत मन की ही प्रायोजित कृति है । इस तरह 'धर्म' जहाँ क्रिया-दृष्टि है वहाँ 'कर्म' क्रिया-सृष्टि से सम्बद्ध है । दूसरे शब्दों में 'धर्म' मन की तरह ही ज्ञातृ और कर्तृ दोनों रूपों का कारण भी है और समन्वयक भी; साथ ही दोनों की सफलता की कुञ्जी भी है ।

ज्ञान और कर्म धर्म से ही समन्वयित हो मोक्ष का कारण बनते हैं । ज्ञान और कर्म में क्रिया ही सामान्य रूप से आधिकारिक कारण है । ज्ञान में क्रिया को देखा जाता है और कर्म में क्रिया कार्य के लिये क्रियाशील होती है । 'क्रिया', कार्य

जबतक पूर्ण न हो जाय, क्रियाशील ही रहती है और तब कार्य भी अपनी सम्भवन (becoming) की स्थिति में होता है ।

कार्य की परिणति में क्रिया की क्रियाशीलता अपनी कार्यशीलता से विमुक्त हो जाती है । कारित्वरूप क्रिया (कारित्व भाव) अपना रूप धारण कर पुनः आगे की कार्यकारिता की ओर अभिमुख होती है । 'क्रिया' कारित्व को अर्थ देकर स्वयं अपनी कार्यकारिता से मुक्त हो जाती है । कोई भी 'कार्य' शक्ति (कारित्व) पर शक्ति (क्रिया) की क्रियाशिलत्ता से निष्पादित होता है । वस्तु द्रव्यात्मक (material) और 'क्रिया' शक्त्यात्मक (energic) शक्ति है । और 'आनन्द' क्रिया की उपर्युक्त कार्यकारिता से विमुक्ति का विषय है । वस्तुतः, ओम का सत् और चित् से समन्वयन ही आनन्द का कारण बनता है । सत्-चित्-आनन्द की समन्विति ही 'सच्चिदान्द' है । साधक इसी सच्चिदानन्द के ज्ञान के अहंकार में अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से भागा रहता है । उत्तरदायित्व और कर्तव्य कर्म से भागे इन साधकों को धन तो मिल जाता है, किन्तु सन्तोष नहीं मिलता; सच्चिदानन्द नहीं मिलता ।

फिर, 'कारण' क्रियारूप होता है, चाहे वह क्रियात्वरूप हो या कारित्वरूप; और 'कार्य' कारकरूप । 'कारक' में क्रियात्व ही कारित्व रूप से कार्यशील होता है। 'कारित्व' भी क्रिया का ही रूपान्तरण है । ऐसी स्थिति में आदिकारक अथवा आदिकार्य अर्थात् शक्तिमान्रूप स्वयम्भू सम्पूर्ण सृष्टि का कारण सिद्ध होता है । यह स्वयम्भू ही मन-मानव रूप में क्रियापुरुष या मनोपुरुष या मनोदेवता, या जीवन देवता अर्थात् कार्यनिर्वाहक शक्ति है । क्रिया की अव्यक्तता या अमूर्तता कार्य की मूर्तता या व्यक्तता में व्यक्तित्व रूप से प्रकाशित होती है ।

इस तरह कार्यशील क्रिया की कार्यकारिता ही क्रियाशक्तिरूप सृष्टि को व्यक्त करती है । 'सत्' को 'सत्य' या 'सत्तारूप मानने से उसके कार्य को निष्प्रयोजन और इस तरह मात्र लीला के लिये ही किया गया कार्य मानने की मजबूरी आ जाती है । ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य शङ्कर और पञ्चानन तर्करत्न के सामने ऐसी ही मजबूरी है जब वे ब्रह्म की सृष्टि-रचना को मात्र लीला के लिये किया गया कार्य मानते हैं ।

आर्ष दर्शन में कार्य तो क्रिया का ही कार्यकारी विकासात्मक रूपान्तरण है; और सत्-असत् उसके (क्रियाशक्ति के) ही क्रियात्व और कारित्वरूप कार्यनिर्वाहक रूपान्तरित अवयव हैं । क्रियात्व ही कारित्व को कार्यानुरूप नामरूप देता है । स्पष्ट है कि क्रिया की अव्यक्तता निष्प्रयोजन रूप में व्यक्त नहीं होती; क्योंकि सृष्टि का कोई भी वास्तविक अवयव निष्प्रयोजित नहीं ।

सृष्टि का कारण मन है । और, जैसा कि हमने देखा– 'मन' ज्ञान और कर्म दोनों का कारण-स्रोत है । यह 'मन' ही ज्ञानपक्ष में ज्ञानेन्द्रियों, मन, मति आत्मा और ब्रह्म का रूप लेता है । फिर, यह मन ही कर्म पक्ष में कर्मेन्द्रिय के रूप से मन, मति, आत्मा और ब्रह्मरूप में कार्य करता है । ज्ञानपक्ष का ब्रह्म 'वाक् ब्रह्म' या शब्दब्रह्म तथा कर्मपक्ष का ब्रह्म जीवब्रह्म कहा गया है ।

आर्ष दर्शन में मन की उभयात्मकता मति, आत्मा और ब्रह्म को भी उनकी कार्यकारिता में उभयात्मक ही सिद्ध करती है । शक्ति की अद्वैतता अपनी कार्यकारी विभेदिता में भी अपने मूल कार्यकारी समन्वय से अलग नहीं होती । –'शक्ति+शक्त= शक्तिमान्', 'क्रिया+कारित्व =अर्थ', या 'सत्+असत् = सत्ता' आदि सूत्रात्मक वर्णन इसी के साक्ष्य हैं । यही कारण है कि मनुस्मृति भी जहाँ ब्रह्म या ब्रह्मा को सदसदात्मकम् कहती है, वह 'मन' को भी सदसदात्मकम् कहती है । (मनु० 1.11 एवं 74)

शरीर में क्रियाशक्ति विद्युतावेशीय मनोशक्तिरूप होती है और, कारित्व शक्ति अङ्गपरक (organic) या आवयविक। इस तरह मनःक्रियाशक्ति की ज्ञानमय कार्यकारिता में शरीररूप कारित्वशक्ति सब कार्यों के निष्पादन में साधन बनती है।

आत्मा के पाँच कोषों में स्थूल शरीररूप अन्नमय कोष अन्नरूप से अन्नाद का विषय बनता है । यह अपनी प्राणमयता में सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होते प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष आत्मा की कार्यकारिता के साधन बनते हैं। अन्न-शक्ति खाद्य होने के कारण वियोजन योग्य है । यह तत्वतः कारित्वपरक होने से 'क्रिया' में रूपान्तरणीय है । इसे ही प्रलयकाल में सत् का असत्रूप में रूपान्तरण और उसमें ही आत्मसातन अर्थात् 'स्वधया' विलोपन के रूप में देखा गया है । यही कारण है कि यह अन्न है और परतम शक्ति अन्नाद ।

इस तरह आर्ष दर्शन में क्रियाशक्ति का कार्यकारी द्रव्यशक्ति के रूप में विकास और विकसित द्रव्यात्मक शक्ति का क्रियाशक्ति में रूपान्तरण की क्रमिक प्रक्रिया को सृष्टि और प्रलय के रूप में अवधारित किया गया है ।

सत्-असत् के माध्यम से आर्ष दर्शन ने शरीर में कार्यरत कार्यकारी आवेशगत वैद्युतिक क्रियाशक्ति को भी देखा है ।

सृष्टि की शक्तिगत आर्षेय अवधारणा की पुष्टि आइन्स्टाइन के 'सापेक्षता सिद्धान्त' की आधुनिक अवधारणा से होती है । आर्ष दर्शन ने क्रिया की निरपेक्षता के आधारभूत कारण को निरपेक्ष और कार्य को सापेक्षरूप देखा है । कार्य की सापेक्षता उसकी अनेकरूपता या अनन्तरूपता में है । इस रूप में कारणरूप शब्दमय शरीर

अर्थात् क्रियारूप कारण (क्रिया-कारित्व) को शङ्करवल्लभा (पार्वती) धारण करती हैं और 'अर्थ' अर्थात् क्रिया-करित्व की समन्वितिरूप परिणाम को मुग्धेन्दुशेखर अर्थात् स्वयं महेश्वर धारण करते हैं।

शब्दरूपमशेषन्तु धत्ते शङ्करवल्लभा। अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः॥ (शारदातिलक)

क्रिया के कारणरूप होने के कारण उसके दोनों रूप 'क्रिया-कारित्व' को स्त्रीपरक और अर्थरूप कार्य को पुरुषपरक कहा गया है। इस तरह शाक्त जहाँ शक्ति को सम्पूर्ण सृष्टि का कारण मानते हैं, वहाँ 'शैव' सम्पूर्ण सृष्टि को नटराज शिव का नर्तन मानते हैं। फिर दोनों की अनिवार्यता को देखते द्रष्टा-विचारक कारणरूप स्रष्टा को 'अर्द्धनारीश्वर' कहते हैं। स्पष्ट है कि शाक्त और निगुर्णवादी प्रकारान्तरतः कारण-शक्ति के माध्यम से कार्यशक्ति कीं विस्तारिता को देखते हैं और शैव तथा सगुणवादी कार्यशक्ति अर्थात् सगुणता को महत्त्व देने में कारणशक्ति को गौण कर जाते हैं।

स्रष्टा-शक्ति को 'काल' भी कहा गया है। **जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।** अर्थात्– "समस्त उत्पत्तिशील जगत् का कारण काल है और साथ ही वह जगत् का आश्रय भी है।" (कारिकावली से आहृत; स्फोट दर्शन पृ. 6)। आर्ष दर्शन इसे समयाकाश (time-space) के रूप में देखता है।

गीता में श्री कृष्ण ने अपने को कारणपुरुष के रूप में प्रभासित किया है। कारणपुरुष सच-झूठ (सत्य-असत्य) का समन्वय नहीं होता; और, न ही सच-झूठ के समन्वय से पूर्णता प्राप्त होती है। व्यक्त-अव्यक्त, भाव-अभाव आदि भी अपनी पारस्परिक पूरकता, के आधार पर ही कारणपुरुष के वैकासिक कार्यरूप में परिणति के आधार हैं। 'कारणपुरुष कार्य-करण-कर्तृत्व की वैकासिक प्रक्रिया से सृष्टि का स्रष्टा सिद्ध होता है। यह उसकी प्रकृति होती है। गीता की उक्ति– **कार्यकरणकृर्तत्वे-** (13.20) इसी का साक्ष्य है।

प्रकृति (नारी) और 'पुरुष' की सामान्य अवधारणा अपूर्ण ही घोषित करती है; क्योंकि एकाकी वे प्रजा-जनन अथवा कार्यविस्तार में सक्षम नहीं। प्रकृति, वस्तुतः, क्रिया की निरूपिका होने से कारणरूप है। 'संधि' प्रकरण के पूर्व वर्ण, 'उत्तर वर्ण' और 'संयोजक', वस्तुतः, उसके अवयव हैं। इनके संयोजन की अपूर्णता के क्षण तक 'भाव' की स्थिति बनी रहती है। संयोजन की पूर्णता और संयुति की प्राप्ति 'क्रिया' की कार्यकारिता की पूर्णता को सूचित करती है। क्रिया की कार्यकारिता पूर्ण होते ही परिणामित 'कार्य' नामवर या नामरूपआधेय हो जाता है। **भावप्रधानमाख्यातम् सत्त्वप्रधानानि नामानि।** (निरुक्त)। 'भाव' क्रियापरक होने से आख्यात्; तथा 'सत्त्व (सत्+त्व) कार्यपरक होने से नामवर होता है।

यहाँ 'नाम' द्रव्यवाची और 'भाव' या 'आख्यात' क्रियावाची है ।

क्रियाशक्ति की रूपान्तरता कार्यशक्ति की विकसिति का कारण बनती है। इसे हम भौतिकी (Physics) की ऊर्जा-अवधारणा (Conception of Energy) के आधार पर समझ सकते हैं । ऊर्जा सामर्थ्य है । इसके यान्त्रिकरूप (mechanical energy) यान्त्रिक कार्यों का निष्पादन करते हैं । इसी तरह प्रकाश, ताप, चुम्बकत्व, विद्युत, ध्वनि आदि सब विशुद्ध निरपेक्ष शक्ति के कार्यकारी रूप हैं । विशुद्ध शक्ति कार्य-लक्ष्य के अनुरूप अपना कारित्वरूप बदलती है । निरुक्त इसे क्रिया का 'विकार' अर्थात् रूपान्तरण या विस्तार मानता है ।

निरुक्त अपने भावविकार निरूपणम् प्रकरण में कहता है– **षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः –जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति ।**

इस तरह क्रिया की कार्यकारिता के ये छः रूप ही कार्यनिष्पादन के कारण बनते है । यह छः क्रमिक हैं, जो एक के बाद दूसरे के क्रम में आते हैं । इस तरह क्रिया की कार्यकारिता में 'क्रिया' और 'कारित्व' के संयोजन के लिये संयोजक पक्ष की अनिवार्यता होती है । और, यह पक्ष ही कर्मरूप या कामरूप अर्थात् प्रेरणात्मक शक्ति (नोदन) होता है, जिसे ऋग्वेद ने 'काम' कहा है– **कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्यां कवयो मनीषा ॥**

यहाँ उपर्युक्त 'जायते' के अर्थ से 'जायते' की स्थिति 'क्रिया+कारित्व = अर्थ' के समीकरण के रूप में स्पष्ट होती है । 'क्रिया' पूर्व वर्ण, 'कारित्व' उत्तर वर्ण, कर्म या काम संयोजक तथा परिणाम अर्थ है । यह अर्थ ही वह पुरुषरूप है, जो कारण-रूप क्रियाकारित्व से उत्पन्न या विकसित होता है ।

'जायते' के बाद उसका अस्तित्व तब तक बना रहता है जब तक कि वह विपरिणमते, वर्द्धते और अपक्षीयते के क्रम को पारकर विनश्यतीति तक नहीं पहुँच जाता । 'विनश्यतीति', वस्तुतः, कार्य या अर्थरूप पुरुष का शक्त्यात्मक रूपान्तरण अर्थात् क्रिया कारित्व (असत्-सत्) में रूपान्तरित होना होता है । इसमें 'असत्' के तत्त्वतः नित्य होने से 'सत्' अर्थात् द्रव्यात्मकता का ही रूपान्तरण असत् अर्थात् क्रियात्मकता में होना होता है ।

आर्ष दर्शन इस तरह वैकासिक सिद्धान्त का सम्पोषक है । यह विज्ञानाधारित है ।

वेद की अवधारणा के अनुरूप ही मनुस्मृति ने सृष्टि-विकास और उसके इस विकास के स्तरों की चर्चा की है । महत्त्वपूर्ण मन्त्रोक्ति है– **यत्तत्कारणमव्यक्तं**

नित्यं सदसदात्मकम् । तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् । स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥ (मनु० 1.11-12)

लोक और वेद में प्रसिद्ध, अव्यक्त, नित्य, सत्-असत् आत्मारूप कारण से जगत्प्रसिद्ध ब्रह्मा विकसित हुआ । उस भगवान ने, अण्डे में एक वर्ष (दैवी वर्ष) तक रहकर आप ही अपने ध्यान से उसके दो टुकड़े कर दिये ।

क्या "अण्डे का टुकड़े होना" "बिग बैंग थ्योरी (Big Bang Theory) की सम्पुष्टि तो नहीं ? अथवा तत् का सत्-असत् में रूपान्तरण और उनके पारस्परिक समन्वयन का प्रतीक तो नहीं ?

"सत्-असत्रूप आत्मा का अण्डे में वास और उस अण्डे का टूटना" हमें सृष्टि-निर्माण के एक निश्चित सिद्धान्त की ओर ले जाता है । मनुस्मृति की उक्ति है– उद्वबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् । (1.14 पूर्वांश)

इस उक्ति में और अन्यत्र (1.74) में भी आये पद 'मन' को सत्-असत्रूप कहा गया है । फिर, 'मन' को ही वेद में सृष्टि का प्रथम कारण भी कहा है । यह प्रथम कारण मन वहाँ भी 'सदसदात्मकम्' ही है । वस्तुतः 'सत्-असत्' कार्यविस्तार के कारण हैं; क्योंकि ये अव्यक्त 'तत्' के वे अवयव हैं, जो उसकी सिसृक्षा के समय उससे विकसित होते हैं, सृष्टिविकास में सक्रिय होते हैं ।

सत्-असत् पद से संकल्प-विकल्प का भी अर्थ लिया गया है । संकल्प जहाँ 'निश्चिति' (certainty) का निरूपक है, वहाँ विकल्प 'अनिश्चित' (uncertainty) का । किन्तु, क्रिया, या शक्ति के संसार में अनश्चिति कैसी ? 'सत्' और 'असत्' अगर, शक्ति या विद्युत् आवेशरूप हैं, और शक्ति के ही रूपान्तर हैं तो इनकी अनिश्चति का प्रश्न ही नहीं उठता । 'क्रिया' ही अपेक्षित कारित्व के रूप में रूपान्तरित होती हुई अपेक्षित कार्य को विकसित करने में समर्थ होती है । निश्चिति आर्ष दर्शन की विशेषता है । विकल्प-संकल्प तो ऐन्द्रियक समस्या है, जो मन की धृति और मति की निश्चिति में समाप्त हो जाती है ।

शरीर इन्द्रियप्रधान है और प्राण से यह कार्यकारी है । इसलिये असुरराज विरोचन को शरीर और प्राण के आगे जाने की नहीं सूझी । विरोचन के लिये इन्द्रियाँ प्राण से हैं; प्राण (असु) ही ऐन्द्रियक शरीर की आत्मा है । इस असुरूप आत्मा की ही रक्षा की जानी है । असु के रक्षक होने से विरोचन असुर और फिर असुराज हैं। दूसरी ओर देवराज इन्द्र एक सौ एक वर्षों की उपासना और इन्द्रियों के नियन्त्रक मन के प्राप्त ज्ञान से आत्मा की यथार्थता को जान सके । देवराज इन्द्र स्वयं में मनोरूप हैं; क्योंकि मनोरूप देव ही अन्य सब देवों का देव अर्थात् देवराज है ।

आर्ष दर्शन में चेतन और जड़ की अवधारणा वैसी नहीं, जैसी कि आर्षेतर दर्शनों में है । 'जड़ता' (immovability), वस्तुतः, क्रियात्वरहितता को निरूपित नहीं करती । वहाँ क्रियात्व की स्थिति कार्यरूप से प्रतिबन्धित (restricted) होती है। 'द्रव्य', वस्तुतः, संचित शक्ति (storage of energy) होने से क्रियात्वविहीन नहीं होता । उसका अनुन्यास (configuration), उसकी स्थिति (Position) को यथावत् रखता है, गतिज नहीं होने देता । इस स्थित्यात्मक स्थिति में द्रव्य स्थितिज शक्ति (Static energy) और कार्यकारी स्थिति में गतिज शक्ति (Kinetic Energy) के रूप में रहती है । स्थितिज शक्ति गतिज शक्ति से प्रभावित होकर कार्यकारी होती है । हर भौतिक परमाणु अपने 'इलेक्ट्रन अवयव (Electron component) तथा पृथ्वी के गुरुत्व के कारण ही कार्यशील हो पाता है । 'जड़ता' शक्ति की गत्यात्मक प्रतिबन्धिता का निरूपक है । परिस्थिति की अनुकूलता दाब (Pressure) और तापमान (temperature) पर निर्भर करता है । किसी भी स्थान विशेष के लिये इनकी एक सामान्य (Normal) स्थिति होती है । इस सामान्यता के अनुरूप तत्त्व का सहज अनुन्यास (Configuration) निर्धारित होता है ।

स्पष्ट है कि 'सहजता', वस्तुतः, परिवेश की अनुरूपता और अनुकूलता की अपेक्षा रखती है । दूसरे शब्दों में सृष्टिगत कार्यावयव जन्मना स्वयं सृष्टि के सहजात और कर्मणा सृष्टि के प्रति सहज होते हैं ।

ऐसी शक्ति की निश्चिति में 'विकल्प' का कारण मात्र ऐन्द्रियक भटकाव ही हो सकता है, जो प्रकारान्तरतः और अन्ततः व्यक्ति की अज्ञानता का ही विषय बनता है, शक्ति की निश्चितता का नहीं ! चेतना निश्चिति को देखती है ।

सृष्टि, शक्तिरूप होने से, शक्ति के नियमों पर ही सहजतः चल सकती है, शक्ति के नियमों (law of Energy) या 'प्रकृति के नियम' (Law of Nature) के विरुद्ध नहीं । और, शक्ति के नियम निश्चित होते हैं ।

वस्तुतः, वस्तु सहज परिस्थिति (Optimum) में सर्वोत्तम कार्य करने में समर्थ होती है । किन्तु बदली परिस्थितियों में उसका कार्य-दर घट-बढ़ सकता है। यथा तापमान् (temperature) और दबाव (Pressure) के घटाने-बढ़ाने से वस्तु के कार्य करने की क्षमता पर प्रभाव पड़ता है । आज का मानव-समुदाय कार्य-सामर्थ्य बढ़ाने के लिये कुछ भी करता है । इसके लिये सहज परिस्थिति को असहज करता मानव-समुदाय न केवल प्रकृति की अनुकूलता से अपने को दूर कर रहा है, वरन् स्वयं प्रकृति को अपना ही शत्रु बना रहा है । असहज प्रकृति मानव-समुदाय के लिये असहज और असह्य स्थिति ही ला सकती है । जीवन का यह सत्य जितनी जल्दी मानव-समुदाय की समझ में आ जाय उतना ही अच्छा।

रासायनिक खाद और हाइब्रिड बीज का अतिशय व्यवहार जहाँ खाद्यान्न के उत्पादन में कतिपय समस्याएँ लाता रहा है, वहाँ बढ़ती-फैलती मशीनी इन्डस्ट्री के लिए जमीन उपलब्ध कराने की होड़ में खाद्यान्न उपज के लिये स्वयं खेती की जमीन का रकबा कम हो रहा है । बढ़ते शहर, घटती खेती की जमीन; घटती खेती की जमीन और घटते किसान; घटते किसान और बढ़ते शहर की बढ़ती जनसंख्या, बढ़ते शहर और बढ़ती शहरी जनसंख्या की बढ़ती भूख ने मानव को मानवता या मानवीय नैतिकता का दामन कहाँ और कब पीछे छोड़ने पर मजबूर कर दिया, स्वयं मानव को पता नहीं । सृष्टि अन्नाद है; और अन्नाद के लिये अन्न की भूख ही पहली अनिवार्यता होती है । फिर, अन्य ऐन्द्रियक बुभुक्षाएँ सामने आती हैं । सृष्टिरूप समाज को छोड़ता मानव-समुदाय आज तो व्यक्ति-मात्र होकर रह गया है । और, यह व्यक्ति भी अब मानव कहलाने लायक नहीं रह गया है । वह अब न तो 'मनुष्य' रहा और न ही **चत्वारि वाक्परिमिता** का ज्ञाता; तथा न ही **तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति** का तुरीय वाक् रूप वैखरी को बोलने और समझनेवाला मनुष्य ही ।

आर्ष दर्शन ने **पूर्णमदः** और **पूर्णमिंद** के रूप में जिन 'कारण' एवं 'कार्य रूप' पूर्ण को अवधारित किया था वे दोनों ही अपनी-अपनी वृद्धिशीलता में ब्रह्मरूप (बृह्+मनिन्) ही रहे हैं । वे आज भी हैं; किन्तु आज के व्यक्ति ने अपनी ऐन्द्रियक वैयक्तिकता में उन्हें देखने का कभी कष्ट नहीं उठाया । कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म दोनों की वृद्धिशीलता शक्तिगत होती है, व्यक्तिगत नहीं होती। 'व्यक्ति' तो शक्ति की कार्यकारिता का साधनमात्र है । आज व्यक्तिरूप साधन अपने को ही साध्य समझ बैठा है । व्यक्ति का साध्य तो उसका वह मानवीय व्यक्तित्व है, जो स्वयं में क्रिया का द्रष्टा और सार्व का प्रतीक है ।

आचारः परमो धर्मः ने भारतीय दर्शन को पाश्चात्य दर्शन की गोद में डाल दिया है; क्योंकि आचार का निर्धारक 'दर्शन' तो अब स्वयं आचारिक धर्म की दासता में लगा रहने लगा है । आर्ष दर्शन, जिसका मूल मन्त्र **दमो धर्मः सनातनः** है, वह तो कब का छान्दोग्य उपनिषद् के सत्-असत् की सत्य-असत्यरूप व्याख्या की बलि-वेदी पर बलिदान किया जा चुका है । मानव के लिये आज भी समय है कि वह अपने को ईश्वर की जगह ब्रह्मरूप देखने की कोशिश करे । वह तो स्वयं कारण ब्रह्म का ही तुरीयरूप कार्यब्रह्म है । **अहं ब्रह्मास्मि** बनने और कहने का अधिकार मात्र उस मननधर्मा को ही प्राप्त है, जो तुरीयरूप से स्वयं में ब्रह्म है, मनुष्यजा है । उसकी इस तुरीयता में असत्, सत् और कर्म के रूप से, उसका कारणरूप ब्रह्म स्वयं तुरीयरूप से ही निहित है । ओंकाररूप उसके शरीर में 'अ' असत् है, 'म' सत् और 'उ' कर्म या काम रूप से संयोजक है । जब 'म' में 'अ' की व्याप्ति 'उ' के माध्यम से होती

है तब ओंकाररूप व्याहृति या अभिव्यक्ति सब दिशाओं और सब जगहों पर प्रभासित हो उठता है ।

'सत्' और 'असत्' दोनों बन्धु हैं । 'असत्' शक्तिगत अव्यक्त क्रिया और सत् द्रव्यपरक व्यक्त क्रिया अर्थात् कारित्व के कारण का निरूपक है । दोनों के कर्मपरक समन्वय से व्यक्त 'सत्य' कार्यरूप ही सिद्ध होता है । यह 'सत्य' मन के धृतिरूप से 'धर्म', ज्ञातृरूप से 'ज्ञान' और कर्तृरूप से 'कार्य' से सम्बद्ध सिद्ध होता है । इस तरह धर्म अर्थात् मनःधृति से ही सत्य का ज्ञान होता है और मनःधृति से ही कर्म सत्यरूप से कार्यकारी परिणामित होता है । स्पष्ट है कि सत्-असत् की समन्विति में जहाँ सब कुछ सत्यरूप से ब्रह्म ही सिद्ध होता है, वहाँ जगत् भी मिथ्या सिद्ध नहीं होता । सत्-असत् का समन्वय ही 'योग' और 'यज्ञ' है । ये दोनों ही **'कर्मशु कौशलम्'** के रूप में परिभाषित हुए हैं । सम्पूर्ण सृष्टि ही योग और यज्ञ का परिणाम है ।

यहाँ **भाववाचकदर्शनम्** प्रकरण की नैरुक्तिक उक्ति पर एक बार फिर ध्यान देते हैं– **पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति-पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्ग-पर्यन्तम्** ।

उपक्रमप्रभृति अर्थात् किसी क्रिया के आरम्भ से लेकर उसकी समाप्ति तथा पौर्वापर्य से अवस्थित यावन्मात्र क्रिया को व्रजति, पचति आदि भाव को आख्यात (आख्यातेन) कहते हैं ।

इसके साथ निरुक्त के इस कथन पर भी हमारा ध्यान स्वतः चला जा रहा है– **मूर्त्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिर्व्रज्या पक्तिरिति** । अर्थात् कभी-कभी वही 'भाव' रूपान्तर (मूर्तम्) को प्राप्त हुआ सत्त्व के रूप में आया हुआ 'सत्त्व' अर्थात् द्रव्य-नामों से अर्थात् लिंङ्ग-संख्या-वचनादि शब्दों से व्यवहृत होता है । जैसे-व्रज्या पक्तिः आदि।

भाष्यकार की उक्ति है– व्रज्या अर्थात् जाना, 'पक्तिः' अर्थात् पाक या पकाना, दोनों क्रिया अर्थात् भाव ही हैं । अतएव इनका आख्यात शब्द से ही व्यवहार उचित है तथापि **कृदभिहितो भाव द्रव्यवत् प्रकाशते** के अनुसार कृदन्त प्रत्यय से अभिहित भाव द्रव्य की तरह लगने लगता है– वह भी द्रव्य की शक्ल में आकर द्रव्य ही हो जाता है । अतएव 'व्रज्या' आदि आख्यात-पद छोड़कर नाम की पंक्ति में जा विराजते हैं, अर्थात् आख्यात के लक्षण का यह अपवाद है ।"

निरुक्त की उपर्युक्त पंक्तियों में हमें 'आख्यात' और 'नाम' में 'क्रिया' और कारित्व का दर्शन मिलता हैं । 'क्रिया' अमूर्त और कारित्व मूर्त होता है । अमूर्त्त-मूर्त्त, अव्यक्त-व्यक्त के प्रसङ्ग से हम क्रिया-कारित्वरूप असत्-सत् को देखते हुए उनके समन्वय में 'सत्य' को प्राप्त करते हैं । सत्य शक्त्यात्मक भी है और द्रव्यात्मक भी।

कारणब्रह्म सत्य है तो कार्यब्रह्म भी सत्य है, आभास या झूठा या सपना नहीं । ब्रह्म सत्य है तो जगत् भी मिथ्या नहीं । सत्-असत् में से कोई 'असत्य' नहीं; दोनों ही 'सत्य' के अवयव हैं । फिर, 'सत्य' अद्वैत है, द्वैत नहीं; क्योंकि सत्-असत् बन्धु हैं और 'तत् एक' के रूपान्तरण हैं । फिर, 'सत्' की रूपान्तरता असत् या अव्यक्तरूप में ही होती है । सत् द्रव्यात्मक है । साथ ही वह असत् की कार्यकारिता का साधन भी है, कारण नहीं ।

आदिसृष्टि का कारण हो अथवा प्रालयिक स्थिति से विकसित होती सृष्टि का कारण, वह तत्‌रूप ही होता है । आर्ष दर्शन का 'तत्त्वज्ञान' परतम सत्य का द्रष्टा है और वह अपने 'सत्य' को क्रियारूप में देखता है । उसका 'तत्त्व', वस्तुतः, 'तत्+त्वत्' के रूप में परिभाषित होता है और त्वत् 'तत्वत्' (तु+अत्) होता है । यह 'तत्वत्', वस्तुतः, सत् रूप होता है । यही स्थिति 'सत्त्व' के साथ भी होती है । 'सत्त्व' का रूप 'सत्+त्वत् के रूप में देखा जाय तो वहाँ 'सत्वत' की स्थिति भी 'तत्वत्' सिद्ध होगी । फलतः तत्त्व, सत्त्व, सब सत्य (सत्+यत्) की सत्ता (सत्+तत्+टाप्) की ही कहानी कहते हैं । अन्तर इतना है कि 'तत्त्व' क्रियात्मक या शक्त्यात्मक या कारणात्मक 'पूर्ण' या 'ब्रह्म' का निरूपक है और सत्त्व द्रव्यात्मक पूर्णता या कार्यब्रह्म का निरूपक । 'तत्त्व' सत्त्व का कारण है और सत्त्व सृष्टि के विस्तार का कारण । 'मन' 'मनु' का कारण है; और मनु मानव या मनुष्य का । और यह मनुष्य मनुष्यजा का कारण है । क्रिया से क्रियाजगत् या क्रियापुरुष की विकसिति प्राप्त होती है; और क्रियापुरुष से द्रव्यात्मक कार्यविस्तारक पुरुष की विकसिति प्राप्त होती है ।

आर्ष दर्शन इस द्रव्यात्मक स्थूल कार्यविस्तारक पुरुष या कार्यब्रह्म को 'तुरीय' अर्थात् चतुर्थ स्थानी के रूप में देखता है । 'तुरीय' पद वहाँ, वस्तुतः, 'ज्येष्ठ' का भी पर्यायरूप देखा गया है । देवों में यह तुरीयरूप 'इन्द्र' को दिया गया है । तैत्तिरीय ब्राह्मण की उक्तियाँ हैं– **अग्निर्रुद्रो वरुण इन्द्र इतीन्द्रतुरीयाश्चत्वारोऽमी। ऐन्द्राग्नदेवाः । तत्राद्यास्त्रयोऽग्निभागा अग्नयः । तेष्विन्द्रस्तुरीयो भागाः संसृष्टः।** (तै०ब्रा० 1.7.1)

इन्द्रो ज्येष्ठानाम् ।

स्त्री के पति के रूप में 'मनुष्यजा' को 'तुरीय' कहा गया है– **सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः । तृतीयो अग्निष्ठे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥** (ऋ० 10.82.40)

मनुष्य की वाणी को तुरीय कहती ऋग्वेदीय मन्त्रोक्ति है– **चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥** (ऋ० 1.164.45)

ध्यातव्य है कि वर्णों में चतुर्थ वर्ण, 'शूद्र', को 'तुरीय वर्ण' कहा गया है।

आर्ष दर्शन में 'पैर' या 'पाद' को प्रतिष्ठा का स्थान दिया गया है । इस रूप में वह (शूद्र वर्ण) निकृष्ट नहीं, जैसा कि बाद के समय में आर्षेतर दर्शनों ने उसको बना दिया है । तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्द बल्ली) की उक्ति है– अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव शिरः । अयं दक्षिणः पक्षः । अयमुत्तरः पक्षः । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा ॥ (तै०उप० 2.1)

इस मन्त्र में मनुष्य-शरीर की तुलना पक्षी के शरीर से की गयी है । प्रत्यक्ष दीखनेवाला मनुष्य का सिर ही पक्षी का सिर है । मनुष्य की दाहिनी भुजा ही पक्षी का दाहिना पंख है; बायीं भुजा उसका बायाँ पंख; शरीर का मध्यभाग आत्मारूप है; मनुष्य के दोनों पैर ही पक्षी की पूँछ एवं प्रतिष्ठा हैं ।"

हमने भौतिकी में परिस्थिति (circumstances) का अर्थ जाना है । वहाँ परिस्थिति के तीन महत्त्वपूर्ण अवयव स्थिति (Position), अनुन्यास (Configuration) या गति (motion) कहे गये हैं । स्पष्ट है कि स्थिति के बदलाव का कारण गति है । फिर, अनुन्यास भी गति से प्रभावित होता है । पैर गति का कारण है; और, वह स्थिति–परिवर्तन का कारण है । सिर से लेकर पैर तक सब अवयव (organs) अपने शारीरिक समन्वय में ही सफल रूप से कार्यकारी होते हैं । समन्वय के अवयवों में कोई उत्तम या कोई निकृष्ट नहीं होता है ।

वस्तुतः, क्रियाशक्ति का कार्यरूप विस्तार निष्प्रयोजन नहीं होता । अगर ऐसा होता तो क्या मननशील मानव का विकास हो पाता ? क्या परिस्थितियों के प्रति अनुकूलन भौतिक संसार में देखा जाता ? क्या प्रकृति की स्रष्टृशक्ति सृष्टिगत होती? स्पष्ट है तब स्रष्टा लोकेतर ही रहता और अपनी लीला के लिये ही सृष्टि का निर्माण करता । सृष्टि विकासगत नहीं होती । विकासगत सृष्टि में तब परिवेश की सहज परिस्थितियाँ सृष्टिनिर्माण का आधार नहीं बनतीं । स्वयं ईश्वर शक्तिगत नहीं होता । आज हम सृष्टि के विकास को बहुत हद तक शक्तिगत नियमों के आधार पर व्याख्यायित कर सकने में समर्थ हैं । इस व्याख्या में 'सत्' को कारित्व और 'असत्' को 'क्रिया' के रूप में देखने की जरूरत होगी; और तब 'सत्' को 'सत्य' और असत्' को मिथ्या नहीं मान सकते । इसी तरह भाव को 'क्रिया' और 'अभाव' को कारित्व मनाने की अनिवार्यता होगी । यह मानना होगा कि 'क्रिया' अपनी विशुद्धि में अव्यक्त और कार्य प्रतिबन्धित होती है । कारित्व को वह अपनी कार्यकारिता के लिये साधन रूप में स्वयं अपने से ही विकसित करती है । स्पष्ट है कि कारित्व द्रव्यपरक होता है । यह शक्ति का ही रूपान्तरित रूप होता है ।

इस तरह 'भाव' और 'अभाव' के रूप से 'क्रिया' और कारित्व की स्थिति स्वतः स्पष्ट हो जाती है । 'रूपान्तरण' को विकार के रूप में लिया गया है । 'भावविकार' के सन्दर्भ से निरुक्त की कुछ स्पष्टोक्तियाँ हैं– भावप्रधानमाख्यातम्, सत्त्वप्रधानानि नामानि । तत्र यत्रोभे भावप्रधाने भवतः । पूर्वापरिभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति- पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम् । मूर्त्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिर्व्रज्या पक्तिरिति । भवतीति भावस्य । (भवति इति भावस्य) । आस्ते, शेते, व्रजति, तिष्ठति । षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः –जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते अपक्षीयते, विनश्यतीति ।

यहाँ स्पष्टतः 'विकार' पद 'विशिष्ट कार्यकारिता' का अर्थ देता है । रूपान्तरण की क्रिया इसी विशिष्ट कार्यकारिता के लिये है । यह वह क्रिया है, जो अपनी कार्यकारिता में विशिष्ट रूप से कारित्व का रूपान्तरण ग्रहण करती है । इस तरह, यह 'सत्' है, जिसमें रूपान्तरण होता है, 'असत्' में नहीं । 'असत्' में रूप नहीं होता.। क्रिया का कारित्वरूप ही 'कूट' रूप होता है और उसकी कार्यकारिता के लिये क्रिया स्वयं उसमें कूटस्थ-भाव से व्याप्त रहती है। यह कूटस्थ क्रिया ही कूट-कारित्व की प्रतिष्ठा है । कूटस्थ क्रिया हीं धातुरूप होती है । 'प्रतिष्ठा' शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रति+स्था+अङ्+टाप' के रूप में हुई है। इसके कारण ही सृष्टि के पदार्थ की त्रिविध स्थिति– स्थिति, गति और परिवर्तन – होती है । गीता (6.8) में 'कूटस्थ' की चर्चा है । 'कूट' का अर्थ जहाँ 'अचल' अर्थात् 'चंचल' का विपरीतार्थक है वहाँ वह 'आवास' का भी पर्याय है। इस तरह आवास में निवसित या 'आवास में स्थित', 'कूटस्थ' पद का पर्याय बनता है । और यह 'पुरुष' पद, पुरी देहे शेते के अर्थ, से भिन्न नहीं । इसकी तुलना न्युक्लियर क्रिया शक्ति से कर सकते हैं ।

'क्रिया' का कार्यविस्तारकरूप यहाँ प्रक्रियात्मकरूप में स्पष्ट होता है । 'क्रिया' का कारित्वरूप, वस्तुतः, सिसृक्षारूप 'काम' का प्रभाव है । फिर, दोनों, अर्थात् 'क्रिया' और 'कारित्व'रूप शक्ति का समन्वयन या संयोजन भी 'काम'-रूप संयोजक द्वारा ही सम्पन्न होता है । जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, इस संयोजनरूप प्रक्रिया का प्रकाशन तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली करती है, जहाँ अधिलोक, अधिज्योतिष, अधिविद्या, अधिप्रजा और अध्यात्मरूप महासंहिता के प्रकाशन में क्रमशः 'वायु', 'विद्युत', 'प्रवचन', 'प्रजनन' और 'जिह्वा' को कामरूप (संयोजकरूप) से क्रियाशील दिखाया गया है । ऋग्वेदीय मन्त्रांश, कामस्तदग्रे, मनसो रेतः, सतो बन्धुमसति, में भी आर्ष दर्शन द्वारा अपने द्रष्टा को 'क्रिया का द्रष्टा' ही सिद्ध किया गया है । संयोजन में कारक का

कारण 'क्रिया'-तत्त्व ही बनता है। 'कामना' संयोजन क्रिया का निरूपक है। कारकरूप अर्थात् संयोजकरूप से देखे गये 'काम' की कारणरूप क्रियाशक्ति 'रति' है।

वस्तुतः, 'कारक' क्रिया की कार्यकारिता का साधन है; और इस रूप में सम्पूर्ण सृष्टि, अपनी आवयविक व्यष्टि-समष्टि में, कार्यरूप से 'कारक' ही सिद्ध होती है; क्योंकि वह स्वयं में कार्य विस्तार का कारण भी है। कार्यरूप 'कारक' या कारकरूप 'कार्य' शक्तिमान् (शक्ति+शक्त) का निरूपक है। और तात्त्विक समन्वयन, यथा रासायनिक प्रतिक्रिया की तरह, 'शक्ति-शक्त' का अनुकूलित स्थानान्तरण और प्रतिस्थापन के माध्यम से, कार्य-विस्तार का कारण बनता है। 'शक्ति-शक्त', वस्तुतः, अपने कार्यकारी परमार्थसत्य के रूप में 'असत्-सत्' का निरूपण करते हैं। वैसे, शक्त ही शक्ति रूप में रूपान्तरित होकर परमार्थतत्त्वरूप अद्वैत का रूप लेकर, महाप्रलय की स्थिति में अर्थात् घोर निद्रा में चला जाता है। ध्यातव्य है कि कार्यकारी 'मन', जो खण्ड प्रलय में विघटित नहीं होता, महाप्रलय में विघटित हो जाता है। यहाँ विघटन का अर्थ 'कार्यकारी नहीं रह जाना' है। इस विघटन में भी उसकी पूर्णता बनी रहती है; क्योंकि उसका कारित्व क्रियात्वरूप में बदल कर क्रियात्व में ही आत्मसातित हुआ रहता है। विशुद्ध शक्ति कार्य-प्रतिबन्धित होती है। ऐसे में ही यह 'शक्ति' निर्गुण, निर्विकार, नित्य होती है। यह निर्विकार शक्ति ही ओंकाररूप से जब सगुणता प्राप्त करती है, अथवा सृष्टि-विस्तारक रूप ले पुरुषरूप धारण करती है (ऐतरेय उपनिषद् 1.2) तब उसे क्रमशः चतुर्थ पाद (माण्डूक्य उपनिषद्; मन्त्र- 12) और समन्वयकरूप से परमपुरुष या इदन्द्र (ऐतरेय उपनिषद् 1.3.13-14) के रूप में देखा जाता है।

'सत्' की द्रव्यपरकता उसे शक्तिरूप में रूपान्तरणीय बना जाती है। उसका कारित्वरूप उसे प्रलय काल में अस्तित्वमान् नहीं रहने देता। शक्तरूप वह, 'शक्ति' में आत्मसातित हुआ, 'तत्'-रूप अव्यक्त भाव से महाप्रलय में भी बना रहता है। अथर्ववेद में उसे 'उच्छिष्ट' देवता कहा गया है।

गीता की अवधारणा में प्रकृति और पुरुष की व्याख्या इस प्रकार है- प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्। कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्। कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ (गीता- 13.19-22)

अर्थात्, प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादिरूप में जाना गया है। विकारों और गुणों को भी प्रकृतिजन्य ही जाना जाता है। 'प्रकृति' को 'कार्य-कारण-कर्तृत्व' का

हेतु और पुरुष को सुख-दुःख भोगों का हेतु कहा गया है । प्रकृतिस्थ पुरुष प्रकृतिजन्य गुणों को भोगता है और गुणों का यह साथ ही भोक्ता पुरुष को सत्-असत् योनि में जन्म लेने का कारण बनता है । पुरुष इस शरीर में परमात्म अर्थात् परमार्थसत्यरूप है। वह साक्षी होने से उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देनेवाला होने से अनुमन्ता, भरण करनेवाला होने से भर्ता, भोग के कारण भेक्ता, सबों का कारण होने से महेश्वर और अपनी विशुद्धात्मता के कारण परमात्मा अर्थात् पारमार्थसत्य है । स्पष्ट है कि आर्ष दर्शन में 'अनुमान', वस्तुतः, यथार्थ ज्ञान का निरूपक है ।

भोक्ता 'पुरुष' जब परमार्थसत्यरूप पुरुष को देख और समझ लेता है तब वह मुक्त हो जाता है । भोक्ता पुरुष, वस्तुतः, ऐन्द्रियक पुरुष है । इन्द्रियाँ भोक्तृत्व का कारण हैं । मन की धृति में इन्द्रियाँ मन के लिये काम करती है । 'मन' भी मति के माध्यम से आत्मा के लिये काम करता है । 'मन' अपनी धृति में सत्य को उस के मौलिकरूप, अर्थात् 'तत्'-रूप में देखता है । इस तरह आर्ष दर्शन में 'धर्म' को मनःधृति अर्थात् दमो धर्मः सनातनः के रूप में अवधारित किया गया है । धर्मरूप में मन प्रधान अर्थात् मूल क्रिया का द्रष्टा बन जाता है । इस स्थिति में ही निष्कामना की प्राप्ति होती है । आर्ष दर्शन में 'धर्म' आचार का नहीं, 'मनःधृति का निरूपक है । इस 'धर्म' की अनभिज्ञता में ही व्यक्ति की वैयक्तिकता विघटनकारी विचारधारा अपना लेती है ।

गीता का कार्य-करण-कर्तृत्व पद, वस्तुतः, अर्थ-क्रियाकारित्व का ही पर्याय है । कार्य-करण-कर्तृत्व में कर्तृत्व, वस्तुतः, क्रिया का, 'करण' कारित्व का और 'कार्य' अर्थ का पर्याय सिद्ध होता है । फिर उसे ही 'महेश्वर' भी कहा गया है ।

'महेश्वर' पद, वस्तुतः, 'शिव' या 'शक्तिमान्' के लिये है । शक्तिमान्, वस्तुतः, शक्ति और शक्त का समन्वय है । यह उपर्युक्त पुरुष की ही कार्यकारी स्वरूपता की व्याख्या है । यह पुरुष मात्र द्रष्टा नहीं, वरन् अनुमन्ता और भोक्ता अर्थात् ज्ञाता और कर्त्ता भी है । इसका परत्व इसके क्रियात्व में निहित है । 'क्रिया' निर्विकार होती है; और, 'ऐन्द्रिय भोग' कारित्व अर्थात् 'द्रव्यात्मक शरीर' का विषय होता है ।

'शरीर' को गीता ने क्षेत्र और 'शरीरी' को 'क्षेत्रज्ञ' कहा है । फिर 'शरीर' और 'शरीरी' के समन्वय को ही शारीरक रूप से लिया जाकर 'अध्यात्म' कहा गया है। शारीरक या 'अध्यात्म', वस्तुतः, क्रियापुरुष का कार्यकारी शक्त्यात्मक पुरुषरूप है। यही वह मन-मानव है, जिसे स्थूल कार्यकारी मनुष्य के कारणरूप में देखा गया है।

गीता का विषय, वस्तुतः, 'जीवनः' अर्थात् जीवन है । जीवन का चतुर्विधरूप धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष है । 'जीवन', वस्तुतः, शरीरी और शरीर की समन्विति है । वस्तुतः, 'नः' का अर्थ 'सम्पन्नता' से लिया जाता है । इस तरह 'जीवन' का अर्थ 'जीव से सम्पन्न शरीर' निष्कर्षित होता है । स्पष्ट है कि 'जीवन' के लिये पुरुषार्थ-चतुष्टय का अर्थ अपने-आपमें विशिष्ट है । वह आचाररूप धर्म, धनरूप अर्थ वासनारूप काम और मृत्युरूप मोक्ष से अलग अर्थ का अधिकारी है । स्पष्ट है क पुरुषार्थ-चतुष्टय में 'धर्म' का अर्थ 'दम', 'काम' का अर्थ सिसृक्षा, 'अर्थ' का अर्थ परिणाम या लक्ष्य, और 'मोक्ष' का अर्थ लक्ष्य-प्राप्ति का आनन्द है।

जीवन को समझने के लिये हमें तैत्तिरीयोपनिषद् (पञ्चम् अनुवाक) के अनुसार 'भूः, भुवः, स्वः और महः' रूप व्याहृतियों को देखने-जानने की आवश्यकता होगी । 'जीवन', वस्तुतः, भूः, भुवः और स्वः की अपेक्षा से महःरूप है । इस महःरूप को ही ऋग्वेद ने तुरीय रूप में देखा और उपनिषद् ने 'ब्रह्म' और आत्मा कहा है । 'जीवन' अपने धर्म (धृ+मन्) दृष्टि से अपने-आपके क्रिया-कारित्व; और उनके संयोजक 'काम'; और फिर सबकी समन्वितिरूप अर्थ के रूप में अपने-आपको देखता-जानता हुआ अपने-आप में ही मग्न हुआ आनन्दमय बना रहता है । यही कारण है कि 'आत्मा' को पाँच कोषों के रूप में देखा गया है । वे कोष भी इसी दृष्टि को सम्पुष्ट करते हैं । 'अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द आदि आत्मा के पञ्चकोष इसी अवधारणा के साक्ष्य सिद्ध होते हैं । 'मोक्ष', वस्तुतः, आनन्दघन की प्राप्ति का निरूपक है ।

'आनन्दघन', वस्तुतः, स्वयं सत्-चित्-आनन्द की समन्विति है । 'सत्-चित्' में 'सत्' कारित्व का और चित् क्रियात्व का निरूपक है । इस तरह 'आनन्दघन' अर्थ का निरूपक सिद्ध होता है । यह अर्थ ही अपने कारण-सन्दर्भों से शक्तिमान् है; सत्य (सत्+यत्) है । इस सत्य को जान लेना ही 'सच्चिदानन्दघन'-रूप श्रीकृष्ण को जान लेना है; और यही गीता के अनुसार वैयक्तिक जीवन का लक्ष्य भी है ।

सत्-असत् की समन्विति अर्थात् मनोशक्ति, की आर्षेय व्याख्या की सम्पुष्टि हमें गीता की इन उद्धृत पंक्तियों में मिलती है-यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् । न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ (गीता 13.26-28)

अर्थात् "हे अर्जुन ! जो कुछ भी सृष्टि में स्थावर जङ्गम वस्तु है, उसे क्षेत्र (सत्) और क्षेत्रज्ञ (असत्) की समन्विति से ही विकसित जानो । जो व्यक्ति

विनाशशील सब भूतों में नाशरहित परमेश्वर (कार्यकारी परम क्रियातत्त्व) को समभाव से स्थिति देखता है वही देखता है अर्थात् वही द्रष्टा है।" (द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः)। सब में समभाव में स्थित परमेश्वर को देखता हुआ वह व्यक्ति अपने द्वारा (आत्मना) अपने-आपको (आत्मानाम्) नष्ट नहीं करता। वह परम गति को प्राप्त करता है।

यहाँ सत्-असत् जहाँ क्रिया-कारित्व का निरूपक है, वहाँ इनकी समन्विति, मन की, सत्य की, शक्तिमान् की, सत्ता की, परमार्थ की, कारक निरूपिका है। स्पष्ट है कि 'सत्-असत्', वस्तुतः, परमार्थ सत्य के अवयव है। परमार्थ सत्य की सत्ता वृद्धिशीलता के साथ-साथ अभ्युदयकारी भी है। यह मनःधृति में ही देखी जा सकती है। मनःधृति ही धर्म है। और, शक्तिरूप मन ही अपने क्रिया-कारित्वरूप के शक्त्यात्मक समन्वय में ज्ञातृ और कर्तृ शक्ति के साथ सृष्टि-विकास का कारण बनता है। अपनी मनःधृति से ही व्यक्ति 'मानव' **मानवान् भवति** (तैत्ति०उप० 3. 10) अर्थात् मानवान् बनता है। ऐन्द्रियक प्रभाव में रहनेवाला व्यक्ति आसुरी प्रभाव में ही रह जाता है। मानव नहीं बन पाता **सत्यमेव जयते, नानृतम्** की अपनी उक्ति में उपनिषद् इसी 'सत-असत्रूप' सत्य को उद्‌भाषित करती है।

वस्तुतः, सत्-असत् की आर्षेय अवधारणा से भटककर आर्षेतर दर्शन विघटनकारी तत्त्वों को ही प्रश्रय देते रहे हैं। आर्ष दर्शन की वैज्ञानिकता की अनदेखी करते हुए 'सत्' को 'सत्य' और 'असत्' को असत्य या माया मान लेना या मनवा लेना आर्षेतर दर्शनों को अवैज्ञानिकी की ओर ले जाता है। स्थिति तो यह है कि आर्षेतर दर्शन विज्ञान के तथ्यों को अस्वीकार ही करते रहे हैं। अब समय आ गया है कि आर्ष दर्शन की वैज्ञानिकता को जानकर विश्व के लिये दर्शन और विश्वसनीय राजनीति का हम विकास करें। आज पाश्चात्यीय बाजार आधारित दर्शन या वैश्विक दर्शन का यही एकमात्र विकल्प है। यह निर्विकल्प है।

5. ब्रह्म :

आर्ष दर्शन में 'ब्रह्म' (बृह्+मनिन्) शब्द, वस्तुतः, 'मानवान्' से सम्बद्ध है। ब्रह्म के रूप में मन की मननशीलता जहाँ अनन्त को देख सकने में समर्थ है वहाँ वह स्वयं भी अनन्त रूप धारण करने का कारण बन सकती है। आर्ष दर्शन में यह आत्मरूप मनोमयता ही अपनी विज्ञानमयता में आनन्दमय ब्रह्म है।

आर्ष दर्शन, वाद (ism) के सन्दर्भ से अद्वैतवादी है। अद्वैत अर्थात् मात्र एक, दूसरा कोई नहीं। दूसरे शब्दों में सृष्टि की स्रष्टा-शक्ति मूलतः एक ही है, दो

या अनेक नहीं । और, वह अव्यक्त, अमूर्त, निर्विकार और निर्गुण है । असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मानं स्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत् इति। "सबसे पहले 'असत्' ही था । उस असत् से सत् का विकास हुआ । आत्मा का विकास हुआ । 'असत्' स्वयं आत्मरूप में विकसित हुआ । वह सुकृत कहा जाता है ।" (तैत्तिरीयोप० 2.7)

स्पष्ट है असत् से सत् और असत्-सत् का समन्वयन; और, समन्वय से प्राप्त पारिणामिक समन्विति 'मन' का कार्यकारी रूप 'आत्मा' हुआ । यह ब्रह्म था । ऐतरेय उपनिषद् की उक्ति है– ऊँ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । (1.1.1)

उपर्युक्त 'असत्' अपने स्वभाव में अव्यक्त और अमूर्त था । यह अव्यक्त असत् विशुद्ध शक्तिरूप था, जो सत् अर्थात् कारित्वरूप की अनुपस्थिति में कार्यकारी नहीं था । असत् से विकसित 'सत्' अपने द्रव्यात्मक रूप में कार्य का आभिव्यक्तिक कारणतत्त्व बना । यह 'सत्', वस्तुतः, असत्रूप अव्यक्त क्रियाशक्ति की ही अभिव्यक्ति का विशेषीकृत कारित्वरूप साधन था ।

'असत्' और 'सत्', वस्तुतः, अव्यक्त क्रियात्व या क्रियात्वरूप 'तत्' का ही रूपान्तरण होने से बन्धुवत हैं । ये ही दोनों तत्रूप अद्वैत की अभिव्यक्ति या व्याहृति के साधन हैं । एक ही क्रियाशक्ति से विकसित या अभिव्यक्त होने के कारण वह कार्यकारी शक्ति स्वयम्भू कहलाता है । क्रिया-कारित्व अर्थात् असत्-सत् के सन्दर्भ से विचार करने पर यह स्वयम्भू अपने-आपमें स्वयं भी एक कार्यविस्तारक शक्त्यात्मक कार्य अर्थात् अर्थ (ऋ+थन्) या परिणाम सिद्ध होता है । यह कार्यकारीरूप से कार्यविस्तारक (वृद्धिशील) होने के कारण ब्रह्म है । यही आत्मा है; यही शक्तिमान् शिव या फिर, नटराज भी है ।

तैत्तिरीयोपनिषद् ने 'असत्' के नित्य अस्तित्व से सत् की उत्पत्ति और फिर उनकी असत्-सत् की कार्यकारी समन्वितिरूप से सत्ता और सृष्टि के विकास की अवधारणा दी है । इसे ही शक्ति+शक्त=शक्तिमान् के रूप में देखा गया है । तैत्तिरीयोपनिषद् की उपर्युक्त उक्ति, वस्तुतः, ऋग्वेद के आनीदवातं स्वधया तदेकं और सतो बन्धुमसति मन्त्रांशों से आये विचारों की ही सम्पुष्टि है ।

आनीदवातं स्वधया तदेकं की बात करते ऋग्वेद ने 'तत्' को 'अवात' या 'निर्वात्' की स्थिति में 'स्वधया' अर्थात् अपनी ही 'स्वधा' से अपने को जीवित रखे जाने की बात कही है । यहाँ तत् को एक ऐसा अव्यक्त क्रियारूप अस्तित्व समझा गया है, जो सत्रूपी स्वधा की आहूति से महाप्रलय में अस्तित्वमान् था । सृजनकाल में इस तत् से ही असत्-सत् का विकसित होना इनको (सत्-असत्)

ऋग्वेद की दृष्टि में बन्धुवत् बना देता है– सतो बन्धुमसति। बन्धुरूप ये दोनों परस्पर मिलकर ही कार्यकारी सत्ता, अर्थात् सत्य का विकास करते हैं। 'सत्य' की ही सत्ता होती है।

आनीदवातं स्वधया तदेकं रूप शक्ति सत् और असत् में अभेदित होने के कारण कार्यकारी नहीं होती। फलतः उस समय कार्यविस्तारकरूप कार्यकारी सृष्टि का विकास नहीं होता। यही महाप्रलय की स्थिति होती है। स्पष्ट है कि ऋग्वेद, वस्तुतः, महाप्रलय को उपर्युक्त तत् एकम् से अभेदित देखती है। इस महाप्रलय को ही काल समझा जाता है। इस काल में ही सत्–असत्–समन्वितिरूप व्यक्त सृष्टि विलीन होती और इसी काल से सत्–असतूरूप कार्यकारी क्रियाशक्ति विकसित होती हुई सृष्टि का रूप लेती है। गीता इसे ही इन शब्दों में प्रस्तुत करती है– अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते। रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः। यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्। यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ (गीता- 8.18-21)

सम्पूर्ण व्यक्त ब्रह्मा के दिन के प्रवेशकाल (अहरागमे) में अव्यक्त से उत्पन्न होते हैं। और, ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेशकाल में उस अव्यक्त संज्ञक में ही लय हो जाते हैं। वह ही यह भूत–समुदाय उत्पन्न होकर (भूत्वा भूत्वा) अपनी अवशता में रात्रि के प्रवेशकाल में लय होता है और दिन के प्रवेशकाल में फिर उत्पन्न होता है। परन्तु उस अव्यक्त से भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण, जो सनातन अव्यक्त भाव है वह सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमात्मा सब भूतों के नष्ट होने पर भी, नहीं नष्ट होता है। जिसे अव्यक्त अक्षर कहा गया है उसे ही परम गति भी कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्त भाव को प्राप्त होकर मनुष्य पीछे नहीं आते हैं वह मेरा परम धाम है।

श्री कृष्ण आगे कहते हैं– वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः। इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ (गीता- 10.22) अर्थात् "वेदों में सामवेद हूँ, देवों में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और भूतप्राणियों में चेतना हूँ।

श्रीकृष्ण ने अपने को रुद्रों में शंकर (रुद्राणां शंकरश्चास्मि); वसुओं में अग्नि (वसूनां पावकश्चास्मि) और फिर गिनती करनेवालों में समय (कालः कलयतामहम्) कहा है। अपने को अक्षय काल (अहमेवाक्षयः कालो; गीता- 10.33) कहनेवाले श्रीकृष्ण विद्याओं में अध्यात्मविद्या और प्रवदता में वाद (अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् 10.32) हैं। वे अक्षरों में अ–कार,

समासों में द्वन्द्वसमास (अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च) और धाता के रूप में विश्वतोमुखः हैं (धाताहं विश्वतोमुखः; गीता- 10.33)।

श्री कृष्ण का उपर्युक्त वर्णित रूप, वस्तुतः, ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के क्रियापुरुष (अव्यक्तसंज्ञके) का है। 'भूत' पद जहाँ चेतन का निरूपक कहा गया है वहाँ 'भाव' (भू भावे घञ्) से 'क्रिया' का अर्थ लिया गया है। 'नाश' पद से, वस्तुतः रूपान्तरण का; 'सनातन' से नित्यता का तथा 'सामवेद' से 'आनन्द के विज्ञान' का बोध कराया गया है। 'वासव' और 'मन' दोनों से इन्द्र का तथा 'चेतना' से क्रिया की कार्यकारिता का अर्थ लिया गया है। क्रिया की कार्यकारिता कारित्व या कारकत्वरूप क्रिया के माध्यम से निष्पादित होती है। फलतः 'चेतना' पद षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः-जायते, अस्ति, विपरणिमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति (निरुक्त) से परिभाषित होता है। निरुक्त अपने भावोपदेशनिरूपणम् प्रकरण में भाव के लक्षण को स्पष्ट करता है– भवतीति भावस्य। (भवति इति भावस्य)। अर्थात् 'होता है' (भवति) क्रिया का (भावस्य) सामान्य लक्षण है।

रुद्रों में शङ्कररूप श्री कृष्ण, वस्तुतः, शुभ के निरूपक हैं। अक्षय काल कहकर वे काल के भी कारणरूप में अपनी सर्वत्रता-सर्वज्ञता का प्रदर्शन करते हैं। एक सर्वज्ञ, वस्तुतः, क्रिया का ही द्रष्टा होता है। वह 'क्रिया' की कार्यकारी प्रतिबन्धिता से लेकर कार्यकारी प्रतिबद्धता तक सबकुछ को देखता और जानता है। 'अध्यात्म' पद, वस्तुतः, सत्-असत् की समन्वितिरूप शरीरात्मक सत्ता अर्थात् कार्यकारी शरीर की सत्ता को निरूपित करता है। 'अध्यात्म' पद, वस्तुतः, कार्यकारी क्रियापुरुष अर्थात् 'मनःमानव' को निरूपित करता है। यह मनःमानव ही कार्यविस्तारक क्रियापुरुष है। यही 'ब्रह्म' है। यही आत्मा है।

'ब्रह्म' पद, 'बृंह्' और 'मनिन्' के अर्थ से, वृद्धिशील मनः कर्म का द्योतक है। 'मन' ज्ञान और कर्म दोनों इन्द्रियों (इन्द्रिय-इन्द्र+घ-इय) का स्वामी या धारक है। इस तरह मन 'इन्द्र' का निरूपक है। 'इन्द्र' देवताओं अर्थात् सब कार्यनिर्वाहक शक्तियों का और 'मन' सब इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों) अर्थात् कार्यनिर्वाहक शक्तियों का नियन्त्रक है। अपने इन्द्रिय-नियन्त्रक के रूप में स्वयं इन्द्र और मन क्रमशः देवता और इन्द्रिय ही हैं। 'इन्द्र' देवता और 'मन' इन्द्रिय है। इन्द्र न तो देवत्व से अलग हैं और न 'मन' ही इन्द्रियों से अलग है। 'मन' को ग्यारहवीं इन्द्रिय के रूप में देखा गया है। और इन्द्र को कार्यकारी देव के रूप में तुरीय देवपद या ज्येष्ठ देव-पद दिया गया है। इन्द्र और मन, वस्तुतः, कार्यनिर्वाहक शक्तियों के नियन्त्रक के रूप में एक सिद्ध होते हैं।

'इन्द्र' और 'मन' अपने शक्त्यात्मक रूप में वैद्युतिक शक्ति के परिचायक हैं। ध्यातव्य है कि मानव-शरीर में चेतन-संस्थान (Nervous System) के अन्तर्गत् मूल कार्यकारी अवयव न्यूरॉन (neuron) या 'नर्भ-सेल' (nerve cell) कुछ इस तरह परिभाषित होता है– "It is one of the basic functional units of the nervous system specialized to transmit electrical nerve impulses and carry information from one part of the body to another."

"The protoplasmic extensions of the nerve cells form the neural pathways called nerves. The nerves resemble the electricity wires. Like the electric current flowing through the wires the impulses are conducted through the nerves." ('A dictionary of human body and its working by D.A.N. Kapoor and V.P. Gupta).

"It is the thermal heat produced by metabolism in higher animals. Birds and mammals especially control their body heat in the face of changes in environmental temperature."

विद्युत को अन्तरिक्षीय अग्नि और अग्नि को पार्थिव अग्नि कहा गया है। शरीर और मन की समन्विति में ये 'तेज'-तत्त्व (अग्नि तत्त्व) द्रव्य-तत्त्व या द्रव्यत्व को कार्यशील बनाते हैं।

ध्यातव्य है कि ऋषि आयुर्वेदज्ञ (चिकित्सक) भी हैं और शरीर-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के ज्ञान से उनका गहरा परिचय है। जीवन को निकट से देखने-जाननेवाले ऋषियों ने बहुत ही गम्भीरता से जीवन और जीवन के जीवन्त विषयों को उनकी सम्पूर्णता में देखा और जाना है। उन्होंने चिकित्सा विज्ञान के लिये अपेक्षित भौतिक विज्ञान को बहुत ही गम्भीरता से देखा-समझा है। फलतः वे सृष्टि की रचना से लेकर उसके तथाकथित विनाश तक की स्थिति को अपने साक्षात्कारी चक्षुओं, शारीरिक और मानसिक दोनों, के सामने रख रखा है। **साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो बभूवुः।**

आधुनिक विज्ञान ने शक्ति के जिन कार्यकारी रूपों को देखा है, वे हैं– यान्त्रिक, ताप, ध्वनि, प्रकाश, चुम्बक, विद्युत और विकिरण। शक्ति के ये सब रूप एक-दूसरे में बदले जा सकते हैं।

आईन्स्टीन के 'थ्योरी ऑफ रिलेटिभिटी (Theory of Relativity) के प्रकाशन के बाद आधुनिक विज्ञान ने माना कि 'द्रव्य' (matter) और 'शक्ति' (energy) शक्तिगत ही हैं; और एक-दूसरे में परिवर्तनीय भी हैं। आर्ष विज्ञान में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि पाँच द्रव्य-शक्तियों और शब्द, स्पर्श,

रूप, रस और गन्ध को क्रमशः उनकी तन्मात्र शक्ति (energy) के रूप में पहचाना गया है। इन दोनों के ही पारस्परिक समन्वयन से कार्यकारी सृष्टि विकसित होती है।

'सापेक्षता के सिद्धान्त' के प्रकाशन के पूर्व पाश्चात्य विज्ञान और दर्शन द्रव्य (matter) और ऊर्जा (energy) तथा काल (time) और स्थान (space) को अलग-अलग पहचान दे रहे थे। कुछ ऐसी ही स्थिति आर्षेतर दर्शन और विज्ञान की भी रही है। ऐसी परिस्थिति में आधुनिक विज्ञान के समकक्ष आर्ष दर्शन और आर्ष विज्ञान ही खड़ा हो पाता है। आर्षेय विज्ञान और दर्शन ने 'मन' को ही सृष्टि-विकास के कारणरूप में देखते हुए उसे सद्सदात्मकम् अर्थात् सत्-असत् की समन्विति कहा है। 'सत्-असत्' को वैद्युतिक आवेश के रूप में देखते हुए आर्ष दर्शन और विज्ञान ने मनः प्रकाश में चिद् शक्ति को देखा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। ऋग्वेदीय मन्त्रोक्ति है– त्वं तमिन्द्र पर्वतं न भोजसे महो नृम्णस्य धर्मणामिरज्यसि। प्र वीर्येण देवताति चेकिते विश्वस्मा उग्रः कर्मणे पुरोहितः ॥ स इद्वने नमस्युभिर्वचस्यते चारु जनेषु प्रब्रुवाण इन्द्रियम्। वृषा छन्दुर्भवति हर्य्यतो वृषा क्षेमेण धेनां मधवा यदिन्वति ॥ स इन्महानि समिथानि मज्मना कृणोति युध्म ओजसा जनेभ्यः। अधा चन श्रद्दधति त्विषीमत इन्द्राय वज्रं निघनिघ्नते वधम् ॥ (ऋ० 1.55.3 से 5)

अर्थात् "हे इन्द्र ! तुम तेज के स्वामी सब धनों का भोग करनेवाले धर्म से सुशोभित हो। बलों में वृद्ध और पुरहित की कामनावालों में तुम अग्रगण्य हो।

वह इन्द्र मनुष्यों में वीर्यरूप है। साथ ही वह स्तुत्य-पूज्य और अभीष्टवर्षक भी है। जब हव्यदाता यजमान स्तुति-वाक्य का उच्चारण करता है, उस समय अभीष्टप्रदायक इन्द्र उसे यज्ञ में तत्पर करते हैं।

वह वीर इन्द्र अपने पवित्र बल से मनुष्यों के लिये युद्ध करते हैं। मनुष्यगण वज्रधारी इन्द्र को श्रद्धा से नमस्कार करते हैं।" [पण्डित श्रीराम शर्मा आचार्य द्वारा प्रस्तुत सायण-भाष्यावलम्बी सरल हिन्दी भावार्थ; ऋग्वेद प्रथम खण्ड पृ० 122-123]

स्पष्ट है कि 'इन्द्र' मनोरूप है और ऐन्द्रियक सृष्टि की वह अधिष्ठातृ देवशक्ति है। 'देवता' कार्यनिर्वाहक शक्ति के निरूपक हैं। इन्द्र 'वर्षा' के कारणरूप से बादल, बिजली, पानी के देवता तो हैं ही साथ ही औषध, पृथ्वी एवं जीव-जगत् के लिये भी कल्याणकारी हैं।

मनोरूप इन्द्र ही अपनी कार्यकारिता में ऐन्द्रियक विस्तार है, और सूक्ष्मदर्शी 'मति' अर्थात् बुद्धि-विवेक भी वही है। मनोरूप यह इन्द्र ही 'आत्मन्' (अत्+मनिन्), ब्रह्मन् (बृंह्+मनिन्) भी है। 'ब्रह्म' कारणरूप से कार्यकारी है और 'मनुष्य' (मनोः

अपत्यम्) के रूप में उस ब्रह्म का ही वास्तविक कार्यकारी –कार्यविस्तारक रूप है। सृष्टिगत हर कण अपने कार्यकारीरूप से ब्रह्मरूप है । आर्ष दर्शन में सृष्टि मनोरूप होने से चेतन है । इस रूप में ही वह सामर्थ्यपरक भी है । इस रूप में ही वह शक्तिमान् अर्थात् ब्रह्म है । शक्तिपरक 'शक्तिमान्', वस्तुतः, शक्ति का कार्यकारी रूप है । शक्ति का रूपान्तरण और समन्वयन उसके कार्यकारी और कार्यविस्तारक होने के रहस्य हैं ।

'शक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति **शक्लृ शक्तौ** और **शक् आमर्षणे** धातुओं से **क्तिन्** प्रत्यय करने से होती है । 'शक्ति' स्वरूपतः अव्यक्त, अमूर्त, अदृष्ट है । वह अपने कार्यरूप में दृष्टिगत अथवा अनुभवगत होती है । शक्तिमान् उसका वह प्रथम् अर्थात् आदि कार्यरूप है, जिससे स्थूल सृष्टि का विस्तार होता है । शक्तिमान् का 'शक्ति-शक्त' समन्वितिरूप ही कार्यविस्तारक सिद्ध होता है । और, इस शक्तिमान्रूप नटराज का नर्तन ही विस्तारकारी सृष्टि का रूप लेता है ।

आर्षेतर दर्शन 'शक्तिमान्' के 'शक्ति-शक्त' रूप की अवहेलना करते हुए 'शक्ति' और 'शक्तिमान्' को अभेदित मान बैठे हैं । **शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न गच्छति । तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव** । अर्थात् शक्ति और शक्तिमान् (शिव) में कुछ भेद नहीं है । इन दोनों में उसी प्रकार तादत्म्य है, जिस प्रकार अग्नि और दाहकत्व शक्ति में । (अभिनवगुप्त)

सब शास्त्र इसे ही अपने व्याख्यान का आधार बनाते हैं । आंर्ष दर्शन ऐसा नहीं करता । निस्सन्देह आर्षेतर दर्शनों ने 'शक्ति' की उपर्युक्त अवधारणा को स्वीकार करते हुए 'शक्ति-शक्त' को अभेदित माना है । किन्तु इसी आधार पर उन्होंने सत्-असत् को भी अभेदित न मानकर उनमें से 'सत्' को सत्य और 'असत्' को असत्य का रूप दे दिया है । 'सत्' को मान्यता देते हुए वे 'ब्रह्म' या ईश्वर या शिव को भी सत्परक ही मान बैठे हैं । 'सत्', 'भाव, 'शक्त' आदि का द्रव्यत्व रूप उन्हें आनुभूतिक तो बना जाता है, किन्तु कार्यविस्तारक या उनके 'परतम कारण' रूप की व्याख्या नहीं दे पाता । 'शक्ति' के मत को माननेवाले भी 'शक्ति' को शिवरूप देखते हुए सत्रूप ही मानते हैं । वे भूल जाते हैं कि शक्ति का शक्तिमान्रूप कार्यकारी है । 'कार्य' ही कार्य का विकासक या विस्तारक होता है । फिर "हर कार्य का कारण होता है" के आधार पर कार्यरूप शक्तिमान् का भी कोई कारण होना अपेक्षित हो जाता है । अन्यथा अनवस्था दोष का आना अवश्यम्भावी हो जाता है । सृष्टि की व्याख्या जीवन्त सत्य की अपेक्षा रखती है, अनवस्था दोष की नहीं । 'क्रिया' का जन्मदाता 'कारक' हमेशा अनवस्था दोष का शिकार ही रह जाता है । वस्तुतः, 'सत्वादी' अपने ईश्वररूप चरम सत्य को सगुण बनाने के चक्कर में अवैज्ञानिक बन बैठे हैं । 'असत्' निर्गुण और निरवयवी है ।

सत्वादियों का मानना है कि असत्वादियों का निरवयवी (निःअवयवी) परतम कारणब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता । किन्तु सत्य तो यही है कि 'जगत्' उसी निरवयवी ब्रह्म का परिणाम है । अपाणिपादो जवनो ग्रहीता (श्वेताश्वतर उपनिषद्; 3.19) की यह उक्ति इसी का साक्ष्य है । ब्रह्म की निरवयविता को शङ्कर भी स्वीकार करते हैं; क्योंकि श्रुति की इन उक्तियों से उनका कोई मतान्तर नहीं– दिव्यो ह्यमूर्त पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥ अर्थात्, निश्चय ही दिव्य पूर्णपुरुष अमूर्त ही समस्त जगत् के बाहर और भीतर भी व्याप्त है । जन्मादि विकारों से अलग वह प्राणरहित, मनरहित होने के कारण सर्वथा विशुद्ध है । इसीलिये वह 'अक्षर' जीवात्मा से अत्यन्त श्रेष्ठ है । 'अत्यन्त श्रेष्ठ' अर्थात् परतः परः, वस्तुतः, 'परतम' (Summum) का निरूपक है । (मु० 2.1.2)

श्वेताश्वतर उपनिषद् की उक्ति है– निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् । अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥ अर्थात् "वह कलाओं से रहित (निष्कल), क्रियारहित (निष्क्रिय), शान्त, निर्दोष (निरवद्यम्), निर्मल (निरञ्जन), अमृत के परम सेतुरूप तथा जले हुए ईन्धन से युक्त अग्नि की भाँति है ।" (श्वेता० 6.19)

श्रुति कहती है कि 'ब्रह्म' का कोई 'कारण' नहीं । वह उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयरूप से प्रभावित नहीं । वह अज है । श्वेताश्वर उपनिषद् की उक्ति है– न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ अर्थात्, "उसके शरीररूप कार्य और अन्तःकरण तथा इन्द्रियरूप करण भी नहीं है । फिर भी उसके समान कोई भी दूसरा नहीं दीखता । इस परमेश्वर की ज्ञान बल और क्रियारूप स्वाभाविक परा शक्ति (दिव्य शक्ति) नाना प्रकार की ही सुनी जाती है ।" (श्वेताश्वतरोप० 6.8)

इतनी विचारोत्तेजकता में भी जब आर्येतर दर्शन 'ब्रह्म' (बृंह्+मनिन्) और 'धर्म' (धृ+मन्) को परिभाषित करने में मात्र 'बृंह्' और 'धृ' धातुओं तक ही सीमित रह जाते हैं, 'मनिन्' और 'मन्' तक नहीं पहुँच पाते तब भला वे 'ब्रह्म' और 'धर्म' की यथार्थता को जान भी कैसे सकते हैं । उनके पास क्रियाजनकत्वं कारकं पर ही अडिग रहने के सिवा कुछ नहीं रहता । अगर रहता भी है तो वह है द्वन्द्वात्मक स्वरूपाद्वैतवाद के नाम पर ब्रह्म को 'सावयव' एवं 'निरवयव' दोनों को स्वीकार करने की मजबूरी।

ऐसे तार्किक अपनी सैद्धान्तिक अवधारणा में जीवन की यथार्थता को देख नहीं पाते । 'जीवन' सत्य है, ठीक उतना ही जितना 'ब्रह्म' सत्य है । दोनों ही 'सत्+यत्' के रूप में निष्पन्न सत्य के निरूपक हैं, मात्र 'सत्' के रूप में नहीं । 'ब्रह्म' मात्र 'बृंह्' से निरूपित नहीं होता । और, न ही धर्म मात्र 'धृ' से निष्पन्न होता है । दोनों को अपनी पूर्णता के लिये क्रमशः 'मनिन्' और 'मन्' से संयोजित होना होता है । यह संयोजन क्रिया भी क्रियापरक 'मन' की कामना पर ही निर्भर होती है । ऋग्वेद की मन्त्रोक्ति स्पष्ट है– **कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्यां कवयो मनीषा।** (ऋ० 10.129.4)

ये 'सत्-असत्' बन्धुरूप हैं; क्योंकि ये **आनीदवातं स्वधया तदेकं** के 'तत्' से विकसित हैं । तत् एकं मात्र क्रियात्व है, कारक नहीं । इस स्थिति में कारक का कारकत्व भी क्रियात्व में बदला होता है । यह, कारकत्व ही है, जो प्रलयकाल में क्रियात्व में रूपान्तरित होता हुआ तदेकंरूप क्रियात्व में आत्मसातित रहता है । और यह क्रियात्व है, जो क्रिया की सुसुप्ति या प्रतिबन्धितावस्था की व्याख्या प्रस्तुत करती है । **सुसुप्त 'क्रिया' का कारकरूप धारण करने की इच्छा ही 'काम' है** । और 'मन्' 'सुसुप्त क्रिया' या क्रियात्व का निरूपक है । सत्–असत् क्रमशः कारकत्व और क्रियात्व के निरूपक हैं । दोनों, वस्तुतः, विद्युतावेश के निरूपक सिद्ध होते हैं । क्रियाशक्ति की सुसुप्तावस्था या प्रलयावस्था उसकी कार्य के प्रति प्रतिबन्धिता में व्याख्यायित होती है । सृजनावस्था ही मनःशक्ति की जागरितावस्था है, जिसमें मन का प्रथम रेत 'काम' संयोजकरूप से क्रियाशील होता है । जीवन (जीवनः) सदैव क्रियाशील रहता है ।

प्रलयावस्था का उपर्युक्त **आनीदवातं स्वधया तदेकं** के कार्यकारी सगुणब्रह्म से भी **परतः परः** अर्थात्, परतम अर्थात् निर्गुण, निर्विकार और निरवयव परमब्रह्म है। 'परब्रह्म' और 'ब्रह्म' दोनों की व्याख्या हमें गीता के श्री कृष्ण के व्यक्तित्व में मिलती है । श्रीकृष्ण जब कहते हैं **अहमेवाक्षयः कालो** तो वे 'काल' से परे एक अक्षयशील काल की बात कर रहे होते हैं । 'काल' भी महाप्रलय में समाप्त हो जाता है । उसका भी कारित्वरूप क्रिया क्रियात्वरूप क्रिया में बदल जाता है; और, तब श्री कृष्ण ही 'बालमुकुन्द' रूप से प्रलयकाल में सलिलवत अदृष्ट, अननुभूत रूप से बने रहते हैं। यह उनकी कारणरूप निर्गुण, निरवयव, निर्विकार स्थिति है, जो सृष्टिकाल आने पर सृष्टि के निर्माण के लिये क्रियाशील होती है । अपनी क्रियाशीलता में क्रियात्व ही कारित्व में रूपान्तरित होता और परस्पर समन्वित होकर कार्यकारी क्रियाशक्ति का रूप धारण करता है । और यह कार्यकारी क्रियाशक्ति ही है, जो सामर्थ्य और बल दोनों

को निरूपित करती है। फिर यह मनोरूप क्रियाशक्ति ही है, जो अपनी 'धृति' में 'ज्ञानपरक' और 'कृति' में कर्मपरक होती है; और, यह मनोरूप क्रियाशक्ति ही है, जो अपने कार्यकारी तेजः रूपों के समन्वयन से सृष्टि के विकास में अभिव्यक्त या व्याहृत होती है। आधुनिक विज्ञान ऐसे कार्यकारी शक्तिरूपों में यान्त्रिकी, तापीय, ध्वन्य, प्रकाशीय, चुम्बकीय, वैद्युतिक आदि को पहचान पाया है। यह प्रशंसनीय है कि आधुनिक भौतिक विज्ञान जीव विज्ञान को समझते हुए जीवन विज्ञान को समझने का प्रयास कर रहा है। D.N.A (डी.एन.ए.) और R.N.A. (आर.एन.ए.) की संरचनात्मक समझ के साथ जीवन दर्शन के नये अध्याय प्रारम्भ होंगे ऐसी ही उम्मीद की जा सकती है।

आर्ष दर्शन में 'मन' को जीवन विज्ञान की आधारभूत कार्यकारी जीवन-क्रिया का रूप माना है। यह 'मन' क्रिया-कारित्व या असत्-सत् की समन्विति के रूप में देखा गया है। ध्यातव्य है कि महाप्रलय में मन का कारित्व अवयव भी क्रियात्व में बदल जाता है और सृष्टि का अपना कार्यकारी रूप प्रलयित हो जाता है। कार्यकारी 'मन' का ही परतम कार्यकारी रूप 'ब्रह्म' है; और, उसका कारण रूप 'पर ब्रह्म' असत्रूप 'तत्' या क्रियात्व महाप्रलयावस्था का विषय बना होता है। आर्ष दर्शन में सम्पूर्ण सृष्टि ही चेतन मानी गयी है।

ऋषि क्रिया के द्रष्टा हैं; और, वे जहाँ कार्यजगत् को देखते हैं, वहाँ कारण जगत् को भी देख सकने में वे समर्थ होते हैं। ऋषि के ऐन्द्रियक चक्षु मनःनियन्त्रण में मन से मिलकर मनश्चक्षु का रूप ले लेते हैं। 'धृत मन' ही 'धर्म' कहा गया है, जो **दमो धर्मः सनातनः** के रूप में परिभाषित हुआ है। **दमो धर्मः सनातनः** के सहारे ही ऋषि जीवन-विज्ञान को जान और जीवन-दर्शन को देख तथा अभिव्यक्त कर पाने में समर्थ होते हैं।

आर्षेतर दर्शन ने सत् को सत्य तथा 'असत्' को असत्य मानकर उनकी पारस्परिक पूरकता को देखने का कभी प्रयास ही नहीं किया। 'सत्' की सगुण द्रव्यात्मकता में वे तत् एकम् को ही भूलते रहे हैं। 'सत्' की द्रव्यात्मकता में उन्हें द्रव्यात्मक सगुण कार्यजगत् का सृजन दिखा। फलतः वे अव्यक्त 'असत्' को बेकार समझकर उसे अनास्तित्विक घोषित कर गये। इस तरह अव्यक्तता में अनस्तित्व को देखना उनके दर्शन को अवैज्ञानिक बना गया। ऐसे में आर्ष दर्शन का 'सत्' मात्र ही जहाँ उनका परमात्म सत्य हो गया, वहाँ 'असत्' के अभाव में वह मायावी भी हो गया। यही आसुरी जीवन-दर्शन का आधार बनता है। 'सत्' मात्र को सत्य या सत्ता मानना 'असत्' को सत्ता या सत्य से अलग कर देता है। और, वह असत्य घोषित हो जाता है। दूसरी ओर 'सत्' अपनी सत्ता में लोकेतर हो जाता है। लोकेतर सत्ता

का सत्य लौकिकता में निर्धारित नहीं हो पाता और, लौकिकता उस सत्ता के लिये लीलावत् हो जाती है, जिसका कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता । लौकिकता आभास या स्वप्नमात्र सिद्ध हो जाती है । सृष्टि विकासात्मक न रहकर लोकेतर सत्ता द्वारा सृष्ट सिद्ध हो जाती है, और उसका अस्तित्व सत्ता के अधीन हो जाता है । वहाँ लोकेतर सत्ता रहस्यमय हो जाती है ।

एक ओर सत्वादियों का 'ब्रह्म' सत्मात्र होने से द्रव्यात्मक है; और, वही कारकरूप से क्रिया का जनक हो जाता है । दूसरी ओर आर्ष दर्शन में 'ब्रह्म' सत्-असत् की समन्विति होने से स्वयं में कारण और कार्य दोनों सिद्ध होता है । यहाँ शक्ति की अविनाशिता अथवा शक्ति का संरक्षण (Conservation of energy) का सिद्धान्त हमारे समक्ष आता है । इसे आर्ष दर्शन ने कारण के नियम (Law of caustaion) के रूप में इस प्रकार देखा है– शक्ति + शक्त =शक्तिमान् (स्वयम्भू, शिव, ईश्वर, कार्य ब्रह्म)

दूसरे शब्दों में, शक्तिरूप कारणब्रह्म अपने क्रिया-कारित्व रूपों के समन्वयन से शक्तिमान्रूप कार्यब्रह्म में विकसित होता है । यह कार्यब्रह्म ही कार्यकारी सृष्टि के विस्तार का कारण बनता है । इसे ही "सत्+असत् = सत्ता" अथवा "क्रिया+कारित्व=अर्थ" के रूप में भी देखा गया है । इस तरह शक्ति की सत्ता का कभी विनाश नहीं होता, रूपान्तरण होता है । प्रलयकाल में 'द्रव्य' का रूपान्तरण 'शक्ति' में होता है । और सृजन काल में शक्ति का रूपान्तरण द्रव्य में होता है । और सृष्टि दोनों अर्थात् द्रव्यात्मक तथा शक्त्यात्मक शक्ति की समन्विति होती है; वह कार्यविस्तारक होती है । चूँकि शक्ति का विनाश नहीं होता, ब्रह्म को 'नित्य' कहा गया है ।

शक्ति का क्रियात्वरूप अपने कारित्वरूप से इसलिये घिरा होता है ताकि उसकी कार्यकारिता कारित्वरूप से सम्पन्न होकर कार्यरूप में परिणत हो, अभिव्यक्त हो, व्याहृत हो । कारित्व की द्रव्यात्मकता में शक्ति का कार्यरूप अभिव्यक्त या व्याहृत होता है । तैत्तिरीयोपनिषद् (1.5) ने ऐसी सोलह व्याहृतियों की चर्चा की है । इसके साथ ही तैत्तिरीयोपनिषद् ने संधिप्रकरण से पाँच अधिकरणों में महासंहिता (अधिलोक, अधिज्योति, अधिविद्या, अधिप्रजा और अध्यात्म) का तथा पांक्तों (लोकों की आधिभौतिक पंक्ति, ज्योतियों की आधिभौतिक पंक्ति, स्थूल जड़-पदार्थों की आधिभौतिक पंक्ति तथा आध्यात्मिक प्राण, कारणसमुदाय, शरीरगत धातुओं का समुदाय) की सहायता से सृष्टि की कार्यप्रणाली को समझाने का प्रयास किया है ।

आधुनिक विज्ञान ने सृष्टि को द्रव्यात्मक शक्ति (material energy) के रूप में देखा है । उसके लिये द्रव्य (matter) भी शक्तिरूप है । वह मानता है कि



'शक्ति' भी द्रव्य (tiny matter) ही है । ऐसी स्थिति में आर्ष विज्ञान आधुनिक विज्ञान के समकक्ष भी है और जीवन को समझने में वह आधुनिक विज्ञान से बहुत आगे हैं । आर्ष विज्ञान वैदिक शक्ति की सार्वकालिक और सार्वभौमिक व्याख्या देता है ।

आर्ष विज्ञान यह बतलाता है कि किस आधिभौतिक पदार्थ के साथ किस आध्यात्मिक पदार्थ का क्या सम्बन्ध है । इसे समझ कर मनुष्य आध्यात्मिक शक्ति से भौतिक पदार्थों का विकास कर लेता है और भौतिक पदार्थों से आध्यात्मिक शक्तियों की उन्नति कर लेता है । आध्यात्मिकता के अन्तर्गत् प्राण, करण समुदाय तथा शरीरगत धातु विचारित हुए हैं ।

अध्यात्म, वस्तुतः, शरीर के भीतर अर्थात् क्रियापुरुष या कार्यकारी क्रियाशक्ति या मनोमानव या अन्त:पुरुष या अन्तःकरण का अर्थ देता है । अन्तःकरण को वेदान्तसार ने इन पंक्तियों में परिभाषित किया है– **मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्। संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी ॥**

"मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त की समष्टि को अन्तःकरण कहा गया है। संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण ये चार क्रमशः इनके विषय हैं । अन्तःकरण का निर्माण पाँच भूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) कारण शक्तियों अर्थात् सूक्ष्म तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध) के अंशों से होता है ।

अन्तःकरण को भीतर की ज्ञानेन्द्रिय और 'मन' को इसका पर्याय माना गया है । अपनी समष्टि या धृति में यह ज्ञानपुरुष या मनोपुरुष और कृति में कर्मपुरुष कहा जाता है । अहंकार मनोपुरुष का विषय है और मन, बुद्धि और चित्त उसके 'करण' हैं । 'मन', वस्तुतः, दर्शन और मनन से; 'बुद्धि' विवेचन और विज्ञानन से; तथा 'चित्त' सार्वरूप सामष्टिक अभ्युदय के चिन्तन और स्मरण से सम्बद्ध है । सूक्ष्म तन्मात्राओं के अंशों से निर्मित अन्तःकरण, वस्तुतः, शक्त्यात्मक व्यक्तित्व है । इसे ही कार्यकारी क्रियापुरुष या 'ब्रह्म' कहा गया है ।

सामान्यतः क्रिया को कर्म के रूप में और कर्म को कार्य के रूप में समझा जाता है । फलतः क्रिया, कर्म और कार्य का परिणाम सामान्यतः अभेदित रह जाते हैं तथा स्थिति, मनन-विवेचन और चिन्तन के सन्दर्भ, अयथार्थ की ओर चले जाते हैं । 'क्रिया' सामर्थ्य है; 'कर्म' कारक का वह रूप है, जो स्वंय क्रिया से उत्पन्न क्रिया की ही कार्यकारिता को परिणामित करने में सहयोग देता है; तथा 'कार्य' क्रिया की कार्यकारिता का परिणाम है । इस तरह 'क्रिया' सृष्टि का अनादि-अजन्मा कारण है । यह क्रिया-कारित्व रूपों में रूपान्तरित हो कार्य के लिये तत्पर होतो है । 'काम' या 'कर्म' इसका पहला संयोजकरूप होता है । क्रिया कारित्व की समन्विति के रूप

में प्रथम अर्थात् आदि कार्य परिणामित होता है । यह आदिकार्य शक्त्यात्मक होने से शक्त्यात्मकरूप से कार्यकारी होता है । यह सृष्टिगत कार्यविस्तारक कार्यरूपों का आदिकारण है । हर कार्य अपने अगले कार्य का कारण होता है । 'सृष्टि' द्रव्यात्मक कार्यरूप और 'आदिकार्य' शक्त्यात्मक कार्यरूप है । यह क्रिया सृष्टि का आद्यकारण है । अपनी विशुद्धता में यही परब्रह्म है और अपनी कार्यकारिता में यही 'ब्रह्म' है । परब्रह्म 'ब्रह्म' का कारण है और ब्रह्म सम्पूर्ण सृष्टि के विकास का कारण ।

'क्रिया अपनी कार्यकारिता में प्रथमतः 'भूति' रूप से कारित्व का रूपात्मक दिशानिर्देशक सिद्ध होती है । 'भूति' को निरुक्त ने 'षड् भाव विकार' के रूप में परिभाषित किया है । **षड् भाविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः – जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति** ॥ 'भूति' की स्थिति में 'भाव' अथवा 'क्रिया' कारित्व पर प्रभाव डालती और परिणामी कार्य का रूप निर्धारित करती है । क्रिया-निष्पादित कार्य क्रियाशक्ति के नियमों के अनुरूप निष्पन्न होता है, किसी लोकेतर ईश्वररूप स्रष्टा की लीला नहीं होता । फलतः सृष्टि प्रयोजनरहित नहीं होती । यह विकासोन्मुखी होती है ।

सृष्टि का विकास, वस्तुतः, मनःविकास की कहानी है । 'मन' धृति, ज्ञातृ और कर्तृ तीनों रूपों में कार्यकारी होता है । फलतः जैविक संसार में 'मस्तिष्क' और 'हृदय' का विकास तथा तदनुरूप शरीर का रूपनिर्धारण प्राकृतिक विकासवाद का विषय रहा है । जैविक संसार चैतनिक सृष्टि का निरूपक है । चेतना ज्ञातृ और कर्तृ दोनों रूपों में कार्यकारी है । यह 'मन' है, जो 'धृ+मन्' रूप से अर्थात् अपनी धृति में ही मति, आत्मा और ब्रह्मरूप से कार्यकारी होता है और 'कृ+मनिन्' रूप से कार्य को परिणामित करता है । 'शक्ति' कार्य करने की क्षमता है और क्षमता का उपयोग मानवीय धरातल पर होना है । मानव ब्रह्मरूप है । 'मानव', वस्तुतः, मानव-व्यक्ति का व्यक्तित्व है । 'व्यक्ति' मानव या मनुष्य का व्यक्त रूप है । ऐसी स्थिति में ही व्यक्ति को 'मनुष्यजा' भी कहा गया है ।

वेद में ब्रह्म शब्द का अर्थ 'प्रार्थना', 'मन्त्र', 'शब्द', 'तेज' , 'शक्ति' 'धन', 'सम्पत्ति' आदि है । वहाँ हर वह कार्यरूप, जो वृद्धिशील है, 'ब्रह्म' है । बृह या बृंह् धातु से निष्पन्न 'ब्रह्म' का गुण वृद्धिशीलता तो है; किन्तु उसके 'मनिन्' अंश को तो नहीं छोड़ा जा सकता; क्योंकि 'मन' सृष्टि का आदिकरण है।

मनःक्रिया के आधार पर 'ब्रह्म' का ज्ञातृरूप शब्दब्रह्म और कर्तृरूप जीवब्रह्म कहलाता है । इस तरह 'जीवन', वस्तुतः, 'शब्दब्रह्म' और 'जीवब्रह्म' की समन्विति है । इसी समन्विति को अध्यात्म पुरुष या अध्यात्म देवता कहा गया है । शब्दब्रह्म ज्ञानेन्द्रियों से और जीवब्रह्म कर्मेन्द्रियों से सम्बद्ध है । इन

दोनों की समन्विति ही मानव-जीवन है । क्रियाप्रधान अन्तःकरण और कारित्वप्रधान शरीर की समन्विति ही मानव का अध्यात्मरूप है । अध्यात्मविद्या, वस्तुतः, कार्यकारी क्रियापुरुष के परमार्थसत्य को जानने का साधन है।

'मन्' क्रियात्मक चेतनशक्ति है । महाप्रलय में यह बालमुकुन्दरूप रहता है। यह निर्गुण, निर्विकार और निरवयव होता है । सिसृक्षा के साथ वह स्वयं को सत्-असत् की सामासिकता के साथ मनरूप देता है । सत्-असत् की पूरकता में 'मन्' का रूपान्तरण 'मन' के रूप में होता है । गीता के श्रीकृष्ण जब अपने को 'अक्षयःकाल' कहते हैं तब वह 'मन्' रूप होते हैं; क्योंकि वह विशुद्ध क्रिया या क्रियात्वरूप होता है । महाप्रलय में सृष्टि का सम्पूर्ण कारकत्वरूप इस रूप में ही आत्मसातित हो जाता है; और इस तरह सृष्टि का कार्यकारी या कार्यविस्तारक रूप समाप्त हो जाता है । सिसृक्षा के साथ 'मन्' का मनःरूप होना 'मन्' को कार्यकारी मन बना देता है । इसके कार्यकारी तत्त्व सत्-असत् मनःरूप कार्यकारी ब्रह्म अर्थात् श्रीकृष्ण को द्वन्द्व समास का रूप देता है ।

'मन्' (तत्) कारण ब्रह्म है, जो महाप्रलय में स्वधया अस्तित्वमान् रहता है; 'मन' (सत्+असत्) कार्यब्रह्म है, जिससे कार्यकारी सृष्टि का विकास होता है। सम्पूर्ण सृष्टि अपने सम्पूर्ण कारित्व के साथ, प्रलयकाल में 'क्रिया' या क्रियात्व में आत्मसातित हो जाती है । श्रीकृष्ण इसे ही इस रूप में कहते हैं– **सर्गाणामादिरन्तश्च चौवाहमर्जुन** । (गीता– 10.32 पूर्वांश)

'शक्ति' की नित्यता उसकी रूपान्तरण क्षमता में निहित होती है । आर्ष दर्शन में 'भूत' वह शक्तिमान् है, जिसका कारित्वरूप 'शक्तांश' (शक्त+अंश) क्रियारूप शक्त्यंश (शक्ति+अंश) की कार्यकारिता को परिणामी बनाता है । 'ब्रह्म' इसी शक्तिमान् रूप को निरूपित करता है । यह 'ब्रह्म' ही अध्यात्मपुरुष है, जो उत्तमपुरुष के रूप में श्रीकृष्णरूप से निरूपित है । इस ब्रह्म को अध्यात्मविद्या द्वारा ही जाना जा सकता है । और यह विद्या आत्मा और शरीर की संयुतिरूप 'जीवन' के दर्शन में हमें मिलती है ।

वस्तुतः, क्रियापुरुष 'अध्यात्मपुरुष' है; क्रियापुरुष को उसके कारण और कार्यरूपों को उनकी पूर्णता में देखना, जानना और उपभोग में लाना अध्यात्मविद्या है। उपर्युक्त क्रियापुरुष ही कार्यविस्तारक कार्यपुरुष का कारण अर्थात् स्वभाव है । 'कार्य' का व्यक्तित्व या कारण या स्वभाव क्रियारूप होता है । **स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते**– गीता (8.3) ।

तैत्तिरीयोपनिषद (3.1) की उक्ति है– अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । तंहोवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि । जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति ।

इस उक्ति में इमानि भूतानि, वस्तुतः, अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति' से सम्बद्ध है । 'भूत' पद अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र मन और वाक् से युक्त व्यक्तित्व का निरूपक है । ऐसी स्थिति में भूतानि पद से 'प्राणी' अर्थात् प्राणवान् अर्थात् जैविक संसार का अर्थ लिया गया है । 'अन्न' शरीर का निरूपक है; 'प्राण' चेतनशक्ति का; चक्षु, श्रोत्र और मन द्रष्टा शक्ति हैं; और, मन तथा वाक् आभिव्यक्तिक कर्तृ शक्ति है । यह प्राणी-जगत् जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं और अन्त में प्रयाण करते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं उसे तत्त्वतः जानने की इच्छा करो । वही ब्रह्म है ।

ब्रह्म को 'सच्चिदानन्दघन', 'तज्जलान' और 'पञ्चकोषीय आत्मा' (अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द) रूपों में अवधारित किया गया है । वस्तुतः, 'ब्रह्म' सृष्टि का कारणरूप है; वह शक्त्यात्मकरूप से कार्यकारी है । 'परब्रह्म' ब्रह्म का कारण है; और, वह विशुद्ध क्रियारूप है । 'क्रिया' की कार्यकारिता कारित्व के साथ मिलकर ही सम्भव होती है । 'क्रिया' और 'कारित्व' शक्तिरूप हैं । दोनों की समन्विति में ही शक्ति कार्यकारी होती है ।

'सच्चिदानन्द' पद, वस्तुतः, 'सत्', 'चित्', और 'आनन्द' की समन्विति है। इनमें 'सत्' द्रव्यरूप का, 'चित्' मन् का और 'आनन्द' परिणामरूप कार्य या अर्थ का निरूपक है ।

''तज्जलान' पद 'तत्+ज+ल+अन्' की समन्विति है । इसका अर्थ 'तत्+ज=तज्जं', 'तत्+ल=तल्ल' और 'तत्+अन्=तदन्' के रूप में प्राप्त होता है । उस (ऋग्वेद का 'तदेकं' - आनीदवातं स्वधया तदेकं) तत् से ही सबका जन्म, उसमें ही सब का लय और उसमें ही सब का अनन् या प्राणन् या स्थिति बनती है ।

पञ्चकोषीय आत्मा का अन्नमय कोष 'तत्+अन्=तदन्' के रूप में प्राण का आश्रयी है; 'प्राण' मन का, 'मन' विज्ञान का 'विज्ञान' आनन्द का, और 'आनन्द' आत्मा का आश्रयी है । यही कारण है कि 'आत्मा' को 'सच्चिदानन्दघन' कहा जाता है ।

यहाँ 'विज्ञान' का अर्थ, वस्तुतः, सिद्धान्त की प्रायोगिक अर्थात् व्यावहारिक अथवा आनुभविक सम्पुष्टि के रूप में मिलता है । आर्ष दर्शन में विज्ञान का महत्त्व भी यहाँ सम्पुष्ट हो जाता है । आर्षेतर दर्शन आचारिक 'धर्म' पर जोर देते हैं । फलतः

वैज्ञानिक यथार्थता से उनका टकराव अवश्यम्भावी हो जाता है । वे निष्पक्षता को अपना नहीं पाते । उनका 'ईश्वर' खतरे में पड़ जाता है; क्योंकि वह उनके लिये स्रष्टा, नियामक और नियन्ता ही नहीं, वरन् लोकेतर भी है ।

आचरण स्थिति को प्रश्रय देता है । और स्थितियाँ 'एक समाज' की स्थानिक परिस्थितियों से परिभाषित होती हैं । वहाँ स्थानिक प्रवृत्तियाँ प्रमुख होती हैं।

स्मृतियाँ युगानुरूप बदलते आचार को धर्मरूप स्वीकार करती हैं । मनुस्मृति की इस उक्ति को देखें– **अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे । अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते । द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे । (मनु० 1.85.86)**

और फिर स्मृति 'आचार' को ही परमधर्म भी घोषित करती है ।

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च । तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ॥ (मनु० 1.108)

वस्तुतः 'सत्' को 'सत्य' मानने से ब्रह्मरूप सत्य और 'सत्ता' भी 'सत्' की द्रव्यत्वरूपता में बदली गयी । सत्य या सत्ता का क्रिया-तत्त्व गौण होकर द्रव्यत्व को प्रभावी बना गया । ऐसे में द्रव्य को रूप देनेवाली क्रिया स्वयं सत् का विकार बना दी गयी । क्रियारूप 'भाव' द्रव्यत्वरूप भूत या मूर्तरूपता समझी जाने लगी । क्रिया-कारित्व की समन्विति के रूप में व्याख्यायित 'कार्य' मात्र कारित्व रूप से कारक घोषित होकर क्रिया का जनक घोषित हो गया । 'वेद' का वृद्धिशील शक्त्यात्म 'मन्' या 'मन' अपनी क्रियात्मकता को खोकर द्रव्यरूप से 'ब्रह्म' बनकर लोकेतर हो गया । उसकी शक्त्यात्मक लौकिकता और शक्तिगत लोकव्याप्ति को लोकेतर सत्ता घोषित कर दिया गया । फिर तो 'नेति नेति' की औपनिषदिक घोषणा को भी 'यह ही नहीं, यह ही नहीं' के अन्तर्भावक (inclusion) व्याख्या के स्थान पर 'यह भी नहीं, यह भी नहीं' के वहिष्करणात्मक (exclusion) व्याख्या को मान्यता देकर ब्रह्म को लोकेतर रहय के रूप में स्वीकार कर लिया गया । धर्म भी अपने से दमो धर्मः सनातः का रूप छिन जाने पर ब्रह्म का द्रष्टा नहीं रहा । वह आचारिक होकर दण्ड और दाण्डिक रूप ईश्वर के अधीन जाकर भाग्यविधाता बन गया । रहस्यवाद और भक्ति की दौड़ ने मानव से मानव की मननशीलता को छीन कर उसे अन्धविश्वास और अन्धभक्ति के हाथों सौंप दिया । 'श्रद्धा' और 'निष्ठा' (belief and faith) का सामान्य अर्थ भी विशिष्ट हो ईश्वर के प्रति समर्पित होकर अन्धश्रद्धा और अन्धविश्वास का पर्याय बन गया । 'धर्म' ने विज्ञान को अपना दुश्मन मान लिया ।

धर्म का अर्थ बदलने से न केवल ब्रह्म या स्वयं धर्म का रूप बदला वरन् 'दर्शन' भी दर्शन न रहकर संशय और तर्क का विषय बना दिया गया । इसके साथ

ही कारण की दुनिया से हटाया जाकर दर्शन को शास्त्रवत् मान लिया गया। पाश्चात्य संस्कृति ने 'दर्शन' की जड़, 'साक्षात्कारिता', को उखाड़कर उसे 'ज्ञानानुराग' के छिछले (shallow) धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया। 'शास्त्र' कार्य या कारक को देखता है, कारण को नहीं। शास्त्र की परिभाषा कुछ इस तरह दी गयी है– **शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते । शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः । शासनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम् ॥**

"'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति दो धातुओं से है– शास्=आज्ञा करना; तथा शंस्=प्रकट करना या वर्णन करना।

शासन करने वाले शास्त्र विधिरूप (स्वीकृति) तथा निषेधरूप से सम्बद्ध होते हैं। इस अर्थ में शास्त्र धर्मशास्त्र अर्थात् आचार नियामक शास्त्र के रूप में स्वीकार्य होता है। इसे कर्मपरक अर्थात् आचारपरक माना गया है। 'शंसक' शास्त्र अथवा बोधकशास्त्र उस शास्त्र को कहा गया है, जिसके द्वारा वस्तु के सच्च स्वरूप का वर्णन किया जाय। इसे ज्ञानपरक माना गया है।

धर्मशास्त्र को 'पुरुष परतन्त्र' और दर्शनशास्त्र को 'वस्तुतन्त्र' कहा गया है। पुरुष कार्यरूप है और उसे ईश्वररूप माना गया है। दर्शन शास्त्र को जहाँ वस्तुतन्त्र कहा गया है, वहाँ उसे 'विज्ञान' से अलग कर आधुनिक दर्शन शास्त्र ने संशय और तर्क के अधीन कर दिया है। फिर 'वस्तुतन्त्र' के रूप में मान्यता देते हुए भी उसे आत्मगत गुणवाचकता का विषय बना दिया गया है, 'वस्तुगत गुणवाचकता' का विषय नहीं बनने दिया गया है। क्रियैक देशबोधिनी शास्त्र से वस्तु का अनन्तधर्मकम् रूप व्याख्यायित नहीं हो पाता। इसके लिये दर्शन को नीतिशास्त्र के रूप में देखते हुए उसे भी 'धर्म' (आचारिक धर्म) के अधीन रख दिया गया। राजा का धर्मरूप भी दण्ड और दाण्डिक के रूप में रह गया; क्योंकि कर्म की स्वतन्त्रता से हटाकर व्यक्ति को वैयक्तिक आचारिता का दायित्व देते हुए उसे जातिधर्म से बाँध दिया गया। 'धर्म' के 'धृ+मन्' रूप से 'मन्' को हटाकर अन्य सब कुछ रख दिया गया। उसे 'चिन्तन' और 'दर्शन' से हटकर 'बन्धन' (हर तरह के) के रूप में परिभाषित कर दिया गया। किसी ने कहा– वह जिससे समाज के सब अवयव एक सूत्र में बँधे रहे 'धर्म' है।" उनसे पूछा गया– "यह कैसे होगा।" ऐसे में उनके लिये नीति निर्धारण और नीतियों के अनुपालनार्थ 'दण्ड-दाण्डिक की व्यवस्था' के सिवा कोई दूसरा उत्तर नहीं था। अप्राकृतिक नियन्त्रण सहज नहीं होता। असहजता हिंसा को जन्म देती है। हिंसा से आतङ्क फैलता है। मानव सहज नहीं रह पाता।

ऋषियों ने 'जीवन' को देखा था, और मनःसंयमन से जीवन को अभ्युदयगामी बनाया था। उनका समाज सम्पूर्ण सृष्टि के रूप में परिभाषित था;

क्योंकि उनके लिये सम्पूर्ण सृष्टि एक अद्वितीय की ही विकसिति थी । और, वह उनका 'ब्रह्म' था । यह वह 'ब्रह्म' था, जो मन की वृद्धिशीलता, उसकी रूपान्तरता एवं उन रूपान्तरणों की (शक्ति रूपों) समन्वयता में परिभाषित था, साथ ही उनका यह 'ब्रह्म' शास्त्रगत रूप से नहीं, वरन् दर्शनगत साक्षात्कृति के आधार पर परिभाषित था । वह कार्यपुरुष तो था परन्तु, उसका कारण था 'मन्', जो कार्यकारी क्रिया नहीं, स्वयं क्रिया का क्रियात्व अर्थात् एक नित्यत्व था । वह 'कारकत्व' से अलग नहीं, वरन् कारकत्व को भी अपने-आपमें अपने-आपके रूप में आत्मसातित किये विशुद्ध शक्ति का रूप था, कार्यप्रतिबन्धित था । कारकत्व के अभाव में 'क्रिया' कार्यशील नहीं होती । 'कारक' स्वतंत्र नहीं होता, वह तो क्रिया के कर्तृत्व का साधन-मात्र होता है । वह अरूप क्रिया के रूपत्व का कारण स्वयं क्रिया का स्वरूप होता है ।

इस तरह 'धर्म', वस्तुतः, दर्शन की द्रष्टृ शक्ति है और 'दर्शन' ज्ञानमय कर्म अर्थात् आचार की आधारशिला । 'आचार' का निर्धारण ज्ञान और कर्मानुभव की समन्विति का विषय है । कर्मानुभव ज्ञान को सम्पुष्ट करता है और सम्पुष्ट ज्ञान से कर्म सफल और आनन्ददायी होता है । यह आनन्द ही मोक्षरूप है । 'मोक्ष' मृत्यु में नहीं, वरन् सफलता में है; और, सफलता है परमार्थसत्य की प्राप्ति में; किसी व्यक्तिगत सत्य अर्थात् विषयगत अर्थात् सत्रूप अर्द्ध सत्य में नहीं । आत्मा व्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व है; सार्व या परम का रूप है । वह ब्रह्म है । हाँ उपनिषदों ने ठीक ही कहा जब उन्होंने **अहम् ब्रह्मास्मि** कहा । उन्होंने तब भी सत्य ही कहा जब **तत्त्वमसि** और **तत् ब्रह्म** कहा ।

यह ब्रह्म तभी प्रत्यक्ष होता है, जब **दमो धर्मः सनातनः**-रूप धर्म से हमारी दर्शन-शक्ति वृहत्तम को देखने में समर्थ होती है । यह दर्शन-शक्ति हमें 'कारक' के भी कारण को देखने की शक्ति देती है । तब हमारा 'ईश्वर' या 'ब्रह्म' या हम स्वयं अपने से अपरिचित नहीं रहते । हम उन्हें और स्वयं अपने को उस क्रियारूप में देख सकने में समर्थ होते हैं, जो सम्पूर्ण सृष्टि का कारण है। तब सम्पूर्ण सृष्टि ही हमारे लिये हमारा समाज बन जाता है । तब समाज में हमारा और हममें समाज का व्यक्तित्व आत्मसातित दिखता है । इस क्रिया-दृष्टि को ही गीता ने दिव्यचक्षु या मनश्चक्षु कहा है । श्रीकृष्णरूप कारण और शक्त्यात्मक कार्यरूप-ब्रह्म (नारायण) कार्यविस्तारक कार्यकारी ब्रह्मरूप अर्जुन से कहते हैं- **न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥** (गीता 11.8)

'ऋषि-दृष्टि', यही दिव्य दृष्टि है, जो **दमो धर्मः सनातः** के रूप में परिभाषित और ब्रह्मदर्शन में सक्षम होती है । ऋषि द्रष्टारूप से ब्रह्मद्रष्टा है । **ऋषयोः**

मन्त्रद्रष्टारः । द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः । और 'क्रिया' ही अपनी वृद्धिशीलता में सबका कारणरूप 'ब्रह्म' है ।

तैत्तिरीयोपनिषद् की उक्ति है– भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः ।

यहाँ व्याहृतियों के सन्दर्भ से ब्रह्मरूप को परिभाषित करती उपनिषद् ने कार्यकारी कार्यविस्तारक कार्यशक्तिरूप 'महः' को भी ब्रह्म कहा है । यह ब्रह्म कार्यकारी कार्यरूप होने से 'कार्यब्रह्म' कहा जाता है । इस तरह पूर्णमदः पूर्णमिदम् के अनुसार 'कारण' और 'कार्य' दोनों रूपों में ब्रह्म पूर्ण ही कहा गया है । शक्ति कारणरूप में क्रिया-कारित्व की समन्विति है; और कार्यकारी कार्यविस्तारक रूप में द्रव्यात्मक क्रिया-कारित्व की समन्विति । वेद ने इन्हें सामान्यतः और क्रमशः 'असत्-सत्' की समन्विति के रूप में देखा है । इस रूप में वेद ने 'तत्' के रूप में परब्रह्म को परतम कारण के रूप में देखा है । यह परतम कारण वह विशुद्ध शक्तिरूप है, जो अभी क्रिया और कारित्व रूपों में विभेदित नहीं हुई; और, जो महाप्रलय में भी नित्य भाव से बनी रहती है । शक्ति अविनश्य मगर रूपान्तरणीय है। इसके रूपान्तर परस्पर समन्वयन और वियोजन प्रक्रिया द्वारा सृष्टि-निर्माण, विस्तार और प्रलय का कारण बनते हैं । लोक, ज्योति, विद्या, प्रजा और अध्यात्म क्षेत्रों में शक्ति की इस संहिता को ऋषियों ने देखा तथा इनके सन्दर्भ से ही उन्होंने लोक, ज्योति, वेद और प्राणरूप व्याहृतियों को भी देखा-समझा जाना एवं शक्ति के इन विभिन्न कार्यरूपों को अधिभूत और अध्यात्मरूप से दो वर्गों (पाङ्क्तों) में बाँट कर उनके पारस्परिक सम्बन्धों की घनिष्टता के आधार पर भौतिक विकास और आध्यात्मिक उन्नति के परतम लक्ष्य को प्राप्त किया । उन्होंने इस परतम लक्ष्य को ही 'परमार्थसत्य' के रूप में देखा था । उनके लिये इस परमार्थत्य को देखने का साधन 'धर्म' (धृ+मन्) था; और परमार्थसत्य को प्राप्त करना ही आनन्द प्राप्तिरूपी 'मोक्ष' था । 'मोक्ष' मृत्युपश्चात् तथाकथित परमपद की प्राप्ति नहीं, वरन् आत्मा की उस आनन्दमयता की प्राप्ति है, जो ज्ञान की कार्यकारी सफलता में प्राप्त होती है । हाँ, Nothing makes happier than the success achieved. Only the positive attitude, both in thinking and doing, leads us to the grand success. Yes, nothing succeeds like success" they say.

वस्तुतः, धृत मनोरूप 'धर्म' से ज्ञानमय कर्म और कर्म सम्पुष्ट ज्ञान का निश्चयन तथा निर्धारण; निर्धारित ज्ञानमय कर्म से आचार-व्यवहार का निश्चयन तथा निर्धारण; निर्धारित आचार-व्यवहार के सम्यक् पालन के लिये नीति-नियम का

निश्चयन एवं निर्धारण; और फिर इनके अनुपालन के लिये सम्यक् व्यवस्थापन यही है सामाजिक व्यवस्था का मूलाधार। समाज, वस्तुतः, व्यक्ति या व्यष्टि समूह की सम्यक् सामष्टिक व्यवस्था का नाम है।

ऋत के रूप में ऋषियों ने शक्तिपरक व्यवस्था के सहज अर्थात् प्रकृतस्थरूप को देखा-समझा और उस पर चलने-चलाने का भरपूर प्रयास किया। सृष्टि का चेतनरूप उनके सामने था। 'क्रिया' और 'कारक' का सूक्ष्मतम विभेद ऋषि जानते थे। निश्चितदर्शी वे क्रिया-कारक के समन्वय के महत्त्व को भी जानते थे। वे 'कारक' को 'क्रिया' का जनक नहीं मानते थे, बल्कि कारक को क्रिया का ही विकसित कार्यकारीरूप समझते थे। फलतः उनके सब 'कर्म' ज्ञानमय तथा सब ज्ञान कर्मसम्पुष्ट थे। 'योग' और 'यज्ञ' के ज्ञाता वे ऋषि 'कर्म' में पूर्णतः कुशल अर्थात् प्रवीण थे। वे परमार्थसत्य के द्रष्टा-ज्ञाता थे। छान्दोग्य उपनिषद् के भाष्यकार की उक्ति है– **परमार्थतः प्राणवेत्ता अतिवादी नहीं। उसका अतिवादित्व तो नामादि की अपेक्षा से ही है। किन्तु अतिवादी तो वह है, जो भूमासंज्ञक सर्वातीत परमार्थसत्य को तत्त्वतः जानता है।** (छा० उप० 7.16 पाठपरिचय)

वस्तुतः, क्रिया का साक्षात्कृत द्रष्टा ऋषि जहाँ 'अधिभूत' और 'अधिदेव' का द्रष्टा-ज्ञाता है वहाँ वह उनकी समन्विति, 'अध्यात्म' का भी द्रष्टा-ज्ञाता है। अगर हम इसे 'शक्ति' के सन्दर्भ में लें तो अधिभूत 'शक्त' है और अधिदेव 'शक्ति' और दोनों की समन्विति शक्तिमान् ही 'अध्यात्म' है। शक्तिमान् अक्षररूप और अध्यात्म उसका स्वभाव अर्थात् स्वयं उसका ज्ञाता व्याख्याता है।

इसी तरह सत्ता के सन्दर्भ से अधिभूत 'सत्' है, अधिदेव असत् एवं अध्यात्म 'सत्ता' है। और, 'क्रिया' के सन्दर्भ से अधिदेव क्रियात्व है, अधिभूत 'कारित्व' और पारिणामिकरूप अर्थ अध्यात्म है।

इस तरह जब हम आर्ष दर्शन के सन्दर्भ से पुरुषार्थ की बात करते हैं तो 'धर्म' **आचारः परमो धर्मः** का 'धर्म' नहीं होता, वरन् **दमो धर्मः सनातनः** का धर्म होता है। अर्थ तब **धनात् धर्मः** का धन या 'अर्थ' नहीं होकर क्रिया-कारित्व समन्वय का परिणामी 'अर्थ' होता है। 'काम' भी तब 'वासना' का पर्याय नहीं होता, वरन् उपर्युक्त परिणामी अर्थ-प्राप्तव्य के लिये किया गया कर्म होता है। इस अर्थ में यह तैत्तिरीय उपनिषद् के शिक्षावल्ली में वर्णित संधान या संयोजक-कर्म का अर्थ देता है। और परमार्थ चतुष्टय का चौथा पुरुषार्थ 'मोक्ष' भी सन्यस्त मृत्यु का स्वेच्छया वरण नहीं, वरन् प्राप्तव्य की प्राप्ति का आनन्द होता है। यह मोक्ष आनन्दघन में स्वयं को आनन्दरूप से लीन कर देना है। यह आनन्दघन, वस्तुतः, 'सत्' और 'चित्' की समन्विति में प्राप्तव्य है।

महाभारत के पाँच पाण्डव और श्रीकृष्ण ज्ञान-कर्म के समन्वय ही तो हैं, जिसमें श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, तो उनका विराट् शक्त्यात्मक रूप कारणब्रह्म और द्रव्यात्मक कार्यकारी रूप 'कार्यब्रह्म' है । शक्त्यात्मकरूप से युधिष्ठिर 'धर्म' के प्रतीक हैं, 'भीम' वायु के और अर्जुन इन्द्र के प्रतीक हैं । ध्यातव्य यह भी है कि अश्विनी कुमारों को नासत्ययुगल कहा जाता है । इनसे ही माद्री के द्वारा नकुल-सहदेव का जन्म हुआ कहा गया है । धर्म, वायु अर्थात् प्राण, इन्द्र अर्थात् मन और सत्य (नासत्य =न+असत्य) । प्राण और वाक् मिथुन हैं । इस तरह पाँच पाण्डव परब्रह्म श्रीकृष्ण के संरक्षण में मनसा-वाचा-कर्मणा सत्यार्थी हैं । धर्म अर्थात् 'धृत मन' परमार्थसत्य का अन्वेषक-ज्ञाता है । वाक्-प्राण मिथुन रूप परमार्थसत्य जीवन में ही सम्भव हो सकता है । चरक ने आयुर्वेद और धर्मशास्त्र को जीवन-सुरक्षा के लिये पूरक शास्त्र के रूप में देखा है– **प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः । मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥ (च०सू० 1/29)**

अर्थात्– शारीरिक रोग दैव और युक्ति के आश्रित औषध-प्रयोगों से शान्त होते हैं और मानस रोग ज्ञान, विज्ञान, धर्म, स्मृति, समाधि आदि मानस उपायों से शान्त होते हैं ।

अध्यात्म के स्वरूप की व्याख्या भी हमें चरक की ही इन पंक्तियों में स्पष्टतः प्राप्त होती है– **सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् । लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम् । वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥ (च०सू० 1.18 एवं 19)**

अर्थात् सत्त्व (मन), आत्मा, शरीर– ये तीनों जबतक एक-दूसरे के सहारे त्रिदण्ड के सदृश होकर रहते हैं तभी तक यह लोक विद्यमान् रहता है और वहाँ ही सब प्रतिष्ठित रहते हैं । सत्त्व-आत्मा-शरीर की संयुक्ति को ही पुरुष कहा गया है। यह संयुक्त पुरुष ही चिकित्सा का अधिकरण है । समस्त आयुर्वेद इसके हित के लिये ही प्रकाशित हुआ है ।'' यह पुरुष ही अध्यात्मपुरुष है ।

ऋषि अपने वैज्ञानिक अध्ययन में शरीर-विज्ञान के माध्यम से ही जीवन-रहस्य को सुलझा सकने में समर्थ हुआ है । अनुभव-अनुभूति और प्रयोग उसके इस ज्ञान-विज्ञान के साधन रहे हैं । 'वेद' को आयुर्वेद से और आयुर्वेद को जीवन विज्ञान से अलग नहीं किया जा सकता । जीवविज्ञान जहाँ मनोविज्ञान की आधारशिला बनता है, वहाँ दोनों की समन्विति में जीवन-विज्ञान की आधारशिला बनती है और वैषयिक शास्त्र 'जीवन शास्त्र' अर्थात् सम्पूर्ण जीवन अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की व्याख्या देते हैं । इस तरह सब वैषयिक शास्त्र परस्पर सम्बद्ध सिद्ध होते हैं ।

आयुर्वेद के अनुसार पुरुष का आत्मा-अंश, वस्तुतः, मननशीलता से सन्दर्भित है और वह मन की धृति में कार्यशील होता है । मन अपनी ऐन्द्रियक पहचान में इन्द्रियों का साथ देता है । 'कृति' में 'मन' शरीर के साथ और 'धृति' में मन 'आत्मा' (अत्+मनिन्) के साथ होता है । आयुर्वेद और आर्ष दर्शन में आत्मा सार्व का निरूपक है । दोनों ही स्थितियों में वह द्रष्टा-ज्ञाता का निरूपण करता है । इस स्थिति में ही आयुर्वेद आत्मा को शरीर और मन की तरह शरीर-कर्म में लिप्त नहीं मानता, वरन्-शरीरकर्म से उसे अलिप्त मानता है । आयुर्वेद ने 'आत्मा' को 'निर्विकार', 'पर' और 'द्रष्टा' कहा है । वह क्रिया का द्रष्टा है; क्योंकि वह स्वयं 'क्रियापरक' रूप (form) अर्थात् क्रियापुरुष है । क्रियादृष्टि ही 'क्रिया' को देख सकने में समर्थ है । पुरुषार्थ चतुष्टय को क्रिया -कारित्व के कार्य-कलाप के विज्ञानमय रूप में ही देखा-समझा जा सकता है । 'क्रिया' का द्रष्टा, वस्तुतः, विशुद्ध क्रिया की अक्रियता और कार्यकारी क्रिया की सक्रियता दोनों को ही देखता-जानता है । अध्यात्मविद्या का यही मूलाधार है ।

चरक की स्पष्टोक्ति के अनुसार शरीर और मन ही सुख-दुःख दोनों के आश्रय हैं । इस तरह वैदिक दर्शन दुःख मात्र पर आधारित नहीं, वरन् सुख-दुःख दोनों से सम्बद्ध 'जीवन' का दर्शन है । जीवन मात्र दुःख है, ऐसा आयुर्वेद नहीं मानता । चरक की उक्ति है–**शरीरं सत्त्वसंज्ञ च व्याधीनामाश्रयो मतः । तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं समः ॥** (चरक सू० 1.27)

भारतीय दर्शन, वस्तुतः, जीवन का दर्शन है, मात्र दुःख या सुख का दर्शन नहीं । जीवन में सुख-दुःख दोनों का समन्वय है । ऋषि दुःख को ज्ञानमय कर्म से दूर करने या दूर रखने की बात करता है– **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।** (ईशा० उप०; मं- 11 उत्तरांश) ।

इस तरह वेद और आयुर्वेद दोनों की समन्विति में ऋषि जीवन को उसकी सम्पूर्णता में देखता जानता और उसे रोगमुक्त रखता है । रोगमुक्त जीवन ही सुखमय होता है । चरक की उक्ति है– **सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।**

आर्ष दर्शन 'क्रिया' (शक्ति) की विशुद्धता में कारण सृष्टि को देखता है और क्रिया-कारित्व की समन्विति में सृष्टि के आवयविक विकास एवं विस्तार को। इस तरह अधिभूत और अधिदैव की समन्विति ही, उसके लिये अध्यात्म की निरूपिका सिद्ध होती है । 'अध्यात्म' का पर्याय शारीरक के रूप में लिया गया है।

गीता में श्रीकृष्ण सहजकर्म करने पर जोर डालते हैं । मानव-व्यक्ति का सहजकर्म है मननशीलता । 'मनन' के लिये अपेक्षित है 'मन' का संयमित होना । दमो

धर्मः सनातनः । धृत मन से किया गया कर्म निष्पक्ष एवं निष्काम होगा; क्योंकि वह सार्व से सम्बद्ध होगा, मात्र व्यक्ति से नहीं । वहाँ व्यक्ति भी सार्व का अङ्ग हो जाता है । व्यक्ति की कामना मात्र एक व्यक्ति के लिये नहीं रह जाती । सार्व की सन्तुष्टि में अपनी सन्तुष्टि देखता व्यक्ति मुक्तावस्था का अनुभव करता है, आनन्दित होता है। सार्व की सन्तुष्टि में अपनी सन्तुष्टि का देखा जाना ही परमार्थसत्य का देखा जाना है ।

अपनी रचना 'गौतम बुद्ध : जीवन और दर्शन' में डा० सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् लिखते हैं-- बुद्ध का लक्ष्य अति व्यावहारिक था– अपने श्रोताओं को तर्क-कल्पना नहीं, आत्म-संयमन की प्रेरणा देना । ज्ञान का कुछ अंश ऐसा है, जो हमारे लिये ज्ञेय है, किन्तु जिसे शब्दों में ठीक समुचित प्रकट नहीं कर सकते । इसलिये वे अपने शिष्यों को स्वयं अनुभव करके अपने पथ का अनुसरण करने का ओदश देते हैं । वे घोषित करते हैं कि यदि हम सचेष्ट होकर अपने विचारों को नियन्त्रित करें, हृदय को शुद्ध रखें, इच्छाओं को अविकारी रखें, तो सद्गुण की दैवी प्रभा का आलोक हम पर छा जायगा; निष्कलंक हृदय-मन्दिर में शिवत्व, शाश्वत धर्म की स्थापना हो जायगी । दर्शन द्रष्टा के लिये है ।

उपर्युक्त उक्ति में शिवत्व को 'धर्म' का विषय माना गया है और 'धर्म' का रूप, 'धृ+मन्' रूप में समझा गया । सचेष्टता, वैचारिक नियन्त्रण, हृदय की शुद्धि आदि, वस्तुतः, स्वेच्छाओं का परमार्थसत्योन्मुखी रखा जाना है । 'धृ+मन्' रूप धर्म को 'दम' कहकर ही महाभारत ने परिभाषित किया है– दमो धर्मः सनातनः।

धर्म 'आचार' से परिभाषित नहीं होता; 'आचार' परिभाषित और निर्धारित होता है 'धर्म' से । 'धर्म', वस्तुतः, आचार अर्थात् कर्तृत्व या कर्म का नियामक है; क्योंकि 'परमार्थसत्य का ज्ञान' या 'दर्शन की सिद्धि धर्म से ही होती है । 'धर्म' (धृ+मन्) अर्थात् मन की 'धृति' में ज्ञान (परमार्थसत्य) की प्राप्ति और धृत मन की 'कृति' में कर्म की सिद्धि 'कर्मफल' को शिवत्वरूप ही देती है । 'शिव' शुभ के प्रतीक हैं । यह शुभ कर्मफल ही 'आनन्द' या 'मोक्ष' की प्राप्ति है । 'कर्मफल, वस्तुतः, क्रिया की कार्यरूप अभिव्यक्ति है । मूल 'शक्ति' के क्रिया-कारित्व रूपों का कार्मिक संयोजन ही कर्मफल है । यह कर्म शक्तिगत होने से 'धर्म' का विषय है । 'मन' का यह 'सहज' या 'स्व' कर्म है; क्योंकि 'मन' का सहज कर्म (सहजात कर्म) इन्द्रियों का संयमन है, स्वयं उनके अधीन होना नहीं है । मन का संयमन ही ज्ञान-कर्म समन्वय का कारण है ।

आर्षेतर दर्शनों में 'सत्' को सत्यरूप से महत्त्व दिया जाना और 'धर्म' को आचार रूप दिया जाना 'धर्म' को 'दर्शन' तथा विज्ञान से ही अलग कर गया है। धर्म और दर्शन का अलग होना 'विज्ञान' और 'परमार्थसत्य' को अलग कर जाता है। 'असत्' अर्थात् क्रियात्वविमुख आर्षेतर दर्शन का 'ब्रह्म' आर्ष दर्शन के ब्रह्म से अलग हो ईश्वर का रूप ले बैठता है और ईश्वर धर्म का अनिवार्य अङ्ग बन जाता है।

बर्ट्रेण्ड रसेल ने क्रिश्चियन धर्म के सन्दर्भ से लिखा है– Christianity popularised an important opinion, already implicit in the teaching of the stoics, but foreign to the general spirit of antiquity– I mean, the opinion **that a man's duty to God is more imperative than his duty to the state**– that, **"we aught to obey God rather than man"**. (History of Western Philosophy).

स्पष्ट है कि ब्रह्म की विकासशीलता को ईश्वर की सृजनशीलता के अधीन रख दिया गया है। सर्वाधिकार-प्राप्त ईश्ंवर को पक्षपाती होना ही था; क्योंकि वह सब को सब पर का अधिकार नहीं दे सकता था।

'सत्' के सत्य बनाये जाने की मुखरता 'परतम' को जहाँ लोकेतर व्यक्ति बना गया है, वहाँ आज के हर तथाकथित वैज्ञानिक को उसे ही साक्षात् देखने या दिखाये जाने की हठधर्मिता पर उतारा गया है।

आर्ष दर्शन का पुरुषो वाव सुकृतम्, वस्तुतः, क्रियापुरुष है, स्थूल द्रव्यात्मक पुरुष नहीं। आर्ष दर्शन इस स्थूल द्रव्यात्मक पुरुषरूप व्यक्ति को उसका अपना ही क्रियापरक रूप दिखाता है। यह दूसरी बात है कि वह धृतमना न होने के कारण आज अपना ही स्वरूप नहीं देख पाता। फिर, ऐसे में जब वह 'क्रियापुरुष' को नहीं देख पाता तब कार्यपुरुष की ऐन्द्रियक स्थूलता को ही सत्य मानकर अपने कारणरूप ब्रह्म को असत्य या अस्तित्वहीन मान लेता है।

आज के आतंकवादी माहौल में 'धर्म' को सम्प्रदायगत परम्परा (Tradition) से हटाया जाकर मनःसंयमन का आधार देना होगा; क्योंकि सार्व या परमात्मरूप 'ब्रह्म' और 'परब्रह्म' का दर्शन होना तभी सम्भव है। ब्रह्म का दर्शन मात्र व्यक्ति की बाह्य दो आँखों से सम्भव नहीं, वरन् इसके लिये तो दशों इन्द्रियों के साथ मन का संयमन भी अनिवार्य है। 'चिन्तन' में चिद्शक्ति की एकाग्रता और 'कर्म' में बहुशास्त्रविदता की अनिवार्यता ही ब्रह्मदर्शन का आधार हो सकता है। वस्तुतः, 'मन' ही मन को देख सकता है। ऐसे में अपने मन को ही मनःदर्शन के लिये इन्द्रियों के ऊपर अध्यात्मनूरूप मन के स्तर तक ले जाना होता है। मन का संयमन इसे ही कार्यान्वित करता है।

मन के संयम से धर्मरूप 'मन', मतिरूप से विवेचन करने में समर्थ होता है; विवेचक 'मन' आत्मारूप सार्व के स्तर पर जाकर स्वयं सार्व का अङ्ग बनकर सार्व को देखता है; और अन्ततः परमार्थसत्यरूप से परतम कारणरूप ब्रह्म को भी वही अध्यात्मरूप से देखता है ।

वस्तुतः, 'क्रिया' शक्ति को देखने के लिये मन को भी क्रियारूप धारण करना पड़ता है । मन जब सृष्टिगत स्थूल द्रव्यात्मक स्थितिं को देखता है तब वह स्वयं द्रव्यपरक होता है । सूक्ष्मता को देखने हेतु आगे बढ़ता मन भी सूक्ष्म होता जाता है । स्थूल से सूक्ष्म होती सृष्टि की व्याख्या आर्ष दर्शन ने 'अन्न' की स्थूलता से लेकर आत्मा या ब्रह्म और आगे परमात्मा या परब्रह्म तक की सूक्ष्मतर होती सूक्ष्मतमता में देखी तथा अभिव्यक्त की है । सूक्ष्मतम कारणरूप से ही क्रियात्मक शक्ति और स्थूलतम कार्यात्मक शक्ति विकसित होती है । 'शक्ति' का द्रष्टा ही 'ब्रह्म' होकर ब्रह्म को देखता है । मानव व्यक्ति या 'मनुष्यजा' मन का कार्यकारी स्थूलरूप है । यह स्थूलरूप 'अन्नमय' है । स्थूल 'अन्न' स्वयं तो सूक्ष्म प्राण से अनुप्राणित होता ही है स्वयं 'प्राण' का व्याप्ति-स्थल भी बनता है । इस तरह स्थूल अन्नरूप शरीर प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द के साथ आत्मा या ब्रह्मरूप आनन्दघन का भी व्याप्ति-स्थल सिद्ध होता है । यही अध्यात्मलोक है ।

'ब्रह्म' का व्याप्ति-स्थल ब्रह्म ही हो सकता है । यही कारण है कि आर्ष दर्शन ने कारणरूप ब्रह्म को कार्यरूप ब्रह्म में व्याप्त कहा है । उसने 'सृष्टि' को स्रष्टा का उत्पादन नहीं, वरन् विकास माना है । इस तरह उसका स्रष्टा कोई लोकेतर रहस्यमयी शक्ति नहीं, वरन् स्वयं शक्ति शक्तिरूप से शक्तिगत कार्यरूप कार्यकारी सृष्टि में उद्भासित हुआ है । आर्ष दर्शन अपने-आपमें पूर्ण व्यावहारिक है । हाँ उसकी व्यावहारिकता में मोह, लोभ, पक्षपात आदि को कोई स्थान प्राप्त नहीं । 'शक्ति' का नियम सहज सौहार्दता की अपेक्षा रखता है । संयोजन-वियोजन या वियोजन-संयोजन इसी सौहार्दता का विषय है ।

'तत्' रूप शक्ति जहाँ सृष्टि का परतम कारण है, वहाँ वह अपनी सहजता अर्थात् विशुद्धि में महाप्रलयरूप भी है । इस तरह स्पष्ट है कि शक्ति अपनी विस्तृति और सांकुचन दोनों में सहज है । फिर, वह अगर सृष्टि का कारण है तो उससे (सृष्टि से) उसके अलग रहने का प्रश्न भी नहीं उठता; फिर तो महाप्रलय की ओर बढ़ने में भी वह कारित्व के रूपान्तरण और क्रियात्व की सुसुप्ति में सहज-भाव रहता है। 'मृत्यु' और 'जन्म' उसका विषय नहीं, उसका विषय है रूपान्तरण-समन्वयन और विकसन । समन्वय विस्तार देता है और रूपान्तरण विकास की प्रकृति निर्धारित करता है । दोनों ही प्रयोजनहीन नहीं होते । समन्वित शक्ति अपने रूपान्तरणों और समन्वयनों

में कार्यकारी होती है । उसकी कार्यकारिता कारणरूप में रूपान्तरण के साथ स्थगित हो जाती है । कारणरूप में वह तत्रूप अर्थात् विशुद्ध निराकार, निरवयव, निर्विकार होती है ।

श्वेताश्वतर (औपनिषदिक ऋषि, जिनके नाम पर श्वेताश्वतर उपनिषद है) उस शक्ति को शिवमूरूप से देखते-जानते हैं । वह निष्कल (कलारहित), निष्क्रिय (क्रियारहित अर्थात् कार्यत्वरहित), शान्त, निर्दोष (निरवद्यम), निर्मल (निरञ्जन), अमृत अर्थात् अनश्वरता का परम सेतुरूप है । शक्ति अनश्वर है और अपने कार्यकारीरूप में वही कारण भी है और कार्य भी । कारण और कार्य के बीच वह स्वयं सेतुरूप भी है । श्वेताश्वतर उपनिषद् की उक्ति है– **निष्कंल निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् । अमृतस्य परं सेतुं दग्धन्धनमिवानलम् ॥** (श्वेता० 6.19)

ऋषि श्वेताश्वतर मानते हैं कि मननशील मनुष्य जब आकाश को चर्मवत् धारण करेगा तब परमात्मा को बिना जाने भी दुःख समुदाय का अन्त हो सकेगा । **यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥** (वही 6.20)

यहाँ चर्मवदाकाशं (चर्मवत् आकाशम्) पद की व्याख्या अपेक्षित प्रतीत होती है । आकाश सम्पूर्ण सृष्टि का आवरण है । यह वह स्थान है, जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि कार्यशील है । फिर पञ्चतत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) में आकाश सब से सूक्ष्म है । यह आत्मवत् सूक्ष्म है । 'त्वक' अर्थात् 'चर्म' मानव-शरीर का बाह्यतम् अवयव है, जिसके भीतर शरीर के अवयव छिपे रहते हुए कार्यशील रहते हैं । त्वक् का गुण स्पर्श है; और यह ज्ञानेन्द्रियरूप है । पञ्चकोषीय आत्मा के रूप में मानव-शरीर का बाह्यतम अवयव चर्मरूप (चर्मन्) और अन्तर्तम अवयव आत्मन् है । शरीर अन्नवत् है, स्थूल है; और आत्मा (अत्+मनिन्) सूक्ष्मतम् है । ऋषि श्वेताश्वतर चर्मन् और आत्मन् को उनके व्युत्पत्यक अर्थ में देखते हुए दोनों को समानरूप देखते हैं । 'चर्मन्' अपनी व्युत्पत्ति में 'चर्+मनिन्'; और 'आत्मन्' अपनी व्युत्पत्ति में 'अत्+मनिन्' रूप से व्याख्यायित होते हैं । चर् का अर्थ है– चलना, पर्यवेक्षण करना, आचरण करना; चलते रहना, चलाना, बाँधना । 'चर्म' शरीर के स्थूल और सूक्ष्म दोनों अवयवों को बाँधे रखकर भी कार्यशील रखता है और आत्मा भी अपनी सूक्ष्मता में पूरे मनोशरीर को अद्वैतवत् समेटे रखती है । इसी तरह आकाश भी अपनी सूक्ष्मतमता में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने में समेटे कार्यशील रखता और देखता है ।

अगर व्यक्ति बाह्य और आभ्यन्तररूप से पारदर्शी हो जाय तो फिर उसे देवत्वज्ञान की आवश्यकता हीं क्या रह जायगी ? और फिर इन सबों की इस एकरूपता को धर्म-दृष्टि से ही देखी जा सकती है; क्योंकि स्थूल और सूक्ष्म के विभेदों में 'मन्' ही उभयात्मक या सामान्य (common) है । 'मन' ही मन की कार्यकारिता को देख पाता है । कारणब्रह्म ही अपनी कार्यकारी ब्रह्मरूपता के देख और जान सकता है । 'मानव' मनोरूप है । अपने मनोरूप (मनमानव) में वह स्वयं ब्रह्म है । 'आकाश' के ब्रह्मरूप का ज्ञान होने पर मानव को अपने मनोरूप 'ब्रह्म' का ज्ञान सहजतः हो जायगा । 'मानव' को आज इसी ज्ञान की आवश्यकता है । आकाश पारदर्शी है । पारदर्शी आकाश ही अगर चर्मवत् आवरण हो तो व्यक्ति की सार्वभावना सहज हो जाय । आकाश से आवरित सम्पूर्ण लोक-सृष्टि दृष्ट हैं उसी तरह आकाशवत चर्म से लिपटा व्यक्ति मानवीय व्यक्तित्व को सार्वभाव से ग्रहण कर सकेगा ।

आर्ष दर्शन में 'ब्रह्म' शब्द अनायास व्यवहृत शब्द नहीं है । यह शब्द 'सृष्टि' के साथ सृष्टि के 'स्रष्टा' को भी हमारे समक्ष परिभाषित और व्याख्यायित कर जाता है । 'बृंह्+मनिन्' के रूप में 'ब्रह्म' पद 'मन' की ज्ञातृ, वक्तृ और कर्तृ शक्तियों को एक साथ, समन्वित-भाव से, एक व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत कर जाता है, प्रदर्शित कर जाता है । वैदिक वाङ्मय उसे 'ॐ' (ओंकार) कहता है; और उसकी व्याख्या में सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाता हैं । उपनिषद् उस व्यक्तित्व को **पुरुषो वाव सुकृतम्** कहकर विशेषीकृत करती हुई **सच्चिदानन्दघन** कहती है। सम्पूर्ण सृष्टि या लोकों में वह उसे महःरूप व्यक्त और सब अव्यक्तों को उसकी महिमा से महिमान्वित होते देखती है । वह उसे अन्नरूप देखती हुई कहती है– **अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्** । फिर प्राणरूप देखती हुई कहती है– **प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्।** इसी तरह वह 'मन', 'विज्ञान', और 'आनन्द' को भी ब्रह्मरूप ही देखती हुई अपने अनुवाकों में कहती है– **मनो ब्रह्मेति व्यजानात्; विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्** । ''स्थूल'' से ''सूक्ष्मतम'' की ओर बढ़ती ऋषिदृष्टि मात्र ब्रह्मरूप क्रियापुरुष को देखती और उसके वास्तविक कार्य-कलापों की अनन्तता में सजग-सी स्वयं भी क्रिया-दृष्टि बनी सर्वत्र देखती है ।

आज 'कारक' के अर्थ तक ही अपने को सीमित रख, हम क्रिया के कार्य-लालित्य को देख सकने की अपनी सामर्थ्य को खो बैठे हैं । फलतः 'कारक' की लोकेतरता में हमारा स्वयं का पुरुषार्थ लोकेतर हो हमारा 'भाग्य' बन गया है । ऐसे में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सब अपना-अपना अर्थ बदल कर हमें दिक्भ्रमित कर चुक हैं । 'सत्' सत्य होकर 'असत्' को झूठा बना हमारी क्रियादृष्टि छीन चुका है । अगर आज हमें अपनी मानव-गरिमा को पुनः प्राप्त करनी है तो हमें 'असत्' को

सत्य का अभिन्न अङ्ग समझ कर 'सत्' के रूपों की वास्तविकता देखनी होगी । वेदों की महःरूप 'आत्मा' अर्थात् ब्रह्म को चतुर्विध अर्थात् अन्नविध, प्राणविध, मनोविध और विज्ञानविध देखना समझना होगा ।

प्रकृति-पुरुष ने हमें स्वतंत्र मगर मननशील बनाया था; धर्म-दृष्टि देकर देखना-जानना सिखाया था । राजधर्म ने धर्माचार के नाम पर वादों (isms) के जाल में फँसा कर हमारी मानव-दृष्टि (विवेचना-दृष्टि) ही छीन नहीं ली वरन् आचारिक धर्म के जाल में फँसाकर परम्पराओं या साम्प्रदायिकता का गुलाम भी बना दिया । संशयों के जाल में फँसाकर तर्क ने विवेक के नाम पर ही हमारी उस साक्षात्कारी दृष्टि (ऋषि-दृष्टि) को छीन लिया, जिससे ऋषि की तरह हम भी कभी वैज्ञानिक निश्चिति को देख सकते थे ।

वस्तुतः, निश्चिति-अनिश्चिति हमारे व्यक्तिगत ज्ञान-सीमा को प्रदर्शित करती है । ध्यातव्य है कि 'शक्ति' निश्चितिमात्र को निरूपित करती है; अनिश्चिति को नहीं । हाँ, उसकी संपूर्ण क्रियाशीलता को हमारी दृष्टिगत ज्ञानसीमा देख-समझ नहीं सकती । अपनी ज्ञान-सीमा में हम शक्ति की असीमता-अनन्तता का अनुमान भी नहीं कर सकते ।

दर्पण (mirror) अपनी समक्षता में हमारा जो रूप हमें दिखाता है, वह पक्षानुसार उलटा होता है; किन्तु आइना के सामने खड़ा व्यक्ति क्या वस्तुतः वैसा ही उलटा होता है ? नहीं । अब अगर हमारा हमशकल या कोई दूसरा व्यक्ति ही हमारे समक्ष आइने की बगल में खड़ा हो जाय तो क्या हम उसे भी अपना ही उलट मानेंगे? दिशा की विपरीतता से उत्पन्न यह भ्रम हर समय हमारे मन के विवेक को सतर्क करता है । दिशाओं को अपनी वस्तुस्थिति से हम नहीं समझ सकते । दिशाओं की समझ से ही हम अपनी वस्तुस्थिति को पहचान या आँक सकते हैं । आदतन हम दर्पण के अपने प्रतिबिम्ब को सहज मान लेते हैं, और यह भूल जाते हैं कि वह तो अपने सामने अर्थात् विपरीत दिशा में खड़ा स्वयं हमारा हमशकल है । यही स्थिति जब आमने-सामने आते-जाते व्यक्तियों-जैसी होती है तो हम या तो एक-दूसरे से टकरा जाते हैं या द्विगुणित गति से दूर होते चले जाते हैं ।

हमारे संशय या भ्रम की मात्रा हमारी अपनी व्यक्तिगत ज्ञान-क्षमता और दर्शना शक्ति पर निर्भर करती है । एक शास्त्र को जानकर हम सटीक निर्णय नहीं ले सकते । 'पदार्थ' (matter) का पूर्ण ज्ञान मात्र पदार्थविज्ञान (Physics) से नहीं हो सकता । उसे रसायन और जीवन विज्ञान के आधार पर भी जानना होता है । सब वैषयिक 'शास्त्र' कार्य को कार्य के द्वारा जानने में विश्वास करते हैं और वह ज्ञान कार्यप्रत्यक्ष ही रह जाता है, कारण-प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है । कारण-प्रत्यक्ष ज्ञान ही

पूर्ण का ज्ञान देता है । कारणप्रत्यक्ष 'कार्य' के 'कारण' का साक्षात्कार करता है । यही अध्यात्मंविद्या है, जिसकी चर्चा 'गीता' करती है । इसे ही ब्रह्मविद्या भी कहा गया है ।

'जीवन' ब्रह्मविद्या अर्थात् अध्यात्मविद्या का विषय है । 'जीवन' आत्मा और इन्द्रियों की समन्विति होने से अध्यात्मरूप है । अधिभूत और अधिदैव मिलकर ही अध्यात्म होता है । इन्हें अलग नहीं देखा जा सकता । ये अपनी समन्विति में ही कार्यकारी ब्रह्म हो सकते हैं ।

6. ऋषि

'विचार', 'उच्चार' और 'आचार' की एकता भारतीय जीवन-दर्शन का मूल आधार है । इनकी एकता में 'विचार' जहाँ सुनिश्चित होता है वहाँ उच्चरित विचार श्रोता के लिये स्पष्ट और आचारी के लिये शुभ और विश्वसनीय होता है । वेदान्तसार के अनुसार विचार की सुनिश्चिति का आधार है मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त । यहाँ 'मन' संशय को देखता एवं निराकरण की ओर बढ़ता है । 'बुद्धि' निश्चय का निर्धारण करती है; 'अहंकार' कर्तृत्व को प्रायोजित करता है; और चित्त ज्ञान एवं अनुभूतियों के स्मरण का साधन बनता है । इस तरह 'मन' अपने मनश्चिन्तन या चैत्तिक मंनन में विचार को निश्चिति प्रदान करता है । धृत मन का द्रष्टृत्व और कर्तृत्व परतम कारण और कारक का सर्वांगीण ज्ञान देता है ।

विचारण दर्शन का अनुगामी है । 'दर्शन', वस्तुतः, दृष्टि, दृश्य और प्रकाश के समन्वयन में ही सम्भव है । 'प्रकाश' से ही दर्शन महिमान्वित होता है ।

बाह्य प्रकाश अन्तःप्रकाश को उत्प्रेरित करता है । प्रकाश बाह्य सत्य है और अन्तःप्रकाश सत्य का निरूपक है । बाह्य प्रकाश में द्रव्यगत सृष्टि प्रकाशित होती है। और, अन्तःप्रकाश में शक्तिगत सृष्टि का वास्तविक सत्य प्रकाशित होता है । 'मन', वस्तुतः, कार्यकारी क्रियाशक्ति का शक्त्यात्मकरूप है, जिसे अन्तःकरण के ज्योतिर्मय आकाश में देवरूप से कार्यरत देखा गया है । ये देव या देवता शक्तिगत रूप से 'कार्यनिर्वाहक शक्ति' के रूप में देखे जाते हैं ।

'देवता' दिव्य कार्यकारी ज्योति के प्रतीक हैं । 'ज्योति' कार्यकारी क्रिया शक्ति की निरूपिका है । 'दिव्य', प्रकारान्तरतः, स्वर्ग से सम्बद्ध होने के कारण 'इन्द्र' अर्थात् 'मन' से सम्बद्ध है । इस तरह दिव्य, वस्तुतः, मनःज्योति का निरूपक और देवता मनःकर्म की अभिव्यक्ति के लिये अपेक्षित कार्यकारी क्रियाशक्ति का निरूपक सिद्ध होता है । कार्यकारी क्रिया होने से ही अरविन्द ने अपने 'वेदरहस्य' नामक

पुस्तक में इसे 'कार्यनिर्वाहक शक्ति' के रूप में संज्ञापित किया है । देवताओं का संज्ञापन उनके कार्यनिर्वाही रूप के अनुरूप हुआ है । इस रूप में यह स्पष्ट है कि आर्ष दर्शन शक्ति को शाश्वत मगर, रूपान्तरणीय रूप में देखता है । आज का विज्ञान भी इसे ही सत्य मानता है ।

आर्ष दर्शन की अवधारणा में 'द्रव्य' (matter), वस्तुतः, शक्ति का कार्यविस्तारक कार्यकारी रूप है और 'शक्ति' उसका ही कार्यनिर्वाहक शक्त्यात्मक रूप । कार्यनिर्वाहक शक्तिरूप होने से सब देवता एक ही कार्यकारी क्रियाशक्ति के विभिन्न कार्यविस्तारक रूप सिद्ध होते हैं । श्री अरविन्द ने इस रूप में ही वैदिक देवता को वैश्विक रूप में देखा है । उनका मानना है कि वैदिक देवता, वस्तुतः, विश्वव्यापी कार्यकारी क्रियाशक्ति के नाम-रूप तथा स्थूल कार्यकारी कार्यविस्तारक शक्ति के व्यक्तित्व के निरूपक हैं । वे दिव्य सत्ता के किसी विशेष सारभूत बल का प्रतिनिधित्व करते हैं । ये देव विश्व को अभिव्यक्त करते हैं और स्वयं भी उसमें ही अभिव्यक्त हुए हैं ।

इसके साथ ही श्रीअरविन्द लिखते हैं– "प्रकाश की संतान और असीमता के ये पुत्र मनुष्य की आत्मा के अन्दर अपने बन्धुत्व और सख्य को पहचानते हैं; और, उसे सहायता पहुँचाना और उसके अन्दर अपने-आपको बढ़ाने के द्वारा उसे बढ़ाना चाहते हैं, जिससे कि उसके जगत् को वे अपने प्रकाश, बल और सौन्दर्य के द्वारा अभिव्यक्त कर सकें । देवता मनुष्य को पुकारते हैं एक दिव्य सख्य और साथीपन के लिये, वे उसे अपने प्रकाशमय भ्रातृत्व के लिये आकृष्ट करते और ऊपर उठाते हैं ।" (वेद-रहस्य; पृ०- 26-27)

आगे वे देवता को 'अदिति' के पुत्र और 'दानव' को 'दिति' के पुत्र के रूप में देखते हुए लिखते हैं– वे (देवता) अंधकार और विभाजन के पुत्रों (दानव) के विरोध में उसकी (मनुष्य) सहायता आमंत्रित करते और अपनी सहायता उसे प्रदान करते हैं । बदले में मनुष्य देवताओं को अपने यज्ञ में आहूत करता है, उन्हें अपनी तीव्रताओं और अपने बलों की, अपनी निर्मलताओं और अपनी मधुरताओं की हवि भेंट करता है; प्रकाशमय 'गौ' के दूध और घी की, 'आनन्द के पौधे' के निचोड़े हुए रसों की, 'यज्ञ' के 'अश्व' की अपूप और सुरा की, दिव्य मन के चमकीले हरिओं (घोड़ों) के लिये अन्न की भेंट चढ़ाता है । वह उन्हें (देवों को) अपनी सत्ता में ग्रहण करता है. और उनकी देनों (gifts) को अपने जीवन में । (वेद-रहस्य; पु० 25-27) ।

अरविन्द की उपर्युक्त उक्तियों में देवता को स्पष्टतः शक्त्यात्मक कार्यकारी क्रियाशक्ति के रूप में अवधारित किया गया है । यह शक्ति अपनी विभिन्न कार्यकारी

प्रभाविता के कारण विभिन्न नाम से संज्ञापित है । स्पष्ट है कि आर्ष अवधारणा में शक्ति कार्यकारी रूप में रूपान्तरणीय और समन्वयी है । अपनी शुद्धता में शक्ति निर्विकार अर्थात् अक्रिय और विशुद्ध है । अपनी इस शुद्धावस्था में शक्ति 'परब्रह्म' के रूप में संज्ञापित होता है । इस तरह 'परब्रह्म' और 'ब्रह्म' में क्रमशः निर्गुणता और सगुणता का अन्तर है । अ, उ, म की समन्विति से ओंकाररूप 'सगुण ब्रह्म' या ब्रह्म का कार्यकारी रूप विकसित होता है । सगुणता के स्तर पर 'अ' सत्त्व का, 'उ' रज का और 'म' तम का निरूपक बनता है । ऋषि शक्ति की मुक्तावस्था से लेकर आकारिक कार्यावस्था एवं कार्यविस्तारक अवस्था तक की सब अवस्थाओं का द्रष्टा है । ऋषि महाप्रलय से सृष्टि-विस्तार तक और फिर आगामी महाप्रलय तक की चक्रिय-व्यवस्था (Cyclic order) का द्रष्टा-ज्ञाता है ।

'अ', 'उ' और 'म', वस्तुतः, कार्यकारी शक्ति के कारणरूप के निरूपक हैं । 'अ' की विशुद्धता और सर्वत्रता उसे शक्ति का क्रियात्वरूप देती है; 'म' में 'अ' की व्याप्तता उसे अर्थात् म् को कारित्वरूप अर्थात् अभिव्यक्ति का साधन बनाती है और 'उ' विशुद्ध समन्वयक रूप सिद्ध होता है । 'अ', 'उ', 'म' की समन्विति 'ऊँ', वस्तुतः, अर्थरूप परिणाम है । यह परिणाम ही अपने शक्त्यात्मक कार्यकारी-कार्यविस्तारक क्रियारूप से शक्तिमान् या क्रियापुरुष या आन्तःकरणिक पुरुष या कारणपुरुष कहा गया है । अपनी द्रव्यात्मकता में यही कारणपुरुष द्रव्यात्मक सृष्टि का कारण बनता है । द्रव्यात्मक सृष्टि, वस्तुतः, शक्त्यात्मक शक्तिमान्रूप का सापेक्षिक विस्तार है । 'सापेक्षता' स्थूल द्रव्यत्व का विषय है, क्रियात्व निरपेक्ष है ।

स्थूल सृष्टि को, कार्य-कारण दृष्टिकोण से, देखती ऋषि-दृष्टि शक्ति की मनोरूपता को पुरुषरूप में पहचानती है । उसका यह पुरुष मनोरूप से मानवव्यक्ति या मन-मानव है, जिसकी कार्यकारिता जीवनात्मक चैतन्य की दृष्टि से अपने-आपमें पूर्ण है ।

शक्त्यात्मक क्रियापुरुष ही स्थूल सृष्टिरूप कार्यपुरुष का कारण है । 'कारक' अपने कारकत्व में अनेकरूप होने से 'क्रिया' की ही कार्यकारिता का साधन सिद्ध होता है; क्योंकि 'क्रिया' अपने को कारकत्व रूपों में रूपान्तरित करती एवं उससे ही अपनी कार्यकारिता को अभिव्यक्त करती है । क्रिया के ये दो रूप- क्रियात्व और कारकत्व, क्रिया शक्ति के ही रूप होने से बन्धु कहे गये हैं । ''सतो बन्धुमसति'' -ऋग्वेद की उक्ति यही सिद्ध करती है ।

क्रियात्व की अनभिव्यक्ति (अव्यक्तता) उसे 'असत्' रूप; 'सत्' की अभिव्यक्ति-क्षमता (व्यक्तगतता) उसे 'सत्' रूप से व्याख्येय बनाती है । 'असत्' असत्य नहीं, वरन् अपनी शुद्धता में अव्यक्त (indistinct) है, अस्तित्वविहीन

(unexistent) नहीं । 'सत्' द्रव्यपरक होने से क्रियात्व की कार्यरूप अभिव्यक्ति का साधन बनता है । बन्धु परस्पर एक-दूसरे के सहायक या पूरक होते हैं । सत्-असत् मूलत: क्रियारूप होने से बन्धु हैं । विशुद्ध क्रियारूप 'मन्' अपने अव्यक्त रूप में मात्र 'क्रियात्व' का निरूपक होता है । इस स्थिति में इसका पूरक रूप 'कारकत्व' भी 'क्रियात्व' रूप में रूपान्तरित हुआ रहता है । इसकी अपनी सिसृक्षा 'काम' रूप से रूपान्तरण-क्रिया को प्रश्रय देती है । मनरूप विशुद्ध शक्ति 'क्रियात्व' और कारित्व में रूपान्तरित होती और पारस्परिक बन्धुत्वरूप सहयोगिता, और सहभागितारूप में, काम के आलम्बन से, आदिकार्यकारी शक्ति अर्थात् शक्तिमान्रूप स्वयम्भू की विकसिति का कारण बनती है । काम को 'मन' का प्रथम रेत या वीर्य कहा गया है– **कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्** । (ऋ० 10.129.4 पूर्वांश) ।

'विद्या' और 'अविद्या' में भेद और उनके समन्वयन से मोक्ष की प्राप्ति से सन्दर्भित ईशावास्योपनिषद् की अवधारणा, वस्तुतः, उपर्युक्त अवधारणा से ही सम्पुष्ट होती है । 'विद्या' ज्ञातृपरक और 'अविद्या' कर्तृपरक है । 'दृष्टि' अर्थात् साक्षात्कृत ज्ञान का विकास शक्त्यात्मक रूप से क्रियापरकरूप में और 'कर्तृपरक ज्ञान कारकरूप में होता है । कार्यकारीरूप से शारीरक ज्ञान क्रिया-कारक के समन्वित ज्ञान के रूप में प्राप्त होता है । शरीर क्रिया का कार्यकारी साधन है, जिसमें ज्ञानेन्द्रियाँ मन:क्रिया को आन्त:करणिक रूप से और कर्मेन्द्रियाँ मन:क्रिया को ही बाह्यकरणिक रूप से ज्ञान का कारण बनाती हैं । दोनों का अर्थात् अन्त:करण और बाह्यकरण के समुच्चयित ज्ञान को अध्यात्मज्ञान या शारीरकज्ञान कहते हैं ।

'काम' से, वस्तुतः, संयोजनात्मक क्रिया का अर्थ लिया गया है । यह संयोजन बन्धुवत अवयवों अथवा द्वन्द्वपरक पूरक अवयवों के बीच ही सम्भव है। आर्ष दर्शन में 'काम' से आज की तरह वासना का पर्याय नहीं माना जाकर सिसृक्षा का अर्थ लिया गया है ।

'शरीर' क्रिया का ही व्यक्तरूप होने से निष्क्रिय नहीं हो सकता। 'मन' की क्रियाशीलता सततरूप से कार्यशील होती है और द्रव्यात्मक शरीर अपने कारकत्व में विकासगतरूप से मन के कार्य-विस्तारक लक्ष्य को पूर्ण करने का साधन बनता है। शरीर का कर्म-सन्दर्भित ऐन्द्रियक रूप बाह्योन्मुखी होने के कारण बाह्यरूप से दृष्टिगत सृष्टि अर्थात् व्यक्त सृष्टि के प्रति उत्तरदायी रहता है और ज्ञान-सन्दर्भित इन्द्रियाँ मन:रूप होने के कारण व्यक्त सृष्टि के रहस्यों को जानने और व्याख्या करने का साधन बनती हैं । इस तरह दोनों के बीच एक समन्वयात्मक सम्बन्ध होता है ।

मन:धृति के अधीन हुई इन्द्रियाँ ही मन-मति-आत्मा-ब्रह्म के माध्यम से सब के कारणरूप परब्रह्म या विशुद्ध क्रिया को देख सकने में समर्थ होती हैं। यह एक द्रष्टा की स्थिति होती है; और वह द्रष्टा ही ऋषि होता है। **द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः।**

यह द्रष्टा ही ईशावास्य उपनिषद् का वह द्रष्टा ऋषि है, जिसे उसने अपने इस मन्त्रदेवता को देखते देखा है– **विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥** (ईशा० 13)

अर्थात् जो विद्या और अविद्या दोनों को तत्त्वतः साथ-साथ जान पाते हैं वे अविद्या अर्थात् कर्तृत्व के अनुभव से मृत्यु को पार कर विद्या अर्थात् विज्ञानतः वस्तु को जानकर उसके परमार्थसत्य का उपभोग कर पाते हैं। यह परमार्थसत्य ही परमब्रह्म है। शक्ति का परतमरूप यह परब्रह्म सब का कारण है, इसका कोई कारण नहीं। अपने स्रष्टारूप में यह स्वयम्भू है; क्योंकि अपने रूपान्तरणों और उसके समन्वयनों में यह स्वयं को ही अभिव्यक्त करता है। वह 'तत्' रूप परब्रह्म विशुद्ध, निर्विकार अर्थात् ऋषि--दृष्ट **अपाणिपाद** अर्थात् स्वयं में सिमटा सुसुप्त पूर्णपुरुष है। ऋग्वेद उसे **आनीदवातं स्वधया तदेकं** कहता है और ईशावास्य उसे **'शुक्रम्', अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, शुद्धम्, अपापविद्धम्, कवि, मनीषी, परिभूः, स्वयम्भूः, शाश्वतीभ्यः** के रूप में देखता और उसे **पर्यगात** अर्थात् सर्वव्याप्त मानता है। वह अपनी विशुद्धता में सब का परम कारण है। अपने-आप में वह पूर्ण है। उसकी पूर्णता से ही यह कार्य-सृष्टि भी पूर्ण है। **ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिंद** के **अदः** और **इदम्**, वस्तुतः, कारण-कार्य की अनन्त-असीमशृंखला का ही द्योतन करते हैं।

आज के विज्ञान ने जिन मूलभूत कार्यकारी शक्तियों को देखा-जाना है वे हैं– यान्त्रिक, ध्वनि, ताप, प्रकाश, विद्युत् और चुम्बक। प्रकारान्तरतः आर्ष विज्ञान ने इन्हें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के रूप में देखा है। वे इन्हें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का आश्रय मानते हैं। आर्ष अवधारणा में अग्नि-तत्त्व पृथ्वी पर अग्नि, अन्तरिक्ष में विद्युत् और आकाश में सूर्यरूप है। आकाश और वायु क्रमशः 'शब्द' और 'स्पर्श' अर्थात् 'वाक्' तथा 'प्राण' के निरूपक हैं। वाक् और प्राण को मिथुन या बन्धुरूप से स्वीकार किया गया है। **वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः। तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्चर्क् च साम च ॥** अर्थात् वाक् ही ऋक् है, प्राण साम है और ऊँ यह अक्षर उद्गीथ है। ये जो ऋक् और सामरूप वाक् और प्राण हैं, परस्पर मिथुन (जोड़े) हैं।" (छा० उप० 1.1.5)

स्पष्ट है ध्वनि (Sound) के लिये वाणी और प्राण दोनों का समन्वयन अनिवार्यतः अपेक्षित है। आर्ष दर्शन में इनका समन्वयन और इनकी अभिव्यक्ति बहुत

ही सहज और वैज्ञानिक ढंग से व्याख्यायित है। मूलाधार से प्रारम्भ होनेवाली 'परा' रूप वाक्शक्ति अपानरूप प्राणवायु के प्रयत्नात्मक विकम्पन से प्रारम्भ होती है। यह नाभि, हृदय, कण्ठ और मुखगुहा को पार करती हुई ओठ से बाहर आकाश से समन्वित हो ध्वन्यात्मकरूप धारण करती है।

चुम्बकत्व अपने-आपमें शक्ति को कार्यकारी और कार्यविस्तारी बनाने का साधन है। इसमें इसके दो ध्रुव क्रियाशील होते हैं। समानता में ध्रुवों का विकर्षण और आसमानता में आकर्षण की क्रिया होती है। चुम्बकत्व के अभाव में, चुम्बक बनने योग्य धातु को, चुम्बक का कोई भी ध्रुव अपनीं ओर आकर्षित करता है। चुम्बकत्व वैद्युतीय शक्ति का भी कारण है। आर्ष दर्शन ने इस गुण को सृष्टि निर्माण के मूल कारण के रूप में देखा है। क्रिया-कारित्व या असत्-सत् चुम्बक के इन्हीं दो ध्रुवों या वैद्युतिक दो आवेशों का निरूपण करते हैं। 'कार्य' को सगुण और कार्यप्रतिबन्धित क्रियाशक्ति को निर्गुण-निर्विकार कहा गया है। सृजनकाल से लेकर महाप्रलय तक विशुद्ध शक्ति अपने कार्यकारी कार्यविस्तारक सापेक्ष रूपों में ही दृष्ट होती है; और वह भी ऋषि-दृष्टि द्वारा ही। ऋषि-दृष्टि क्रियाशक्ति को उसके हर रूप में देखने में समर्थ है। ऋषि-दृष्टि की अनन्त-दृश्यता, वस्तुतः, उसके क्रिया-द्रष्टृत्व में है। यही कारण है कि ऋषि-अनुमान भी ऋषि की साक्षात्दर्शिता पर निर्भर करता है, परोक्षदर्शिता अर्थात् मात्र अनुमान पर नहीं। यह तो आर्षेतर तार्किक-विचारक हैं, जो 'कारक' को महत्त्व देते हुए अपने अनुमानों को मात्र तर्क का आधार देते हैं और परोक्षद्रष्टा अर्थात् तार्किक ही बने रह जाते हैं। ऋषि निश्चितद्दर्शिनः हैं, सत्यश्रवस् हैं। क्रिया और क्रियात्व का द्रष्टा ही साक्षात्कृत धर्माण या साक्षात्दर्शी होता है; क्योंकि वह शक्ति के क्रियात्व और कारकत्व दोनों को उनके स्रोत से ही रूपान्तरित होते देखता और जानता है।

आर्षेतर दर्शनों की परोक्षदर्शिता का आधार तर्क है। ऋषियों के नहीं रह जाने पर तर्क-ऋषि की अवधारणा प्रस्तुत हुई। ये तर्क-ऋषि साक्षात्कृत का आधार लेते हुए तर्क से निर्णय लेने की कोशिश करते थे। 'तर्क' की बढ़ती प्रधानता और क्रिया की स्वतन्त्र सत्ता की अवधारणा की समाप्ति पर तर्क-ऋषि का ऋषित्व स्वतः समाप्त हो गया। अब तो मात्र तार्किक ही रह गये हैं। 'कार्य' की वास्तविक कारणता से अनजान, मात्र कारक को महत्त्व देता, तार्किक कभी कारकत्व और क्रियात्व के समन्वय के महत्त्व को नहीं देख पाता। वस्तुतः, कार्य को देखने-जानने के लिये उसके परतम कारण को देखना-जानना जरूरी होता है, अन्यथा कार्यों की सापेक्षता में परतम कारण को देख सकना असम्भव हो जाता है।

तर्कऋषि अपनी तर्कणा में ऋषि-दृष्ट तत्त्व को महत्त्व देता है। उसके तर्क वेद-अविरोधी तथा शुद्ध होते हैं। इसके तर्क में मन्त्रार्थ-चिन्तन विषयक ऊहापोह होता है। स्पष्ट है कि तर्क-ऋषि अर्थात् तर्करूपी ऋषि अपने तर्क में ऋषि-सिद्ध वस्तुस्थिति को महत्त्व देता है। ऋग्वेद की मन्त्रोक्ति हैं– **हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः । अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥** (ऋ० 10.71.8)

स्पष्ट है कि धृत मन के दर्शन में बुद्धि (मति) के विवेचन और चित्त के सूक्ष्म चिन्तन से ही सत्य का साक्षात्कार हो पाता है। सत्य की प्राप्ति में सब इन्द्रियाँ मन के अधीन द्रष्टारूप से कार्य करती हैं। 'मति' से विवेचित वस्तुस्थिति आत्मा या चिद्शक्ति द्वारा सार्वहित घटित करायी जाती है और उसकी परमार्थसत्यता से सम्पुष्टि ली जाती है। जो परमार्थसत्य सिद्ध नहीं होता उसे छोड़ दिया जाता है। तर्क में ऋषि-साक्षात्कार न हो तो वह परमार्थसत्य तक नहीं पहुँचता।

वस्तुतः, 'तर्क' बहुशास्त्रज्ञता का विषय है, **क्रियैकदेशबोधिनी** अर्थात् किसी एक वैषयिक शास्त्रज्ञान का विषय नहीं। 'सत्य' ही सत्य का व्याख्याता होता है। जीवत्व जीवन का कारण भी है और उसका व्याख्याता भी। जीवन-सत्य बिना जीवत्व को जाने उद्घाटित नहीं होता। ऋषि 'जीवन' का द्रष्टा है। वह 'जीव' (जीवात्मा) और 'शरीर' की समन्विति में जीवन को देखता है। उसके समक्ष आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी सब एक साथ तत्त्ववत् कार्यकारीरूप से दृष्ट होते हैं। वह देखता है कि आकाश अपने एक गुण 'शब्द' के साथ कार्यरत है तो 'वायु' दो गुणों (शब्द और स्पर्श), 'अग्नि तीन गुणों (शब्द, स्पर्श और रूप), 'जल' चार गुणों (शब्द, स्पर्श, रूप और रस) तथा 'पृथ्वी' पाँच गुणों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) के साथ एक समन्विति में कार्यरत दीखते हैं। सृजन में शक्ति अपनी अनेक कारित्वरूपता में जीती और अपने को विस्तीर्ण करती है। महाप्रलय के समय 'पृथ्वी' जल में, 'ज़ल' अग्नि में, 'अग्नि' वायु में और 'वायु' आकाश में लीन हो जाते हैं। 'आकाश' भी मन में और 'मन' विद्या में लीन हो जाता है। विद्या भी महत् में और 'महत्' प्रतिभा में लीन हो जाती है। और यह प्रतिभा भी 'प्रकृति' अर्थात् 'शक्ति' में लीन हो जाती है। 'प्रकृति', वस्तुतः, शक्ति के सत्-असत् समन्विति का पर्याय है। महाप्रलय में यह सत्-असत् भी अव्यक्तता अर्थात् तत्‌रूप धारण कर लेता है। दूसरे शब्दों में सृष्टि का कारित्व अवयव महाप्रलय में क्रियात्व रूप में बदल कर क्रियात्व में ही लीन हो जाता है। 'तत्' परतम अर्थात् अद्वैत है।

ऋषि इसी परतम कारण का द्रष्टा है। ऋषि तत्त्वतः जीवन को जानता है और जीवन शास्त्र का व्याख्याता वह सम्पूर्ण सृष्टि को एक अद्वितीय परमार्थसत्य की

पारमार्थिक कृति के रूप में देखता है । यही कारण है कि गीता के श्रीकृष्णरूप परतम कारण अपने को इन श्लोकों में व्याख्यायित करते हैं– **अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय । अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय । मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥** (गीता- 7. 5 से 7)

यहाँ प्रकृति के दो रूप कहे गये हैं– 'अपरा' और 'परा' । 'अपरा', वस्तुतः, सत् का निरूपक है, और 'परा' 'असत्' का । ये दोनों ही सृष्टि-सृजन के वें मूल अवयव हैं, जिनमें अव्यक्त तत् अपने को रूपान्तरित करता है । 'तत्' विशुद्ध शक्ति का निरूपक है । (अपरेयमितस्त्वन्यां =अपरा+इयम्+इतः+तु+अन्यां; कृत्स्नस्य=सम्पूर्ण)

उपर्युक्त श्लोंकों का अर्थ है– यह अष्टधा प्रकृति तो मेरी अपरा प्रकृति है, और हे अर्जुन ! इससे दूसरी को मेरी जीवरूप परा प्रकृति जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् (सृष्टि) धारित है । सम्पूर्ण भूतों का विकास इन्हीं दो प्रकृतियों से हुआ है और मैं (श्रीकृष्ण) सम्पूर्ण जगत् के विकास और प्रलय का कारण हूँ । मुझसे अलग कुछ भी नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् (ब्रह्माण्ड) मुझ में ही मणि-माल की तरह गुंथा है।

अपरा प्रकृति के सन्दर्भ से गीता की स्पष्टोक्ति है– **"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥** (गीता- 7.4)

अपरा प्रकृति के लिये पाँच भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) तथा अन्तःकरण (मन, बुद्धि, और अहंकार) की समन्विति की चर्चा की गयी है । वेदान्तसार ने अन्तःकरण में चित्त (चिद्शक्ति) की भी गणना की है । स्पष्ट है कि यहाँ भी जागतिक सृष्टि को, वस्तुतः, 'शरीर' और 'मन' की समन्विति के रूप में लिया गया है । सृष्टि का हर कण या अवयव शक्तिगत होने से शक्तिरूप ही है । श्रीकृष्ण इस आधार से ही घोषणा करते हैं– **मत्तः परतंर नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।**

जगत् का हर कण अपने में पूर्ण है; क्योंकि वह शक्तिरूप है । और जब ऐसा है तो वह चेतन है । ऋषि सृष्टि के हर कण को, चाहे वह शक्त्यात्मक (energic) हो अथवा द्रव्यात्मक (material) चेतन होने से, मनोरूप ही देखता है। वस्तुतः, कार्यकारी मनोशक्ति ही 'मानव' या 'पुरुष' है । 'व्यक्ति' उसी मानव का व्यक्त रूप है । ऋषि सृष्टि के हर कण को पुरुषरूप से कार्यकारी कार्यविस्तारक शक्तिपुरुष रूप में देखता है । इस पुरुष को ही वह **"पुरुषो वाव सुकृतम्"** (ऐतरेय उप० 1.2.3) के रूप में पहचानता है ।

यह पुरुष, वस्तुतः, कारकरूप से शक्ति की कार्यकारिता का साधन है । यह परब्रह्म का शक्त्यात्मक कार्यकारीरूप शक्तिगत मानवरूप है । 'मनुष्यजा' इसी

मानवरूप ब्रह्म का स्थूल, द्रव्यात्मक कार्यकारी कार्यविस्तारकरूप अर्थात् कार्यब्रह्म है। ऋषि-दृष्टि में परब्रह्म या ब्रह्म संकल्परूप तप से वृद्धिशील होता है । तपसा चीयते ब्रह्म (मुण्डकोंपनिषद् 1.2.8) । मनुष्यजा उस सुकृत का विकसित रूप होने से शुभकर्मा है और शुभकर्मों में ही लगना उसका अभीष्ट है। –**तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ।** (मुण्डकोपनिषद् 1.2.1)

उपनिषद् का उद्घोष है– ''हे सत्य के चाहनेवाले (सत्यकामा) मनुष्यों ! तुम उन सत्य कर्मों का अनुष्ठान करो, जिन्हें कवियों अर्थात् ऋषियों ने वेद-मन्त्रों में देखा है । इस मनुष्य-शरीर में परमार्थसत्य का मनसा-वाचा-कर्मणा अनुसरण करना तुम्हारे लिये उस सुकृत पुरुष का दिया हुआ उत्तरदायित्व और कर्तव्य है ।

उपनिषद की स्पष्टोक्ति है– **सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः । येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥** अर्थात् सत्य ही विजयी होता है, झूठ नहीं; क्योंकि वह देवयान मार्ग सत्य से ही परिपूर्ण है। इस मार्ग से ही आप्तकामा ऋषि वहाँ के लिये गमन करते हैं, जहाँ सत्य के परतमरूप परमात्मा का उत्कृष्ट निधान या घर है । (मुण्डकोप० 3.1.6)

वह परमात्मा या परब्रह्मरूप सत्य एक ध्यायमान अर्थात् धृतमना को ही दीखता है । यह धृतमना ध्यायमान विशुद्धसत्त्व ही ऋषि है । 'धृतमना' संयमित मन और संयमित इन्द्रियों वाला होता है । एक धृतमना ही विशुद्धसत्त्व अर्थात् विशुद्ध अन्तःकारणवाला हो सकता है । और, विशुद्ध अन्तःकरणवाला ही ध्यायमान अर्थात् परमसत्य को पहचानने वाला होता है; क्योंकि अन्तःकरण मन, बुद्धि अहंकार और चित्त की समन्विति का नाम है । 'वेदान्तसार' के अनुसार अन्तःकरण इस रूप में परिभाषित हुआ है– **मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम् । संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी ॥** मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त के क्रमशः विषय हैं– संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण । इस तरह एक विशुद्धसत्त्व ध्यायमान जिस निश्चिति पर पहुँचता है, वह परमसत्यरूप निश्चिति होती है । ऋषि या कवि को निश्चितदर्शिन् कहा गया है ।

'सत्य' का ज्ञान साधक को सार्व की ओर प्रेरित करता है; और, सार्व का ज्ञान उसे निष्काम बनाता है । सार्व में अपने को देखता साधक अपने ऐन्द्रियक 'स्व' (वैयक्तिकता) को भूल जाता है । 'आत्मा' सार्व का निरूपक है। शरीर की वैयक्तिकता सार्व के आगे विलुप्त हो जाती है । ऐन्द्रियक स्वार्थ से अलग हुआ मन ही संयमित होता है । संयमित मन के अधीन हुई इन्द्रियाँ मन के लिये ही कार्य करती है । मन की संयमित द्रष्टृ और कर्तृ शक्ति मन की ज्ञातृशक्ति को वृद्ध करती हुई

मतिरूप से विज्ञानमय विवेचन को और आत्मारूप से सार्व को देखती है । आत्मारूप से साधक की विज्ञता अर्थात् सर्वज्ञता ही उसे परतम वृद्धिशील आनन्दरूप ब्रह्म से मिलाती है । स्पष्ट है कि 'मनोधृति' ही ब्रह्म-परब्रह्म को देखने-जानने का मार्ग है।

'स्व' से 'पर' का, और 'पर' से 'परम' का ज्ञान होता है । 'परम' की असीमता आनन्द की असीमता को तथा उसकी अनन्तता सृष्टि की अनन्तता का दर्शन कराती है । सृष्टि की अनन्तता और आनन्द की असीमता का द्रष्टा-ज्ञाता धीर ध्यायमान् साधक ही रजोवीर्यमय इस शरीर का अतिक्रमण कर पाता है । स्पष्ट है कि धीर अर्थात् मन और इन्द्रियों का संयमी ही मन और इन्द्रियों के संयमन अर्थात् 'धर्म' (धृ+मन्) को जानता है । इस 'धर्म' से ही व्यक्ति की 'धीरता' बढ़ती हुई विज्ञता, आत्मज्ञता और सर्वज्ञता और परमज्ञता तक जाती है । परमज्ञता वृद्धिशीलता की असीमता को देखती-जानती है ।

मुण्डकोपनिषद् की निम्नलिखित उक्तियाँ इन स्थितियों को स्पष्ट करती हैं– **स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम । उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥** अर्थात् वह निष्काम साधक जो ब्रह्मधाम को जान लेता है वह सार्व और परतम को भी जान लेता है । ऐसे में वह निष्काम साधक परमगत होता हुआ ऐन्द्रियक शरीर की सुविधाओं को भूल ही जाता है । (मुण्डकोप० 3.2.1)

फिर आगे कहा है– **न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा । ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।** अर्थात् वह परमात्मा न तो नेत्रों से और न दूसरी इन्द्रियों से ही ग्रहण किया जा सकता है। तप या कर्म से भी वह ग्रहण नहीं किया जा सकता । उस निष्कल (अवयवरहित) को तो विशुद्धसत्त्व अर्थात् विशुद्ध अन्तःकरणवाला (धृतमना) साधक ही अपने संयमित मन में देख पाता है । (वही 3.1.8)

ऋषि को 'साक्षात्कृत-धर्माण' कहा गया है । वहाँ 'धर्माण' पद का अर्थ धृतमना ही है । संयमित मन और इन्द्रियाँ ही एकीभाव से क्रियाशक्ति को उसकी अव्यक्तावस्था अर्थात् अदृष्टावस्था में देख सकती है । 'कार्य' को कार्यरूप में जानना, वस्तुतः, 'क्रिया' को साक्षाततः जानना होता है । कार्यरूप 'कारक' को जानने के लिये क्रिया को कारकत्व के माध्यम से जानना होगा । ऐसी स्थिति में साक्षात्कृत तार्किक-अनुमान का आलम्बन अपेक्षित हो जाता है । मात्र तर्क पर आधारित आनुमानिक ज्ञान परोक्षकृत ज्ञान सिद्ध होता है । क्रिया की कार्यकारिता का ज्ञान स्वयं क्रिया या क्रियात्व से प्राप्त नहीं किया जा कर 'कारक' या 'कारकत्व' के माध्यम से तर्काधारित आनुमानिकरूप में लिया जाना ज्ञान को परोक्ष तथा कभी-कभी

रहस्यमय बना देता है । वस्तुतः, कारक जहाँ क्रियाशक्ति की कार्यकारिता का साधन है, वहाँ वह स्वयं कारकत्वरूप से क्रियारूप ही है । क्रियात्व और कारित्व दोनों ही मूलतः शक्तिं अर्थात् क्रिया के ही रूपान्तरण हैं । 'क्रिया' का द्रष्टा ऋषि कार्य के कारणों को साक्षाततः ही देखता है । **द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः;** और, **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः** इसकी ही व्याख्या प्रस्तुत करते हैं ।

'मन्त्र' देवता के कार्य-कलापों की अभिव्यक्ति है । 'मन्त्र' को देखता ऋषि, वस्तुतः, देवकर्मों को देख रहा होता है । इसलिये ही ऋषियों के लिये **साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो बभूवुः** कहा गया है । क्रिया द्वारा कार्य के लिये की गयी क्रिया को कर्म कहें तो 'कर्म' की क्रियारूप परिभाषा मिलती है । इसी तरह 'कारक' के सब रूपों की क्रियापरक परिभाषा सहजतः मिल सकती है । वस्तुतः, सृष्टि का हर नाम-रूप अवयव 'क्रिया' अर्थात् शक्तिरूप ही है । आधुनिक विज्ञान शक्ति और द्रव्य़ के भेद को नहीं स्वीकार करता । वह इनकी शक्तिपरक व्याख्या इस प्रकार देता है– **शक्ति प्रतनु द्रव्य है और द्रव्य संचित शक्ति ।**

आधुनिक विज्ञान ने गतिज शक्ति के साथ-साथ मात्रा की वृद्धि के सत्य को देखकर द्रव्य और शक्ति को अलग-अलग मानने से अस्वीकार किया है । आर्ष दर्शन में सम्पूर्ण द्रव्यात्मक सृष्टि को शक्तिरूप ही माना गया है । द्रव्यात्मक शक्ति को वहाँ कारित्व शक्ति और शक्त्यात्मक शक्ति को 'क्रिया' अथवा क्रियात्म शक्ति के रूप में देखा गया है । दूसरे शब्दों में आर्ष दर्शन ने क्रिया-कारित्व की समन्विति को ही कारकरूप से देखा है ।

निरुक्त (अ० 2) के भाष्यकार ने ऋषि के सन्दर्भ से लिखा है– **ऋषिर्दर्शनात्– पश्यति ह्यसौ सूक्ष्मानप्यर्थान् । मन्त्राः स्तोमाः तानसौ ज्ञानेन पश्यतीति एवं औपमन्यवः आचार्य्यो मन्यते । ब्राह्मणमपि चैतस्मिन्नर्थे दर्शयति– 'तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म इत्यादि । यदेनान्– तपस्यमानान् ऋषीन् ब्रह्म– ऋग्यजुः सामाख्यं, स्वयम्भु 'अकृतकम् अभ्यानर्षत् आविर्भूतमित्यर्थः' अनधीतमेव। तदृषीणामृषित्वम् । उत्तरः उद्धततरः उपरिष्टादवस्थानात् । अधरः अधोरः अध एवासावरति गच्छति । ऊर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा ।**

अर्थात्, मन्त्र-दर्शन मन्त्र-विचार करने से ऋषि कहाता है । अपने सूक्ष्म दृष्टि से मन्त्रों के गूढ़ अर्थों को भी देख लेता है । अतः ऋषि कहाता है । ऋषि ने स्तोमों को अर्थात् मन्त्रसमूहों को देखा है, उनपर गूढ़ विचार किया है– उनके तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त किया है । अतः वह ऋषि कहा जाता है । ऐसा औपमन्यव कहते हैं ।

ब्राह्मण भी कहता है– क्योंकि इन ऋषियों को, तपस्या करते हुओं को अपौरुषेय वेद (ब्रह्म स्वयम्भू) प्रकट हुआ अतः वे ऋषि हुए अर्थात् ऋषि कहलाये। वह ऋषियों का ऋषित्व है– ऐसा जाना जाता है । दूसरे शब्दों में ऋषित्व उनके अपने उस तपोबल में है, जिसके द्वारा उन्होंने बिना किसी से पढ़े ही अपौरुषेय वेद के तत्त्व अर्थात् 'ब्रह्म स्वयम्भू' को जान लिया । (निरुक्त; द्वितीय अध्याय)

यहाँ ऋषि को 'तपस्यमान्' कहा गया है । तपस्या और योग पद, वस्तुतः, 'मन और इन्द्रियों के संयमन' अर्थात् 'दम' का अर्थ देते हैं । इन्द्रियाँ अपनी-अपनी बुभुक्षा की शान्ति के लिये मन को चञ्चल बनाती हैं । बुभुक्षित इन्द्रियों को संयमित करना मन का विषय है । पर मन ही जब इन्द्रियों के अधीन हो तो फिर ज्ञान का क्या होगा ? वस्तुतः, ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के लिये और कर्मेन्द्रियाँ कर्म के लिये 'मन' को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करती हैं । बुभुक्षित इन्द्रियों के जाल में फँसकर मन अस्थिर ही रह जाता है । योग और तपस्या इन्हीं अनियन्त्रित इन्द्रियों और अस्थिर मन को नियन्त्रित और स्थिर करने के साधन हैं । योग और तपस्या से प्रतिफलित इन्द्रियों और मन का समन्वयन ही मनो संयमन का कारण बनता है । संयमित मन और इन्द्रियाँ अपनी कार्यशीलता या कार्यकारिता में बाह्योन्मुखी न रहकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं ।

बाह्योन्मुखी अर्थात् असंयमित मन और इन्द्रियाँ असीम सृष्टि की अनन्त वैषयिकता में उलझ कर रह जाती हैं । व्यक्ति का जीवन इसी उलझन और वैषयिक भोगों में लगा रह जाता है । मानव का मननशील जीवन मनन-पथ को छोड़ ऐन्द्रियक अर्थपूर्ति में ही लगा रह जाता है; ऐन्द्रियक 'स्व' से वह आगे नहीं बढ़ पाता । वह स्व से सार्व की ओर जा नहीं पाता । उलट इसके वह स्व से भी नीचे अगर कुछ हो तो गिरने को तत्पर हो जाता है ।

आर्ष दर्शन में चेतना का महत्त्व है; क्योंकि यह 'सार्व' या 'परम' को निरूपित करता है । उसका चिकित्वान (ऋ० 10.98.5) उत्तरोत्तर आगे, ऊपर, ऊर्ध्व की ओर जानेवाला होता है, नीचे गिरनेवाला नहीं होता । निरुक्त ने 'उत्तर' का अर्थ उत्तरः उद्धततरो भवति कहकर किया है । और उद्धततर को उद्गततर अर्थात् ऊपर की ओर गया हुआ कहा है ।

उत्तरः उद्धततरः उपरिष्टादवस्थानात् । इसके विपरीत अधरः का अर्थ अधः अरः (अधः=नीचे; अरः=गया या दौड़ता हुआ) के रूप से निरुक्त ने नीचे गया हुआ' 'नीचे को दौड़ता हुआ' –किया है ।

अधरः अधोरः अध एवासावरति गच्छति । ऊर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा ।

निरुक्त ने 'अधः' की व्युत्पत्ति 'न धावति' (जो न दौड़े) के रूप में करते हुए 'अधरः' का अर्थ– 'ऊपर या आगे को न जा सके' के रूप में किया है । दूसरे

शब्दों में 'अधरः' से 'ऊर्ध्वगति' की निषिद्धि समझी जाती है । 'अधः' अर्थात् अधोगति होने से ही ऊर्ध्व की गति प्रतिसिद्ध अर्थात् निषिद्ध हो जाती है ।

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः । 'ऋषि' मन्त्रद्रष्टा है । 'द्रष्टा' दृश्यरूप होकर ही दृश्य को देख और समझ पाता है । इस तरह मन्त्र का द्रष्टा जबतक स्वयं मन्त्ररूप न हो जाय वह मन्त्र को नहीं देख सकता ।

क्रिया पश्यति हि क्रियाः । ऋषि वेद-मन्त्रों के रचयिता नहीं, वरन् उसके द्रष्टा हैं । ऋग्वेद के जिस मन्त्र की चर्चा अभी हम कर रहे हैं वह है– **आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान् । स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि ॥ (ऋ० 10/98/5)**

निरुक्त ने इसका अर्थ किया है– **ऋष्टिषेण का पुत्र देवापि नामक ऋषि देवताओं की कल्याणकारी बुद्धि को अर्थात् वर्षण के अभिमुख प्रवृत्ति को या वृष्टि की विद्या को जानता हुआ यज्ञार्थ बैठ गया । उसने ऊपर से समुद्र अर्थात् अन्तरिक्षीय समुद्र से निचले समुद्र अर्थात् सागर को लक्ष्य करके उत्तम अर्थात् सस्य-सम्पत्कारी वर्षा के जलों को छोड़ा, अर्थात् वर्षा करा दी ।''** (निरुक्तः; द्वितीय अध्याय)

निरुक्त ने अपने द्वितीय अध्याय (तृतीय पाद) में वेदों में आये 'हिरण्य', 'अन्तरिक्ष', 'समुद्र' और 'वर्षा' आदि पदों के सन्दर्भ से एक ऐतिहासिक आख्यान की चर्चा की है । यहाँ हम आख्यान से पहले ऋषि-दृष्टि के सन्दर्भ से ही 'हिरण्य' आदि पदों की यथार्थता को निरुक्त के आधार पर भी पहचानने का प्रयास करते हैं।

निरुक्त ने इन्हें निम्नांकित रूपों में पहचानने का प्रयास किया है– **हिरण्यं कस्माद् ? ह्रियत आयम्यमानमिति वा, ह्रियते जनात् जनमिति वा, हित-रमणं भवतीति वा, हृदय-रमणं भवतीति इति वा, हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्सा-कर्मणः ।** लम्बा खींचा जाता है; अथवा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास ले जाया जाता है; अथवा औषधरूप से हितकारक या धारण करने योग्य और रमणीय है । इच्छार्थक **(हर्यतेर्वा स्यात)** हर्य्य धातु से हिरण्य बनता है । हर एक की यह इच्छित वस्तु मानी जाती है ।

डा० उमाशङ्करशर्मा 'ऋषि' ने अपनी प्रस्तुति में 'हिरण्य' शब्द के सन्दर्भ में विशेष सूचना देते हुए लिखा है– ''हिरण्य अत्यन्त प्राचीन शब्द है, जिसका सम्बन्ध 'हरि' शब्द से है । अन्य भारोपीय भाषाओं में यह वर्ण (रंग) का द्योतक है तथा 'र' के स्थान में 'लि' मिलता है । तुलनीय-जर्मन gelb (पीला); लातिन helvus (पीला); प्राचीन बुलगारी Zelunu (हरा); अंग्रेजी Yellow (पीला) ।''

'रंगों' (वर्णों) की चर्चा के आधार पर नहीं, वरन् 'स्वर्ण' के अर्थ के आधार पर वेदों की रचना-काल का अनुमान, पाश्चात्य दार्शनिकों या धार्मिकों ने, अपनी संस्कृतियों के उदय से बहुत बाद का लगाया था। उनका मानना था कि 'स्वर्ण' का ज्ञान चूँकि बहुत बाद का है, इसलिए वैदिक रचनाएँ 'स्वर्ण' की जानकारी के बाद के काल की हैं।.

वस्तुत:, 'हिरण्य' सृष्टिरचना से सम्बद्ध है **हिरण्यगर्भः** पद का अर्थ 'ब्रह्मा' से लिया जाता है। ब्रह्मा की उत्पत्ति सुवर्णअण्ड से हुई कही गयी है। मनुस्मृति की उक्ति है– **तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥** (मनु० 1.9)

ईशावास्य उपनिषद् की उक्ति है– **हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।** (मं– 15 पूर्वांश)

यहाँ 'हिरण्य' शब्द से ज्योतिर्मय सूर्यमण्डल' का अर्थ लिया गया है।

फिर, मुण्डकोपनिषद् (3.2.10) ने 'एकर्षि' पद का व्यवहार करते हुए अपने श्लोक में उसका अर्थ 'एकर्षि' नामक प्रज्वलित अग्नि' के रूप में लिया है। इसे उस अग्नि के रूप में देखा गया है, जिसमें निष्कामभाव से कर्म करनेवाले वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ श्रद्धासहित नियमानुसार हवन करते हैं। ध्यातव्य है कि सूर्य को अन्तरिक्षीय अग्नि कहा गया है।

ये साक्ष्य हमें, वस्तुत:, 'हिरण्य' पद से 'सूर्य' का भी अर्थ लिये जाने का संकेत करते हैं। आर्ष दर्शन में सूर्य, वस्तुत:, अग्नि-तत्त्व है। प्रश्नोपनिषद् (प्र० 1.8) की उक्ति है– **विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्। सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥**

अर्थात् विश्वरूप जातवेदस (सर्वज्ञ) सर्वाधार प्रकाशमय तपते हुए किरणों से युक्त सूर्य (हरिणं) अद्वितीय है। यह सहस्रों किरणोंवाला सूर्य अपने शतधा प्रकृति से समस्त जीवों का प्राणदाता के रूप में उदित होता है।

वस्तुत:, 'हिरण्य' पद से सूर्य-तेज का अर्थ निष्कर्षित होता है।

'अन्तरिक्ष' पद की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ से निरुक्त का कथन है– 'वह द्युलोक और पृथ्वी लोक के बीच में स्थित है, इसलिये अन्तरिक्ष कहा जाता है। 'क्षा' का अर्थ 'पृथ्वी' से लिया गया है। पृथ्वीलोक को, वस्तुत:, औषधस्थल या अन्न उत्पादन का स्थल समझा गया है। यहाँ जो कुछ भी है वह अन्न और आनन्द है। अन्तरक्षि की सीमा एक ओर द्युलोक है दूसरी ओर पृथ्वी लोक। इन द्युलोक और पृथ्वी लोक के मध्य में (अन्तरा) जो रहता है, वह अन्तरिक्ष है– **अन्तरा क्षियति निवसति इत्यन्तरिक्षम्।**

शरीर को भी लोक के रूप में देखा गया है । इस रूप में शरीर के भीतर (अन्तः) जो है, वह आकाशवत् अक्षय (अक्षयम्) है, अविनश्वर है । यह वह अविनश्य शक्ति है, जो प्राण के रूप में कार्यकारी शक्तिरूप से अभिव्यक्त होता है। शरीरेषु अन्तरा मध्येऽवस्थितम् अक्षयम् ।

समुद्र कैसे ? समुद्द्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीति वा । अर्थात्, इस सागर से जल-तरंगों के रूप में ऊपर उठते हैं, अतः इसका नाम 'समुद्र' पड़ा । अथवा, इसे जो जल प्राप्त होता है, वह सब ओर से एकत्र होकर प्राप्त होता है या फिर, इसमें सब जलचर खुश रहते हैं । या यह बहुत जलवाला होता है । (उद=जल) । या यह भिगोता रहता है (समुनत्तीति) ।

अब, इस सन्दर्भ से जो आख्यान (ऋ० 10.98.7) है वह ऐसा है– दो कुरुवंशी भाई थे– देवापि और शन्तनु । देवापि बड़ा और शन्तनु छोटा था । छोटे भाई ने अपना राजतिलक कर लिया । देवापि ने तपस्या प्रारम्भ कर दी । शन्तनु के राज्य में बारह वर्षों तक वर्षा नहीं हुई । ब्राह्मणों ने उससे कहा– तू ने अधर्म किया है । बड़े भाई को उसका अधिकार न देकर स्वयं का राज्याभिषेक कर लिया । इसी कारण तेरे राज्य में वर्षा नहीं होती । शन्तनु ने देवापि से राज्य लेने की प्रार्थना की । देवापि ने राज्य नहीं ग्रहण किया । इसके बदले उसके यज्ञ का पुरोहित बनकर यज्ञ करना स्वीकार किया । देवापि ने यज्ञ कराया । वृहस्पति ब्रह्मा ने देवापि को वर्षा कराने वाला मन्त्र दिया । देवापि ने उस मन्त्र के सहारे वर्षा करायी ।''

मन्त्र, वस्तुतः, देवश्रुत अर्थात् देवों द्वारा सुने जानवाले होते हैं । दूसरे शब्दों में देवता मन्त्रश्रुत हैं और मन्त्र के अनुरूप पुरोहित या 'होता' जब हवि प्रदान करता है तब मन्त्रश्रुत देवता याचक की अभीष्ट याचना पूरी करते हैं । ऋत्विजरूप 'ब्रह्मा' देवश्रुत अर्थात् देववाणी को सुननेवाले हैं । 'ब्रह्मा' ब्रह्मज्ञ होते हैं । अर्थात् सब वेदों के ज्ञाता होते हैं । उपर्युक्त यज्ञ में बृहस्पति 'ब्रह्मा' हैं ।

उन्होंने देवापि को मन्त्र का ज्ञान दिया और देवापि ने उसका अनुष्ठान किया। 'देवापि' यज्ञ के होता या पुरोहित है । ऋत्विज 'ब्रह्मा' यज्ञ में सब बिन्दुओं पर ध्यान देता है । 'ब्रह्मा' इस तरह, ब्रह्मज्ञ, देवज्ञ और देवश्रुत है । 'होता' ऋग्वेदवेत्ता होते हैं। इसलिये वह भी देवश्रुत हैं । 'देवश्रुत', वस्तुतः, कार्यकारी क्रियाशक्ति के ज्ञाता होने से उस समय के वैज्ञानिक हैं । बिना ज्ञान के किया गया कर्म इष्टसाधक नहीं होता। यज्ञ के ऋत्विज ज्ञान-विज्ञान के साधक हैं; वैज्ञानिक-दार्शनिक हैं । 'विज्ञान' से वास्तविक सत्य का और 'दर्शन' से परमार्थसत्य का द्रष्टा-ज्ञाता बनता है । मन्त्रद्रष्टा ऋषि इन दोनों रूपों के साथ ही 'कवि' और मनीषी बनता है । इसलिये 'कवि' ऋषिरूप से द्रष्टा, वैज्ञानिक और व्याख्याता-साहित्यकार भी है ।

ध्यातव्य है कि वेद-मन्त्र ऋषि-दृष्ट हैं । वे अपौरुषेय कहे गये हैं । आज हम अपौरुषेय पद से 'ईश्वरकृत' का अर्थ ही नहीं लेते वरन् वेद-मन्त्रों तथा ऋषियों, यहाँ तक कि वेद-सन्दर्भों को भी जंगलियों का निरर्थक-सा व्याख्यान कहने से भी नहीं हिचकते । वस्तुतः, वैदिक ऋषि की अवधारणा श्रुति और स्मृति के रूप में अभिव्यक्त होते थे । 'श्रवण' ज्ञान का और 'स्मृति' अर्थात् आचरेण स्मरण का विषय था । स्मृतियाँ अपने को वेदाश्रित कहती रही हैं, मगर बाद में उन्होंने युगाचार को प्राथमिकता दी । 'ज्ञान' पर 'आचार' के बढ़ते प्रभाव ने न केवल अभिव्यक्ति के प्रमुख साधन शब्दों की स्थिति को बदला, वरन् 'आचार' को ही धर्म का रूप दे 'धृ+मन्' रूप धर्म को विलुप्त कर दिया ।

संस्कृत शब्दों को उनकी व्युत्पत्तियों के आधार पर निश्चितार्थक माना जाता है । वेद के शब्दों को आज भी नित्य कहा जाता है; क्योंकि उनके अर्थ आज भी नहीं बदले जाते; किन्तु भाष्यकारों के अर्थ तो युग-प्रचलन के अनुरूप ही बदलते गये हैं । उदाहरणात्, ऋग्वेदीय उक्ति **सतो बन्धुमसति** के अनुसार 'सत् और असत्' जहाँ बन्धुवत् एक-दूसरे के पूरक थे, छान्दोग्य उपनिष्द में उन्हें सत्य और असत्य का रूप दे दिया गया । संस्कृत की लोकप्रियता घटते ही क्षेत्रीय भाषाओं की बन आयी । क्षेत्रीय भाषाएँ भी एक-दूसरे से मिलकर नयी भाषाओं को जन्म देने लगीं । जैविक संसार हो या शाब्दिक संसार, सब जैसे साङ्कर होने की प्रवृत्ति ले बैठे । आज तो यह प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर है । यहाँ मुण्डक उपनिषद् के उस मन्त्र की एक बार फिर चर्चा करते हैं, जिसमें धीराः पद का व्यवहार किया गया है । मन्त्र है– **स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् । उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥** (मुण्ड० 3.2.1)

यहाँ मन्त्र का प्रथम शब्द 'स' और अन्तिम शब्द 'धीराः' है । 'स' जहाँ अन्यपुरुष एक वचन है, वहाँ 'धीराः' अन्यपुरुष बहुवचन है । जब पुरुष उत्तम और मध्यम् पुरुष को निरूपित करता है तब वह नामरूपधेय होता है; किन्तु अन्यपुरुष में उसका 'नामरूप' 'अन्य' रूप धारण कर लेता है; नामविशेष नहीं रह जाता । 'स', वस्तुतः, अनेक 'धीरों' (धीराः) में से एक है, परन्तु 'धीराः' तो अनेक 'स' का भावपरक अस्तित्व है । 'भावपरक' से मेरा अभिप्राय शक्तिपरक रूप से है । सृष्टि नामरूपधेय का आधान है । 'शरीर' ही नामरूप धारण करता है उसका शक्तिगत रूप नामरूप धारण नहीं करता । पुरुष क्रियाशक्ति का वह साधनरूप कार्यकारी साधक शक्ति है, जो साधक शक्ति की कार्यक्षमता को व्यक्त करता है । 'शक्ति' की गाथा पुरुष के माध्यम से सामान्यतया ही अभिव्यक्त होती है । तैत्तिरीयोपनिषद् ने इस 'अभिव्यक्ति' को ही 'व्याहृतिरूप' से संज्ञापित किया है । तैत्तिरीयोपनिषद् ने इन

व्याहृतियों में से पहली तीन व्याहृतियों (भू.भुवः स्वः) के सन्दर्भ से चौथी व्याहृति को महःरूप देखते हुए उसे अन्य तीनों को महिमामण्डित करनेवाला कहा है । वेदरूप व्याहृतियों के तीन भाग ऋक्, यजु, और साम हैं । इन तीनों की अपेक्षा से चौथी व्याहृति अर्थात् महःरूप व्याहृति 'ब्रह्म' है । 'ब्रह्म' रूप यह व्याहृति शक्त्यात्मक होने से अरूप और अव्यक्त है । इसी 'अव्यक्त' की महिमा तीनों वेद गाते हैं । यह 'ब्रह्म' ही, वस्तुतः, अपने शक्तिगत कारणरूप में व्यक्तगत कार्यपुरुष का कारणरूप है, और स्वयं अद्वैत क्रियापुरुष । इस तरह वेद व्यक्त कार्यपुरुष ब्रह्म की ही नहीं, वरन् शक्तिरूप ब्रह्म की महिमा का भी व्याख्याता है ।

पुरुष के द्वारा किये गये या किये जा सकनेवाले कार्य पौरुषेय हैं । वेद का पुरुष क्रियापुरुष है । आयुर्वेद ने इसी क्रियापुरुष को देखे जाने के सन्दर्भ से **द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः** कहा तथा आयुर्वेद का अधिकरण माना है । **स पुमांश्चेतनं तच्च· तच्चाधिकरणं स्मृतम् । वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः** (चं० सं० 1.47)

वेद का विषय ब्रह्म है; और 'ब्रह्म' व्यक्त द्रव्यात्मक कार्यकारी पुरुष न होकर शक्त्यात्मक कार्यकारी क्रियापुरुष है । यह व्यक्ति (व्यक्त इकाई) नहीं, वरन् व्यक्ति का कारणरूप है । शक्त्यात्मक होने से वह अव्यक्त है । ऋषि मन्त्र-द्रष्टा हैं। इस रूप में उनकी दृष्टि भौतिक सृष्टि के कारणरूप आधिदैविक अर्थात् क्रिया-दृष्टि पर केन्द्रित हुई होती है । क्रिया-सृष्टि का कर्ता-धर्ता ब्रह्म है । ऋषि वेद-मन्त्रों में इसी ब्रह्म के कार्य-कलापों को देखता है । वेद-मन्त्र कार्यनिर्वाहक शक्ति की कार्यकारिता की व्याख्या देता है । इस तरह क्रिया-दृष्टिरूप ऋषित्व लौकिक पौरुषेय चाक्षुष द्रष्टृत्व से अलग मनश्चक्षु का विषय हो जाता है । इस तरह मनश्चाक्षुष् द्रष्टृत्व की दिव्यता या क्रियात्व को उसकी विशिष्टता में दिव्य और अपौरुषेय कहा गया है।

फिर, ऋषि को दानव-देवता और मानव से अलग तीनों की वास्तविकता तथा ऋत का ज्ञाता-विज्ञाता कहा गया है । इस रूप में भी ऋषि, वस्तुतः लौकिकता और पारलौकिकता अर्थात् सार्वभौमिकता-सर्वत्रता-सर्वव्याप्तता का द्रष्टा-ज्ञाता सिद्ध होता है । 'पुरुष' 'पुरि' से सम्बद्ध होकर अपने को सीमांकित और सीमित कर लेता है । 'ऋषि' की शक्तिगतता उसे असीम-अनन्त-अबन्ध अर्थात् अपुरुष बना देता है। ऋषि-दृष्ट वेदमन्त्र देव-सम्बद्ध होने से क्रियापुरुष अर्थात् कार्यकारी या कार्यनिर्वाहक शक्ति का रूप लेता है । अपने इस अभौत अर्थात् भूतात्मक सीमितता से विमुक्ति के कारण ऋषि लोक-परलोक की सीमा के बन्धन से विमुक्त होता है । वेदमन्त्र ऋषि-रचित न होकर ऋषि-दृष्ट अर्थात् साक्षात्कृत हैं । ब्रह्म का अपाणिपादरूप जहाँ उसे भौत से अलग भौत का कारण बना देता है वहाँ वह कारणरूप से अपुरुष ही सिद्ध होता है । वेद इस रूप में ही अपौरुषेय हैं ।

व्यक्तगत (व्यक्ति) पुरुष से सम्बद्ध विषय को पौरुषेय कहते हैं; और पुरुष' के पूर्व 'अ' लग जाने से वह असीमता का निरूपक हो जाता है । 'अ' लग जाने से वह पुरुष अपंनी सीमाबद्धता से विमुक्त हो असीम-अनन्त अर्थात् सहस्रशीर्षा पुरुष हो जाता है । इस रूप में ही वह अपुरुष अर्थात् अपाणिपाद कहा जाता है । अपौरुषेय पद का 'अ' नकारात्मक अर्थ देनेवाला वह उपसर्ग है, जो भिन्नतावोधक है । ध्यातव्य है कि 'अ' का नकारार्थ छः रूपों में गिनाया गया है– सादृश्य, अभाव, भिन्नता, अल्पता, अप्राशस्त्य, और विरोध ।

वस्तुतः 'अ' नित्यता का बोधक है । गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन के यह पूछने पर– **किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम । अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥** (गीता- 8.1) उत्तर दिया– **अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते। भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥** (वही, 8.3)

आगे, अर्जुन श्रीकृष्ण से उनकी योगशक्ति और विभूतियों के विषय में जानना चाहते हैं; क्योंकि वे स्पष्टतः श्रीकृष्ण से यह पूछने से नहीं चुकते– कथं **विद्यामहं योगिंस्त्वां परिचिन्तयन् ।** (गीता- 10.17 पूर्वांश)

अपने उत्तर में श्रीकृष्ण अपनी अनेक विभूतियों के साथ 'अक्षर' के सन्दर्भ से अपने को 'अकार' कहते है **अक्षराणामकरोऽस्मि**; और "विद्या" के सन्दर्भ से **अध्यात्मविद्या विद्यानां** (वही, 10.33 एवं 32) ।

स्पष्ट है अध्यात्म विद्या से ही 'अ' की नित्यता या 'अक्षर' का ज्ञान सम्भव होता है ।

उपर्युक्त सन्दर्भित अर्जुन-श्रीकृष्ण संवाद में हमें 'अ' की नित्यता और 'ज्ञान' का यथार्थ ज्ञान मिलता है । जहाँ 'अ' न केवल अक्षरों का वरन् सम्पूर्ण शब्द-संसार का मूलाधार है, वहाँ अध्यात्मविद्या सब विद्याओं का मूलाधार है । 'ज्ञान', वस्तुतः, 'अ' की व्याख्या का साधन-साधक और साध्य है । वस्तुतः, ज्ञान और कर्म मनःसम्बद्ध होने से एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । 'ज्ञान' मन का आभ्यन्तरिक कर्म, और 'कर्म' मन का ही बाह्य कर्म है । 'शरीर' के अन्तःकरण और बाह्यकरण के रूप में ऐन्द्रियक अवयव मन के कार्मिक साधन हैं । यह 'मन' ही अपनी कार्यकारिता में दृष्टि और सृष्टि (दृश्य) है; कर्तृत्व और कृति है; वास्तव और वस्तु है । मन की धृति में ही परमार्थसत्य का ज्ञान और मन की ही धृति में कंर्मफलरूप में परमार्थसत्य की प्राप्त होती है । इस तरह अपौरुषेय पद, वस्तुतः, नित्य क्रियापुरुष से सम्बद्ध है, व्यक्तगत व्यक्तिपुरुष से नहीं ।

सृष्टि अपने कारण और कार्य दोनों रूपों में परमार्थसत्य है और मन-मानव उस परमार्थसत्य का द्रष्टा व्याख्याता । यह मन-मानव ही अपने कार्यकारीरूप में

अध्यात्म देवता है । और उसका ही व्यक्त, स्थूल कार्यकारीरूप व्यक्तगत व्यक्तिपुरुष है । गीता के श्रीकृष्ण जब कहते हैं– **अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥** (गीता- 10.20), वे आत्मा रूप से अपने को मन-मानव ही कह रहे होते हैं । और, जब कहते हैं– **अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते । भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥** (वही, 8.3) तब वे मन-मानवरूप आत्मा, और उसके ज्ञातृ-कर्तृ स्वभावरूप अध्यात्म एवं उसके ही कार्यकारीरूप भूतभावोद्भवकर अर्थात् भौतिक कार्यों को प्राणवान्‌रूप से अभिव्यक्त करने वाले कारकरूप की व्याख्या दे रहे होते हैं । 'अध्यात्म' से आत्मा सहित कार्यनिर्वाहक शरीर अर्थात् 'कार्यकारी मनोपुरुष' का और **भूतभावोद्भवकरः** और **विसर्गः कर्मसंज्ञितः** से कार्यकारी प्राणवान् व्यक्ति का निरूपण होता है । अध्यात्म पद की व्याख्या ऋग्वेद के इस मन्त्र में मिलती है– **सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥**

उपनिषदों ने कारण ब्रह्म से कार्यब्रह्म के विकास की जो बात की है वह सर्वथा ऋग्वेद (10.129.2 एवं 4) की इन मन्त्रोक्तियों से भी व्याख्यायित होती है– **न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः । आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास् ॥** और, **कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्यां कवयो मनीषा ॥**

भावार्थ है– महाप्रलय की स्थिति में कुछ भी नहीं था । अर्थात् सृष्टि नाम की कोई वास्तविकता नहीं थी । वहाँ मात्र वह 'शक्ति' थी, जिसका कभी विनाश नहीं होता और वह रूपान्तरणीय थी । वह शक्ति 'तत्' रूप अर्थात् विशुद्धावस्था में थी । विशुद्धावस्था इसलिए कि वह '**आनीदवातं स्वधया**' ही अस्तित्वमान् थी । अपने-आप की 'स्वधा' अर्थात् हवि से अस्तित्वमान् थी । वह अव्यक्त अर्थात् 'अपाणिपाद' रूप से अस्तित्वमान् थी । वह 'असत्' अर्थात् 'सत् विहीन थी ।

यह 'सत' ही 'तत्' के लिये 'स्वधा' था । सत्‌रहित असत् अवस्था ही शक्ति की अव्यक्तावस्था होती है । 'असत्' अव्यक्तावस्था का निरूपक है । 'तत' की व्यक्तता असत् की अव्यक्तता और सत् की व्यक्तता की समन्विति में होती है । दूसरे शब्दों में शक्ति जबतक कार्यकारी न हो वह कार्यशील नहीं होती । शक्ति का असत्‌रूप तभी कार्यकारी होता है जब कार्य का माध्यम 'सत्' रूप साधन उससे मिलता है । असत्-सत् का मिलन ही सत्ता या सत्य-रूप से कार्यकारीरूप में परिणामित होता है । 'सत्' रूप का और 'असत्' क्रियात्वं अर्थात् क्रियाशीलता का कारण है । 'रूप' और 'क्रिया' का समन्वित कार्यकारीरूप ही 'अध्यात्म' है, जिसका ज्ञान हमें, विद्या के सन्दर्भ से, अध्यात्मविद्या के द्वारा होता है ।

'अध्यात्मविद्या' अध्यात्म को उसकी पूर्णता में जानने का विज्ञान है । और, अध्यात्म है आत्मा और शरीर का समन्वय, जिसमें स्वयं आत्मा अपने पाँच कोषों में अपने क्रियाकारित्व को देखता-पहचानता, अपनी ही व्याख्या करता तथा अपने ही कार्यकारी ऐन्द्रियक अन्नमय शरीर से कार्य लेता है, सृष्टिरूप में विकसित होता है। 'मन' अपने क्रियात्वरूप में अनादि नित्य, निर्गुण निर्विकार है । यही अपने कार्यकारी मनोरूप में मनोमानव है । कार्यकारी होने के कारण सृष्टि का हर अवयव कारकरूप है । हर कण अपनी कार्यकारी व्यक्तता में क्रिया-कारित्व का समन्वय है । 'मन' सत्-असत् अर्थात् कारित्व-क्रिया का समन्वय होने से कारकरूप मनोमानव है ।

ऋषि इन सब का द्रष्टा है । वह देवता, दानव और मानव तीनों का द्रष्टा-ज्ञाता है । 'देवता' कार्यकारी क्रियाशक्ति है; 'दानव' कार्यकारी ऐन्द्रियक शरीर है; और 'मानव' इन दोनों का समन्वयक मननकर्मा अस्तित्व है । दूसरे शब्दों में संयमित मानव की मनष्क्रिया ही आत्मा और ब्रह्मरूप में तथा असंयमित मनष्क्रिया आसुरीरूप में परिणामित होती है । मानव का ही संयमितरूप 'धर्म' है । व्यक्ति अपने इस 'धर्म' (धृ+मन) अर्थात् मन और इन्द्रियों के संयमन के रूप में धर्म, आत्मा और ब्रह्म है । अपने आत्मिकरूप को इस आत्मज्ञान के द्वारा पहचानकर शारीरकरूप से कार्य करता हुआ व्यक्ति जिस 'मोक्ष' को प्राप्त करता है, वह उसकी आनन्दमयता है, मृत्यु नहीं । मोक्ष परमार्थसत्य की प्राप्तिरूप से आनन्द है ।

जीवन को देखता-जानता ऋषि जीवन से कभी अलग नहीं होता । भारतीय दर्शन का ऋषि दार्शनिक-वैज्ञानिक है । वह दर्शन से जीवनविज्ञान को जानता है; और, जीवनविज्ञान को जानकर जीवन को आनन्दमय रूप देता है । वह आज के वैज्ञानिकों से अलग है; क्योंकि आज के विज्ञान के पास मात्र 'वस्तु' है और वह उसकी वास्तविकता को जानने के प्रयास में आसुरीरूप धारण करता जा रहा है । वह परमार्थसत्य के आधार पर जीवन के विज्ञानमय 'दर्शन' का दर्शन नहीं करता, या करना नहीं चाहता । वह ऐन्द्रियक 'स्व' से अलग नहीं हो पाता । वह मन को भी अपने ऐन्द्रियक रूप में समेटे रह जाता है, उसकी धृति में जाने को अस्वीकार करता है । 'मन' की धृति न हो तो 'मन' ऐन्द्रियक उच्छृङ्खलता में ही जीने का आदी हो जाता है । यह ऐन्द्रियक उच्छृङ्खलता ही किसी व्यक्ति या विज्ञानी के आसुरीरूप का कारण है । मन की संयमिता में इन्द्रियाँ ऐन्द्रियक शरीर से हटकर मनःशरीर की ओर अभिमुख होती हुई अपने ही मनःरूप को ब्रह्म-परब्रह्म के रूप में देखने-पहचानने की ओर अग्रसर होती हैं । और, यह परमार्थभाव से प्रेरित परमार्थसत्य की प्राप्ति में परिणामित होती है ।

इस तरह मन ही द्रष्टा है, मन ही दृष्टि है, मन ही दृश्य और मन ही माध्यम है। और, इनकी समन्विति में परिणामित 'मन्त्र' जीवन-सत्ता का आभिव्यक्तिक अर्थात् पारिणामिक परमार्थसत्य है। छन्दों में बद्ध शब्द ऋषि-दृष्ट क्रियाशक्ति की कार्यकारिता अर्थात् कार्यनिर्वाहक शक्ति (देवता) की कृति (कार्य) को निरूपित करते हैं। यही कारण है कि 'मन्त्र' अपने कार्यरूप में उस कार्यकारी देवता को निरूपित करते हैं, जिनके वे परिणाम या कृतकार्य हैं। निरुक्त ने इसे ही अपने इन शब्दों में स्पष्ट किया है– **यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद् दैवतः स मन्त्रो भवति।**

हमने ऊपर ऋष्टिसेन के पुत्रों देवापि और शन्तनु के कथानक को देखा है। वहाँ 'देवता' अर्थात् 'कार्यनिर्वाहक शक्ति' अपने कार्यकारी प्रक्रियात्मक रूप का दर्शन ब्रह्मासंज्ञक ऋषि या ऋत्विज को कराता है और ब्रह्मासंज्ञक ऋत्विज इससे 'होता'-संज्ञक ऋत्विज को इससे अवगत कराता है। 'होता' संज्ञक ऋत्विज उस मन्त्र का उच्चारण 'ऋक्' रूप से करता है। 'ऋक्' रूप ऋचायें यज्ञ-अग्निधूम के साथ हविष्य को देवलोक (व्योम) को ले जाती हैं, जहाँ सब देवगण निवास करते हैं। ऋषि-अभिप्सित देवता मन्त्रों को जानते हैं; क्योंकि यह उनकी ही बतायी हुई क्रिया की अभिव्यक्ति होती है। देवता ऋचाओं में अभिप्सित कार्य को पूर्ण करते हैं।

एक वैज्ञानिक इस पद्धति या विधि से ही कार्य करता है। वह तत्त्वों के कार्यकारीरूपों को विज्ञानतः देखता-जानता है। उसके अनुरूप वह ऐसे पूरक तत्त्व की खोज करता है, जो उसके कार्य के लिये अपेक्षित हो। अपेक्षित की प्राप्ति और उनकी समन्विति में परिणामित कार्य को अभिप्सितरूप में देखकर वह उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया को सुनिश्चित करता है। परन्तु, अपने इस प्राप्त को परमार्थसत्य की कसौटी पर वह नहीं कसता। अपने अभिप्स्तित को पाकर ही सन्तुष्ट हो जाता है। दार्शनिक ऋषि ऐसा नहीं करता, कर भी नहीं सकता; क्योंकि वह कार्य को देखकर उसके कारणरूपों को देखता हुआ कार्य के परमार्थसत्यरूप को निश्चित करता है; और, तब जाकर वह अभिप्सित की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

ऋषि मन्त्र का द्रष्टा होता है; क्योंकि वह क्रिया की कार्यकारिता को देखता है। क्रिया की कार्यपद्धति एक निश्चिति के साथ बढ़ती है। उदाहरणतया रसायन के तत्त्व अपनी-अपनी निश्चिति के अनुरूप एक-दूसरे से समन्वित होकर यौगिकों में परिणामित होते हैं। ये परिणाम जैविक उत्पादों के समान ही होते हैं। बायोकेमेस्ट्री (biochemistry) में इस विज्ञान का यह रूप साक्षात्कृतरूप से देखा जा सकता है। एक तत्त्व 'कार्बन' अपने चार 'बॉन्ड' (Bond) के साथ अपेक्षित तत्त्वों की समन्विति में अनन्त यौगिकों का निर्माण कर सकने में समर्थ है। 'कारण' को देखता

ऋषि-वैज्ञानिक परमार्थसत्ता को जानकर परमार्थसत्य की खोज करता है और उसे प्राप्त करता है । वह धृतमना होता है, अधृतमना अर्थात् चंचलमना नहीं । एक धृतमना ही परमार्थसत्ता या परमार्थसत्य को देखता-जानता और प्राप्त करता तथा उपयोग में लाता है । यह धृतमना कोई और नहीं, हमरा 'ऋषि' है । ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः । ऋषि क्रियापुरुष का द्रष्टा-विज्ञाता और व्याख्याता है ।

हाँ, ऋषि ऐसे वैज्ञानिक द्रष्टा हैं, जो 'क्रिया' को देखते और 'क्रियापुरुष' के कार्यकलापों को देखते-समझते हैं । ऋषि ऐसे वैज्ञानिक हैं, जो सापेक्षों की सृष्टि में निरपेक्ष को क्रियाशीलरूप से सर्वत्र व्याप्त देखते हैं । वे ऐसे व्याख्याता हैं, जो निरपेक्ष की लीलाओं में सृष्टि के सापेक्षों को नृत्य करते देखते हैं । छन्दबद्ध वैदिक मन्त्र अपने-आपमें श्रेष्ठतम साहित्य के भी उदाहरण है ।

आधुनिक वैज्ञानिक युग ने किसी भी ऐसे सत्य को स्वीकृति नहीं दी है, जो सार्वकालिक और सार्वभौमिक हो । उसका मानना है कि युगधर्म के सन्दर्भ से सत्य कोई सर्व-स्वीकृत तथ्य नहीं । हर वस्तु सापेक्ष है । स्पष्ट है कि आधुनिक विज्ञान शक्ति की कार्यशीलता को तो देखता है; किन्तु उसकी निरपेक्षता को नहीं देखता । शक्तिगत वस्तु की सापेक्षता को तो देखता है; किन्तु निरपेक्ष शक्ति की सर्वत्र व्याप्ति को नहीं देखता । 'क्रिया' को भूलता आज का वैज्ञानिक भी 'कारक' को ही महत्त्व दिये बैठा है । ऋषि-दृष्टि का उसमें सर्वथा अभाव है ।

7. कवि :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ (ईशावास्योप० 15)

'सत्य' का मुखमण्डल तेजोमय प्रकाश से आवरित है । सत्यधर्मा ही उस प्रकाश-आवरण के पीछे छिपे सत्य को देखता और प्राप्त करता है ।

श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रारम्भ होता है प्रश्नपरक इस निम्नलिखित मन्त्र से- **हरिः ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति- किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः । अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥** (श्वेता०1.1)

और इनका ही उत्तर देते हुए इस प्रकार समाप्त होता है- **यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥** (वही, 6.20)

ब्रह्मवादी कार्य को देख उसके कारण की जिज्ञासा करते हैं । कारण-ब्रह्म कौन है ? यह जीव-जगत् किससे उत्पन्न होता और किसमें सम्यक्‌रूप से प्रतिष्ठित है ? किसकी व्यवस्था में यह सुख-दुःखपरक जीव-जगत् कार्यरत है ? श्वेताश्वतर ऋषि ने उस कारणरूप शक्त्यात्मक शक्ति को 'निष्कल' (कलारहित), 'निष्क्रिय' 'शान्त', 'निरवद्य' (निर्दोष), निरञ्जन (निर्मल), 'अमृत' का परम सेतु और 'दग्ध-इन्धन अनल' के समान देखा है- **निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् । अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥** (वही, 6.19)

श्वेताश्वतर ऋषि का स्पष्ट मन्तव्य है कि जब मानव-व्यक्ति आकाश को चर्मवत् (त्वचारूप से) लपेट सकेगा तब देवों को जाने बिना भी वह अपने को दुःख-समुदाय से मुक्त रख सकेगा ।

यहाँ मन्त्र में व्यवहृत पद **चर्मवदाकाशं** का व्यवहार विशेषार्थक है । वस्तुतः, 'चर्म' (चर्म=चर+मनिन् अथवा चर्मन्+अच्, टिलोपः) त्वचा अथवा ढाल का पर्याय है । त्वक् या 'त्वचा' के रूप में स्पर्श-दृष्टि अथवा आभ्यन्तरिक कार्यकारी क्रियाशरीर के लिये ढाल है । त्वक्-इन्द्रिय के रूप में 'चर्म' व्यक्ति को आपाद-मस्तक ऐन्द्रियक रूप दे देता है । त्वचा स्पर्शेन्द्रिय का निरूपक है । 'आकाश' (आ+काश्+घञ्); आ=सब ओर से; काश= दिखाई देना) का अर्थ है सब ओर से दिखायी देना । 'आकाश', वस्तुतः, शक्तिगत शक्ति का निरूपक है, जो पारदर्शी है। इसकी पारदर्शिता किसी भी कार्यकारिता को पारदर्शी बना जाती है । मानव-व्यक्ति की त्वचा पारदर्शी नहीं; फलतः त्वचा की अपारदर्शिता क्रियाशील कार्यकारी आभ्यन्तरिक क्रिया-शरीर की कार्यकारिता को दिखा नहीं पाती या देखने नहीं देती। आकाशवत् त्वचा इस तथाकथित कार्यकारिता को प्रत्यक्ष रूप में दिखा सकने में समर्थ होती और व्यक्ति दुःख समुदाय का निराकरण कर सकने में समर्थ होता । तब उसे देवतारूप कार्यनिर्वाहक शक्तियों को जानने की आवश्यकता नहीं होती ।

कहते हैं कि किसी समय देवताओं को मृत्युभय ने घेर लिया था । फ़लतः उन्होंने अपने को छन्दों से ढक लिया । निरुक्त की उक्ति है- **अथ छन्दांसि कस्मात् ? छादनात् । यैरात्मानमाच्छादयन्देवामृत्योर्बिभ्यतः तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्-इति विज्ञायते ॥** अर्थात् छादन करने से छन्द कहलाये । मृत्यु से डरते हुए देवताओं ने अपने को इन छन्दों से ढक लिया था अतः इनका नाम छन्द पड़ा ।

'वेद', वस्तुतः, मन्त्रों के ग्रथितरूप हैं । मन्त्रों को सूक्तों के अधीन वर्गीकृत किया गया है । ये सूक्त ऋषि, देवता और छन्द या छन्दों के विचार से सङ्कलित हुए

हैं । 'देवता' ऋषि द्वारा साक्षात्कृत हैं और छान्दस् होने से अक्षररूप (अक्षरणशील) में वर्णित हैं । 'देवता', वस्तुतः, 'कार्यनिर्वाहक शक्ति' अर्थात् क्रियाशक्ति के कार्यकारी रूप' अर्थात् 'क्रियापुरुष' या 'कार्यकारी क्रियाशक्ति के निरूपक हैं ।

'क्रियापुरुष' में 'पुरुष' पद 'संज्ञार्थक' अर्थात् 'कार्यार्थक' है । 'पुरुष' आवयविक होने से विमर्शकारी और कार्यकारी दोनों रूपों में कार्यशील होने में समर्थ है । देवता मनोदेवरूप में मननात्मक एवं विमर्शकारी हैं; फलतः मानवपुरुष के अङ्गों की भाँति स्वयं कार्य करने में असमर्थ हैं । परन्तु अपने क्रियात्मरूप में वे सामर्थ्य 'शक्ति' का अर्थ देते हैं । निरुक्त की उक्ति है– **यस्माच्चेतनावतामिव स्तुतयो देवतानां मन्त्रेषु भवन्ति तस्मात् । पुरुषाकारविग्रहा इति निश्चीतये ॥** (7.2) यहाँ 'चेतना' को मननात्मक निश्चिति से सम्बद्ध किया जाकर पुरुषरूप की व्यवस्था की गयी है । 'चेतना' के आधार पर सम्पूर्ण प्राणी-जगत् का सामञ्जस्य हो जाता है । 'मनन' या विवेचन शक्ति मनुष्य (नर, पुरुष) में विशेषतः विकसित है ।

'निरुक्त' पुनः कार्यपक्ष को लेकर देवता के पुरुष (नर) रूप की बात करता है– **अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते ।**

देवताओं की स्तुति मनुष्य के अङ्गों से की गयी है । इसका कारण यह है कि क्रिया की कार्यकारिता मनुष्य के आवयविक (organic) रूप में सर्वोत्तमरूप से निष्पादित होती है ।

'देवता' पद की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ से निरुक्त की उक्ति है– **देवो दानाद्वा । दीपनाद्वा । द्योतनाद्वा । द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता ।** (7.4)

'देवता', 'दान', 'दीपन', 'द्योतन' और 'द्युस्थानी' होने से देवता कहा जाता है । और उसे बुलाने अर्थात् जाननेवाला 'होता' (होतारम् ह्वातारम्) कहा जाता है ।

मन्त्र और देवता के सम्बन्ध को दिखाते निरुक्त की उक्ति है– **यत्काम ऋषिः यस्यां देवतायाम् आर्थपत्यम् इच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ।** (अ० 7.1)

अर्थात् कोई कामना लेकर, कोई ऋषि, जिस देवता की प्रधान अर्थ चाहता हुआ स्तुति करता है– उसी देवता का वह मन्त्र होता है ।

''देवताओं की स्तुति चार प्रकार की होती है (दुर्गाचार्य) –उनके नाम से; सम्बन्धियों के द्वारा; कार्यों का उल्लेख करके; तथा उनके रूप का वर्णन करके ।'' कहा है– **स्तुतिर्नामरूपकर्मबन्धुभिः** (निरुकतम्ः डा० उमाशङ्करशर्मा ऋषि; 7.1)

मन्त्र के देवता ऋषि द्वारा साक्षात्कृत होते हैं । देवता क्रियापुरुष और ऋषि उस क्रियापुरुष का द्रष्टा-ज्ञाता होता है । यही कारण है कि 'ऋषि' शब्द को

'मन्त्रद्रष्टा' और 'द्रष्टा' को 'क्रिया' या क्रियापुरुष का द्रष्टा कहा गया है । **ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः** और **द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः** इसका ही साक्ष्य है ।

वैदिक ऋचाएँ त्रिविध कही गयी हैं– परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक। 'परोक्षकृत' ऋचाओं में 'नाम' (कारक) सब विभक्तियों में तथा 'क्रिया' अन्य पुरुष में होती है । –यथा **इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः।** (ऋ० 10.89.10) । 'प्रत्यक्षकृत' ऋचाओं में क्रिया मध्यम पुरुष में होती है । यहाँ 'तुम' सर्वनाम का व्यवहार होता है । **त्वमिन्द्र बलादधि** । आध्यात्मिक ऋचाएँ उत्तम पुरुष में तथा 'मैं' सर्वनाम से संयुक्त होती हैं । आध्यात्मिक ऋचाओं में देवता स्वयं बोलते हैं ।

स्पष्ट है कि परोक्षकृत ऋचाओं में देवता निर्दिश्यमान्; प्रत्यक्षकृत ऋचाओं में देवता संबोध्यमान्; तथा आध्यात्मिक ऋचाओं में देवता व्याख्याता हैं ।

ऋचाओं के विषय में ऋषियों की दृष्टि देवताओं की अभीष्टि पर निर्भर होती है । स्तुति, कामना, शपथग्रहण, अभिशप्ति, अवस्थाविशेष, ज्ञानोत्पत्ति, निन्दा, प्रशंसा आदि ऋचाओं को सामान्य जन से सम्बद्ध करते हैं । स्पष्ट है कि वैदिक ऋचाएँ जीवन के हर वैषयिक सत्य से सामान्यजन को परिचित कराती हैं । 'विवेचनशक्ति' की उपस्थिति व्यक्ति की विचारणा को जहाँ साक्षात्कृत बनाती हैं, वहाँ वह सांशयिक स्थितियों के निर्णय में अनुभव, तर्क और मनोसंयमन के द्वारा परमार्थसत्य के निश्चयन को भी परिणामी बनाती हैं । इस तरह वैदिक ऋचाएँ अपने को तत्कालीन समाज की वैश्विक (universal) अवधारणागत व्यवस्था का परिचायिका सिद्ध करती हैं ।

वेद की ऋचाएँ, वस्तुतः, किसी एक काल या एक व्यक्ति की प्रस्तुति नहीं हैं; वरन् पीढ़ियों के अनुभव और संचित ज्ञान की भी धरोहर हैं । इनमें सृष्टि के विकासगत रूप को देखा एवं अभिव्यक्त किया गया है । यह किसी एक वैयक्तिक पौरुषेय शक्ति का सृजन नहीं । वेदों में शक्ति के सृजनशील विकासकार्य की स्पष्ट विज्ञानसम्पुष्ट अवधारणा प्रस्तुत हुई हैं । वेद ज्ञानमय कर्म और कर्मसम्पुष्ट ज्ञान के अध्यापक हैं । ये श्रवणीय होने से श्रुति कहे गये हैं । ये, वस्तुतः, निश्चित-दर्शियों और सत्यश्रवसों की प्रस्तुति हैं ।

ऋषि-दृष्टि द्वारा शक्ति के अविनश्य विशुद्ध और कार्यकारी रूपान्तरणीयता को सृष्टि का कारणरूप देखा गया है । सृष्टि को जन्म-मृत्यु के आङ्कन के रूप में न देखकर उसे शक्ति के कार्यगत रूपान्तरण और समन्वयन के नित्य विकासशील रूप में देखा गया है । शक्ति का विकास द्रव्यरूप में और द्रव्य का पुनर्विकास शक्तिरूप में, –जैसी अवधारणा ऋषि को "महाप्रलय और सृष्टि की अनन्त क्रमिकता" का

दृश्य ही दिखा गया है । स्पष्ट है कि यहाँ विकास और रूपान्तरण की अवधारर्णा कारगर है, विनाश की अवधारणा नहीं ।

शक्ति अपनी शक्त्यात्मक अनन्तता में अव्यक्त और अद्वैत तथा द्रव्यात्मक कार्यकारिता में व्यक्त ससीम-असीम और विविध है । गैलेक्सी के बनते-बिगड़ते रूप और उसकी असीमता इसके ही साक्ष्य हैं । 'गैलेक्सी' (Galaxy) से सन्दर्भित आधुनिक जानकारी, वस्तुतः, शक्ति से सन्दर्भित पुरातन लोकगत या सृष्टिगत व्याहृतियों की व्याख्या (तैत्तिरीय उपनिषद्) से, सिद्धान्ततः, बहुत भिन्न नहीं । मूलतः शक्ति की आधुनिक व्याख्या और नियमन तथा पुरातन आर्ष अवधारणा एक-सी हैं; क्योंकि दोनों ही शक्ति को नित्य और रूपान्तरणीय मानती हैं ।

दोनों ही अवधारणाओं में स्थूल द्रव्यात्मक सृष्टि को शक्तिरूप ही देखा गया है । द्रव्य और शक्ति दोनों को दोनों में ही परस्पर रूपान्तरणीय देखा गया है । द्रव्यपरक कार्यकारिता या शक्तिपरक कार्यकारिता दोनों में ही क्रिया-कारित्वरूप से वैद्युतिक आंवेश (ions) को कार्यकारी देखा गया है । अन्तर इतना हैं कि आज के प्रतीक पुरातन व्यवहृत प्रतीकों-पदों से भिन्न हैं । वेद-मन्त्र अपने छन्दोबद्धरूप में वैज्ञानिक सत्य को छुपाये हुए हैं । इनकी व्याख्या संस्कृत-पदों की वैज्ञानिकि समझने पर ही सम्भव होती है । इस अर्थ में संस्कृत भाषा अन्य सब वैश्विक भाषाओं से अधिक वैज्ञानिक आधार पर विकसित माना गया है । वेद के मन्त्रों में वैज्ञानिक यथार्थों को साहित्यक छन्दों से आवरित देखा जा सकता है ।

शक्ति की शब्दगत (वाक्गत) अभिव्यक्ति और द्रव्यगत अभिंव्यक्ति का समन्वयात्मक विकास जहाँ स्वचालित प्राणिगत सृष्टि का विकास कर गया वहाँ सृष्टि के हर कण को कार्यशीलता का अधिकारी भी सिद्ध कर गया । सृष्टि का हर कण शक्तिगत रूप से कार्यकारी है । परमाणु के 'इलेक्ट्रॉन' अवयव को वैद्युतिक अवयव माना गया है ।

वैदिक विवरण में ऋचाओं के द्रष्टा (ऋषि) और सम्बद्ध देवता (कार्यकारी क्रियाशक्ति) के बाद छन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है । 'छन्द' छादनात् भाव से निष्पन्न है । 'छन्द', वस्तुतः, आभिव्यक्तिक ध्वनि को विशिष्टता, अर्थात् ऋक्, यजु, साम-रूप से उच्चारणीय रूप, प्रदान करता है । साथ ही अभिव्यक्ति को विचारात्मक गाम्भीर्य अर्थात् गागर में सागर भरने जैसा कारण भी प्रदान करता है । संस्कृत भाषा की वैज्ञानिकि को न जाननेवालों के द्वारा वेद-मन्त्र जङ्गलियों का प्रलाप ही समझा जाता है, किन्तु जानकारों के लिये वहाँ स्पष्टतः एक पूर्ण विकसित जीवन विज्ञान का साक्षात्कार प्राप्त होता है । प्रकारान्तर से वेद स्वयं अपनी इस स्थिति को इन शब्दों में व्यक्त करता है– उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ (ऋ० 10.71.4)

और इस ज्ञाता-विज्ञानी को ही मनुष्यरूप अर्थात् मनोरपत्यम् के रूप में देखा गया है। निरुक्त 'मनुष्यः' पद की निष्पन्नता को इस प्रकार स्पष्ट करता है– **मनुष्यः कस्मात्। मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति। मनस्यमानेन सृष्टाः। मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे। मनोरपत्यम्, मनुषो वा।** (नि० 3.2)।

अर्थात्, मनुष्य क्यों कहा जाता है ? मत्वा अर्थात् मति (मन्+क्तिन) अर्थात् बुद्धि-विवेक से कार्यों का निष्पादन करता है; अथवा विचारशील प्रजापति द्वारा विनिर्मित, विसृष्ट या विकसित है; अथवा 'मनु' या मनस् का अपत्य अर्थात् पुत्र होने से मनुष्य कहा गया।

वस्तुतः, यह मनुष्य ही क्रियाशक्ति की कार्यकारिता को देख-समझकर 'योग' और 'यज्ञ' (**कर्मशु कौशलम्**) के माध्यम से सृष्टि के विस्तार को समझ सकने में समर्थ है। यह मनुष्य **वाचः** अर्थात् वाणी या वाक् का द्रष्टा-ज्ञाता-वक्ता व्याख्याता है। ऋग्वेद (10.53.4) के इस सन्दर्भित मन्त्र में 'पञ्चजना' पद मनुष्य के लिये ही व्यवहृत हुआ है– **तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम। ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्॥** (ऋ० 10.53.4)

कार्यकरी मनुष्य-शरीर पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, तीन हजार तीन सौ उन्तालीस कार्यकारी क्रियाशक्तिरूपों एवं मनोरूप एक समन्वयक का आश्रय है। 'मनुष्य' अन्नाद अर्थात् ऊर्जाद है; ऊर्ज को अन्न कहा गया है। 'ऊर्जा' शक्ति है। वह यज्ञकर्ता है। अपने ऊर्जरूप में वही अग्नि है। यह 'अग्नि' ही 'होता' (ऋत्विज) है; यह अग्नि ही यज्ञकर्ता और यज्ञ है। यह कार्यकारी क्रियाशक्ति अपनी कार्यकारिता में सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपाद है। वह ज्ञातृ-कर्तृ और अभिव्यक्ति का साधन है। (ऋ० 10.52, 53, 90)

मन्त्रद्रष्टा ऋषि मन्त्ररूप देवता को मन्त्रगत क्रिया-कलाप के अनुरूप कारक के रूप में कार्यरत देखता है। कारकरूप शरीर के लिये 'गाय' और फिर 'अश्व-रूप' शरीर का चयन हुआ; किन्तु कार्यकारी क्रियाशक्ति के लिये ये शरीर सम्यक्रूप से उपयोगी नहीं थे। 'गाय' को ज्ञान का और 'अश्व' को गति एवं शरीर-बल का द्योतक माना गया है। सम्यक् कार्यकारी शरीर के लिये ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वय अपेक्षित था। फलतः पुरुष अर्थात् 'मानवरूप समन्वित व्यक्तिगत शरीर' का चयन स्पष्टतः सराहा गया– **पुरुषो वाव सुकृतम्**। (ऐतरेय उपनिषद् 1.2.3)।

'अग्नि' वाक्रूप से मुख में, 'वायु' प्राणरूप से नासिका-छिद्र में; 'आदित्य' चक्षुरूप से नेत्र-गोलकों में; दिशा के अभिमानी देवता 'श्रोत्र' कान (कर्ण)

में प्रविष्ट हुए अर्थात् अपना-अपना स्थान ग्रहण किया । औषधि और वनस्पति के अभिमानी देवता लोमरूप से त्वचा में; 'चन्द्रमा' मनरूप से हृदय में; 'मृत्यु' अपानवायुरूप से नाभि में; जल (आपः) के अभिमानी देवता वीर्यरूप (रेतः) से शिश्न में प्रविष्ट हुए । (ऐतरेय- 3, प० 1.2.4) ।

इस तरह मानव-व्यक्ति, वस्तुतः, कार्यकारी कारकरूप से कार्यकारी क्रियाशक्ति की कार्यकारिता का अर्थात् ज्ञान-कर्म अभिव्यक्ति का समन्वित साधन है । इस रूप में ही वह 'कार्यब्रह्म' अर्थात् कार्यविस्तारक ब्रह्म है । 'अभिव्यक्ति' कार्यविस्तार या व्याहृति का पर्याय है ।

कार्यविस्तार को तैत्तिरीय उपनिषद् ने अपने शिक्षा-प्रकरण (शिक्षा-वल्ली) में स्पष्टरूप से वर्णित किया है । पूर्व और उत्तर रूपों के समन्वयन में समन्वयक (संयोजक) की महत्ता को उदभासित करते उपनिषद् ने संधिरूप परिणाम को परिणामित होते देखा है । इस नियमन से ही उसने अधिलोक, अधिज्योति, अधिविद्या अधिप्रजन और अध्यात्म की विकसिति को देखा है । इनके ज्ञान से उसने लोक, ज्योति, पदार्थ (स्थूल), प्राण, करण, शरीरगत धातुओं की पंक्तियों को जाना तथा सृष्टि के पूर्ण विकास की व्याख्या दी है । (तैत्तिरीयोप० 1.7)

और, जैसा कि अन्यत्र भी देख चुके हैं उपनिषद् ने पदार्थों के दो मुख्य पांक्तों को पहचाना है– आधिभौतिक पंक्ति और आध्यात्मिक पंक्ति । उसके अनुसार इन दोनों की अपनी-अपनी त्रिविध पंक्तियाँ है । आधिभौतिक पंक्ति में लोक, ज्योति और पञ्चभौतिक स्थूल शरीर को रखा गया है । तथा, आध्यात्मिक पंक्ति में प्राण-समूह (पञ्च प्राण– प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान); करण-समुदाय (नेत्र, श्रोत, मन, वाणी और त्वचा); शरीरगत धातु-समुदाय (चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी और मज्जा) को । दोनों समूहों के बीच पारस्पकि घनिष्टता को देखते हुए उपनिषद् ने आध्यात्मिक शक्ति से भौतिक विकास और आधिभौतिक शक्ति से आध्यात्मिक शक्तियों की उन्नति कर लिये जाने की बात स्पष्ट की है ।

ऐसा करने में तीन आधिभौतिक पांक्तों के सदस्यों का सम्बन्ध तीन आध्यात्मिक पांक्तों के सदस्यों से दिखाया गया है । इस तरह छः समुदायों में से पहले का चौथे से, दूसरे का पाँचवें से और तीसरे का छठे से घनिष्टता के आधार पर समन्वयन होने की स्थिति कही गयी है । विकास का यह क्रमिक रूप जानकर ही ऋषि अपने कविरूप में यथार्थ को अभिव्यक्त कर पाया है ।

ऋग्वेद की यह पंक्ति– कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्यां कवयो मनीषा ॥ (ऋ० 10.129.4) इसका साक्ष्य है।

सिसृक्षां तत् के रूपान्तरण का कारण बनता है । सत्-असत् उसके इसी रूपान्तरण के परिणाम है । 'सिसृक्षा' कामरूप है । 'तत्' विशुद्ध मनोशक्ति है, जो आनीदवातं और स्वधया रूप से प्रसुप्ति अवस्था में है, कार्यशील नहीं है । 'काम' (सिसृक्षा) से उसमें रूपान्तरण की क्रिया प्रारम्भ होती है । प्रथमतः सत्-असत् में तत् का रूपान्तरण होता है । इस तरह सत्-असत् परस्पर के बन्धुत्व में एक-दूसरे के पूरक होते हैं । 'सत्' क्रिया के द्रव्यत्व का कारणरूप होता है; और 'असत्' क्रियात्व का कारणरूप । द्रव्यत्व के बिना क्रियात्व, अथवा क्रियात्व के बिना द्रव्यत्व या कारित्व, कार्यकारी नहीं होता । सत् या कारित्व अपने द्रव्यत्व के कारण क्रियात्व अर्थात् शुद्ध क्रिया में रूपान्तरणीय होता है । यही वह महाप्रलय की स्थिति होती है, जिस काल में द्रव्यत्व का सर्वथा अभाव होता है और काल-स्थिति (Time-space) बेमानी (Meaningless) हो जाते हैं । विशुद्ध अव्यक्त स्थिति के लिये काल-स्थिति का कोई अर्थ नहीं होता । उस समय वह कारण रूप ही होता है, कार्यरूप नहीं । कारणरूप कारित्व का अलग अस्तित्व नहीं होता, वह कारणरूप शुद्ध क्रियाशक्ति में उसी शुद्धता के साथ आत्मसातित हुआ रहता है । कारिंत्व भी महाप्रलय में क्रियात्वरूप से रूपान्तरित हुआ रहता है ।

इस तरह 'सत्' अपने कारित्वरूप में महाप्रलय का नहीं वरन् सृष्टि अर्थात् कार्यविस्तारक कार्य का विषय बनता है । असत् से सत् की बन्धुता को कवि-मनीषी ही देख या साक्षात् कर पाते हैं; और वह भी अपने हृदय में झाँक कर । ध्यातव्य है कि 'हृदय' को 'आत्मा' का स्थान मना गया है । साथ ही मध्यमा वाक् का स्थान भी हृदय ही है, जहाँ पश्यन्ती तथा वैखरी वाक् भी अपना-अपना अर्थ प्राप्त करते हैं । 'मनीषी', वस्तुतः, मननप्रधान होते हैं । 'कवि' द्रष्टारूप से 'ऋषि', मननशीलरूप से मनीषी और व्याख्याता रूप से 'कवि' होते हैं ।

वेदमन्त्रों का प्रकाशन ऋषि-दृष्ट, मनीषी-मनित और कवि-प्रस्तुत रूप में होता है । 'द्रष्टा' क्रिया को देखता है; मनीषी क्रिया के सब कार्य-कलापों को जानता है; कवि इनके यथार्थ परमार्थसत्य की अनुभूति करता और अनुभूतित का प्रकाशन करता है । कवि अध्यात्मरूप होता है । ब्रह्म कविरूप है ।

वेद-मन्त्रों की छन्दबन्धता संस्कृत के लिये अपेक्षित भी है और सहज भी। संस्कृत की समृद्धि आज की तथाकथित हिन्दी भाषा को प्राप्त नहीं; क्योंकि 'हिन्दी' अपने-आपमें मौलिक नहीं । इसमें 'संस्कृत' (तत्सम) शब्दों के आधिक्य के साथ संस्कृत शब्दों से विनिर्मित शब्द (तद्भव), और अन्य भाषाओं अर्थात् देशज और विदेशज का भी प्रचुर समावेश है ।

'छन्द' और 'अलङ्कार' विज्ञान की यथार्थता को आवरित कर रहस्यमय बना जाते हैं । साहित्य अपने 'शब्द' और 'अर्थ' के साहचर्य्य में छन्दमय रहस्य एवं अलङ्कारंमय लालित्य को पचा जाता है; किन्तु विज्ञान की यथार्थता को किसी भी तरह का आलङ्कारिक साहित्यिक आवरण भ्रमित कर जाता है । आज जो भी रचना साइन्स फिक्शनं के नाम पर प्रकाशित हो रही है, विद्यार्थियों को यथार्थता से अलग ले जा रही है । साहित्य धनी होकर विज्ञान को दयनीय बना जाता है । साइन्स (विज्ञान) के प्रति संशय का स्थान स्वयं साहित्य छोड़ जाता है ।

विज्ञान की भाषा यथार्थ सत्य को उद्‌भाषित करती है । वेदमन्त्र के शब्दविन्यास निश्चय ही अपनी छन्दोबद्धता में निश्चिति और अलङ्कारिता में भले सुगढ़ हों, परन्तु अर्थ में इतने रहस्यमय हैं कि वैज्ञानिक यथार्थ को भी अवैज्ञानिकों के द्वारा रहस्य के अंधेरे में फेंक दिया जाना सहज हो जाता है । ध्यातव्य है कि वेद-मन्त्र को छन्दबद्ध किये जाने का कारण था वैज्ञानिक तथ्यों को पारमार्थिक उपयोग के बदले स्वार्थपरक अथवा विनाशपरक उपयोग करने वालों से बचाना ।

वेद-मन्त्रों के अर्थ आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों तरह से निकाले जा सकते और निकाले गये हैं । सामान्य जन, जो आधिभौतिक अर्थ ही समझते हैं उन्हें वेदमन्त्र अनर्गल जङ्गलियों के प्रलाप ही नजर आते हैं; जो वैज्ञानिक वास्तविकता को जानने में अभिरुचि रखते हैं, वे वेद-मन्त्रों के आधिदैविक अर्थ तक जाते हैं; किन्तु वे जो वैज्ञानिक-दार्शनिक होते हैं तीनों अर्थों को देखते और जानते हैं। दार्शनिक विज्ञानी भी होते हैं । दार्शनिक जब तक विज्ञानी न हों वे परमार्थसत्य को नहीं देख सकते । ध्यातव्य है कि दार्शनिक सार्वरूप आत्मा के द्रष्टा होते हैं; मात्र व्यक्तिपरक आत्मा के ही नहीं । आत्मा अगर पञ्चकोषीय है तो वह सार्व और परम का ही द्योतक हो सकता है । 'आत्मा' प्राणमय शरीर अर्थात् स्वछन्द इन्द्रियों तक ही सीमित नहीं, वरन् मन की नियन्त्रिति में, संयमित प्राणमय इन्द्रियाँ मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय आत्म-विभागों से होती हुई परमात्मरूप धारण करती है । इस तरह आत्मा सार्वरूप से जहाँ व्यक्ति को अपने में आत्मसातित किये होती है, वहाँ वह स्वयं भी परमात्मरूप में आत्मसातित हुई होती है । स्वयं सृष्टि की कारणरूपा शक्ति कार्यमुक्त हो अपने-आप में सिमटी नहीं होती, वरन् अपने कार्यरूप में समवायरूप से व्याप्त होती है । ध्यातव्य है कि किसी भी कार्य का कारण शक्तिरूप ही होता है । शक्ति की अमूर्तता या अव्यक्तता उसे 'असत्य' या अभाविक या अनास्तित्विक नहीं बनाती । विज्ञाता दार्शनिक उसके अस्तित्व को देखते और उसका परमार्थसत्य के रूप में उपयोग करते हैं।

विडंवना है कि ऋग्वेद का 'साक्षात्कृत-धर्माण' ऋषि अपनी मन्त्रोक्ति में जहाँ इसे इन शब्दों में स्पष्ट करता है– **ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥** (1. 164.39) और **कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्यां कवयो मनीषा ॥** (10.129.4), वहाँ छान्दोग्य उपनिषद् का संशयग्रस्त तार्किक अपनी सामान्य लौकिक व्यावहारिकता में सत्-असत् से सच-झूठ का अर्थ लेकर वैज्ञानिकता अर्थात् कारित्वक्रिया-अर्थरूप को लोक-मानस से यह कहकर मिटा देता है– **कुतस्तु खलु सोम्यैवंस्यादिति हो वाच कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥**

यहाँ तार्किक ने आदिकारण को छोड़ सीधे आदिकार्य को ही महत्त्व दे दिया है । आदिकारण को जाने बिना वह क्या, कोई भी कार्य के विज्ञान को नहीं जान सकता । फलतः भारतीय मानस में स्थित शक्तिगत 'लौकिकता' को, ऋषि-दृष्टि से दूर हो, अलौकिकता के रहस्य में छिप जाना पड़ा । इस तरह जीवन का परमसत्य अलौकिक रहस्य बनकर रहस्यमय 'ईश्वर' की गोद में सो गया ।

'सत्त्व' 'सत्ता', या 'सत्य' का पूर्वरूप 'सत्' है, किन्तु उत्तररूप क्रमशः त्वत् (तु+अत्), 'तत्' और यत् है । उत्तररूप क्रियात्व अर्थात् 'असत्' का और पूर्वरूप सत् 'कारित्व' अर्थात् द्रव्यत्व (Materiality) का निरूपक है । बाद के समय में 'सत्-असत्' के इन कारणरूपों को छोड़कर सत्त्व, सत्ता और सत्य को 'सत्' से अभेदित मान लिया गया । तर्क यह दिया गया कि 'शक्ति' और 'शक्तिमान्' अभेदित है'। फलतः शास्त्रों ने अपने विवरणों में अपने-अपने विषयगत शक्तिमान्रूप कारक को ही नित्य मान कर उसकी व्याख्या की, उस शक्तिमान् के कारणरूपों और उनकी अद्वैतता की व्याख्या किसी ने नहीं की । आर्षेतर दर्शन-सम्प्रदायों ने 'असत्' को 'सत्' की माया सिद्ध कर दिया । किन्तु यह तो यथार्थ की अनभिज्ञता और प्रकारान्तरतः निहित स्वार्थसिद्धि की कहानी है । 'शक्ति' की निरपेक्षता शक्त के रूपान्तरणों में अभिव्यक्त होती है और सृष्टि-विस्तार का कारण बनती है– यह सत्य किसी भी तर्क से झुठलाया नहीं जा सकता । 'शक्त' कारित्व या द्रव्यत्व का निरूपक है ।

ऋषि-दृष्टि असत्यरूप 'असत्' को नहीं, वरन् क्रिया या क्रियात्वरूप 'असत्' को देखती है । यही कारण है कि 'ऋषि' को मन्त्रद्रष्टा, 'द्रष्टा' को 'क्रिया' का द्रष्टा, और मन्त्रद्रष्टा ऋषि को 'साक्षात्कृत-धर्माण' कहा गया है । और इसी तरह 'ऋषि' को स्वयं 'धर्मरूप' (धृ+मन्=धर्म) देखा गया है । निश्चय ही ये ऋषि अपने-आपमें 'धृत मन' रूप से धर्मरूप थे । इन धर्मरूप ऋषियों की दृष्टि, क्रिया

का दर्शक होने के कारण क्रिया-दृष्टि भी कही जा सकती है। ध्यातव्य है कि क्रिया ही क्रिया को देख सकती है; कार्य अपने कारणरूप 'क्रिया' को नहीं देख पाता। इसे देखने के लिये उसे अपने अन्तस्थल में क्रियारूप बनना पड़ता है। यही कारण है कि ऋषि ने सृष्टि के कारणरूप क्रियाशक्ति को मनोरूप देखा है। मन ज्ञातृ और कर्तृ दोनों का कारण है।

कामस्तदग्रे समवर्ततताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

और ऋषियों ने इस कार्यकारी कारणरूपी 'मन' को भी महाप्रलय में शक्ति-शक्त रूप में टूटते और स्वयं 'शक्त' को भी शक्तिरूप में रूपान्तरित और विशुद्ध शक्तिरूप में ही आत्मसातित होते देखा है।

इस तरह ऋषि-दृष्टि में जैसे 'शक्ति' का स्रष्टृरूप द्रव्यात्मक रूपान्तरण की ओर विकासात्मक होता है, वैसे ही महाप्रलय के समय सृष्टि को द्रव्यात्मक रूप से अपने कारणरूप, शक्त्यात्मक रूपान्तरण की ओर विकासोन्मुख होना होता है। विकास के इन रूपान्तरणों को क्रमशः सृष्टि-काल और महाप्रलय काल के रूप में पहचान दी गयी है। शक्ति के द्रव्यात्मक कार्यकारी रूपान्तरण को व्याहृति या अभिव्यक्ति के रूप में देखा गया है। इस तरह सृष्टि को मूल या विशुद्ध क्रिया शक्ति का द्रव्यात्मक विकास और द्रव्यात्मक सृष्टि के शक्त्यात्मक विकास को महाप्रलय के रूप में देखा गया है। रूपान्तरण विकास का कारण है, विनाश का नहीं। यही कारण है कि आर्ष दर्शन में जन्म-मृत्यु की अवधारणा, वस्तुतः, रूपान्तरण या वस्त्र-परिवर्तन की अवधारणा में समाहित है। 'कारण' कार्य में और 'कार्य' कारण में रूपान्तरित होते हुए विकासात्मक रूप में कार्यकारी होते हैं। गीता के श्रीकृष्णरूप परमब्रह्म (कारणरूप मूलशक्ति) ने वासांसि जिर्णानि कहकर इसे ही सम्पुष्ट किया है।

और, ऋग्वेदीय मन्त्रोक्ति भी आभिव्यक्तिक 'वाक्रूप' को शक्ति के स्थूल कार्यकारी-कार्यविस्तारकरूप में एक विकासात्मक रूपान्तरण ही मानती है।

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।"

कारणरूप शक्ति का वाक्रूप विकास या अभिव्यक्ति चार स्तरों में होती है– 'परा', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' और 'वैखरी'। 'परा' मूलाधारस्थित प्राणशक्ति (शुद्ध क्रियाशक्ति) के जागरण और कार्यकारी रूप से उत्थित होने की स्थिति है; पश्यन्ती नाभिस्थित प्राणवायु के परावाक्शक्ति से उद्दीपित होने के कारण कार्यशील होने की स्थिति है; 'मध्यमा' हृदयस्थ प्राणवायु द्वारा अर्थीकरण और रूपात्मक रूप से आगे कण्ठ और मुखस्थित प्राणवायु द्वारा निर्गत होने की स्थिति है। यह शक्ति

ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि यम अथवा मातरिश्वान् (वायु) रूप में कार्यकारी होती है । कार्यकारी क्रियाशक्ति को ही देवता कहते हैं । कार्य का निष्पादन इन्हीं देवशक्तियों की क्रियाशीलता में होता है । शब्द का धातुरूप क्रिया अर्थात् शक्ति का रूप कहा गया है । धातु की पूर्णता पूरक क्रियाशक्ति (कारित्व) से होती है । कारित्व धातु के रूपधारण का कारण है । वस्तुतः, धातु और प्रत्यय या कारित्व दोनों ही क्रियारूप है । जो 'द्रव्यत्व का निरूपक होता है वह सत् या कारित्वरूप होती है ।

'कवि' सृष्टिरूप में निहित सब शक्तिगत स्थितियों का द्रष्टा-व्याख्याता है । फलतः वह परमार्थसत्य से अनभिज्ञ नहीं । आज जबकि 'धृ+मन्' रूप धर्म-दृष्टि का सर्वथा अभाव हो गया है, परमार्थसत्य भी अब दृष्ट नहीं रह गया है । ऋषि इसे 'योग' और 'यज्ञ' के रूप में देखते थे । आज जबकि ऋषि नहीं रहे, 'योग' और 'यज्ञ' भी अपनी मौलिक स्थिति (कर्मशु कौशलम्) खो चुके हैं। फिर तो ऐसे में ही 'कर्म' और 'ज्ञान' दोनों ही एक-दूसरे से अलग हो अनर्गल संशय के चक्रव्यूह में फँस गये हैं । इन्द्रियाँ व्यक्ति-मन की निष्पक्षता को धृ+मन्-रूप धर्म के अभाव में खो देती हैं; और, 'आचाररूप धर्म' भी आचार-ज्ञान के अभाव में व्यक्ति-मन को पूर्णतः संशय में डाल देता है । "जिस झूठ से किसी की जान बचायी जा सके, वह उस सत्य से अच्छा है, जिसके प्रकट होने से उस व्यक्ति की जान जाती हो" —जैसे कथन, वस्तुतः, आचार को परमार्थसत्य के साथ रहने नहीं देते ।

आज विज्ञान की अलग भाषा है । आर्ष विज्ञान में भी कुछ ऐसा ही था। व्यावहारिक या लोक भाषा में शब्द अपने रूप में ही नहीं, वरन् अर्थ में भी अपभ्रंशन का शिकार होते रहते हैं । ऐसी स्थिति में किसी भी शास्त्र या विज्ञान को अपनी-अपनी भाषा सुनिश्चित करनी पड़ती है । किन्तु, शास्त्र चूँकि 'जीवन' से सन्दर्भित होते हैं इनका स्वभाव परस्पर अभेद का ही होता है या होना चाहिए । स्पष्ट है शास्त्र के विशिष्ट शब्द जीवन से सन्दर्भित होने चाहिए, मात्र विषयगत शास्त्र के लिये नहीं । ऐसा होने से भ्रम का अवसर नहीं आता ।

'कवि' जीवन से सन्दर्भित विषयों से अलग नहीं होता । संवेदना जीवनगत होती है । इसलिए यह मात्र व्यक्तिपरक नहीं होता । वस्तुतः, पारस्परिक अनुभवों का आपस में सहभागी बनकर ही परमार्थसत्य का लाभ लिया जा सकता है ।

'व्यवहार' या 'आचार' विचार और उच्चार से अलग नहीं हो सकता । आज सिद्धान्त या नियम से अलग होकर आचार ने अपनी विश्वसनीयता को ही खो दिया है । राजनीति ने इसे इसमें अपना सहयोग ही दिया है ।

'कवि' ऋषि होता है । ऋषि द्रष्टा और विज्ञानी होता है । इस तरह 'कवि' अपने-आपमें दार्शनिक, विज्ञानी और साहित्यकार है । ऋषि 'प्रमा' का उपासक और वह अपने विचारों और वृत्तियों में सकारात्मक है, न-कारात्मक नहीं ।

नकारात्मक मनोवृत्ति तो रोगग्रस्तता का निरूपक है । आयुर्वेद का विज्ञाता ऋषि-कवि जीवन को सकारात्मक रूप से देखता है । उसका संशय भी उसकी सकारात्मक पुष्टि के लिये ही होता है । ऋग्वेदीय नासदीय सूक्त का यह सांशयिक प्रश्न **अङ्ग वेद यदि वा न वेद** भी सकारात्मक उत्तर के लिये ही है; क्योंकि 'कारण' अपने 'कार्य' को तो जानता ही है ।

ऋषि की सकारात्मकता उसे एक लम्बे सकारात्मक जीवन जीने को प्रेरित करती है । वह अपने पुत्र को भी सौ वर्षों तक जीने का आशीर्वाद देता है– **ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।** (ईशावास्योप० 1 एवं 2) और, **अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे । आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥** (श० 14.9.4.26)

ऋग्वेदीय कतिपय सूक्तों के देवता 'पवमान' और 'सोम' हैं (नवम् मण्डल) । इन सूक्तों में से कुछ के ऋषि 'कवि' हैं । (सूक्त 75 से 79) । अन्य ऋषियों में उशना भी है । यहाँ मुझे गीता के उस श्लोक की स्वतः याद आ रही है, जिसमें श्रीकृष्ण ने अपने को कवियों में 'उशना' का रूप माना है । **वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः । मुनीनामप्यहं व्यासः कविनामुशना कविः ॥** (गीता- 10.37)

वस्तुतः, 'कवि' बहुश्रुत-बहुशास्त्रविद्, क्रान्तदर्शी और निश्चितदर्शी है । वह 'जीवन' के सर्वाङ्गरूप का द्रष्टा, ज्ञाता और व्याख्याता है । 'उशना' ऐसे ही कवि हैं । 'उशना' आचार्य शुक्र (शुक्राचार्य) को कहा जाता है । ये शुक्राचार्य ब्रह्मज्ञानी थे और राजा पृथु के पुरोहित (पुरोधा) बने थे । (महा०, शा० प०; 59.110) ।

ब्रह्मज्ञ महर्षियों (ब्रह्मवादिभिः) का राजा 'पृथु' को अनुदेश था– **प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु । कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः ॥** अर्थात् "प्रिय और अप्रिय का विचार छोड़कर काम, क्रोध, लोभ और मान को दूर हटाकर समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखें ।" (वही, 104)

और यह 'समभाव' तब तक सम्भव नहीं जबतक कि विविधतापूर्ण यह सृष्टि किसी एक की ही विकसिति सिद्ध न हो । ऋषि ने उस एक को 'मनोरूप शक्ति' कहा है । सम्पूर्ण सृष्टि उस अद्वैत की ही विकसिति है । इसलिये आर्ष-दृष्टि में वैयक्तिक प्रिय-अप्रिय का विचार अमान्य है । राजा को देवताओं और महर्षियों का सर्वप्रियता का यही उपदेश है।

कवि समष्टि में व्यष्टि को और व्यष्टि में समष्टि को देखता है । समष्टि और व्यष्टि का यह अभेद किसी एक शास्त्र के ज्ञान से स्पष्ट नहीं होता; क्योंकि कोई भी शास्त्र, क्रियैकदेशबोधिनी ही सिद्ध होता है । एक ब्रह्मविद् ही समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होता है; क्योंकि उसकी दृष्टि स्वयं क्रियाशक्ति की ही विकसिति होती है। क्रिया के द्रष्टा के समक्ष कुछ भी रहस्यमयमय नहीं रह पाता ।

'कवि' नामक ऋषि 'पवमान' और 'सोम'-रूप देवताओं का द्रष्टा-ज्ञाता-उपासक है । 'पवमान' एक लौकिकाग्नि है, जिसे कवियों ने निर्मथ्य अग्नि माना है । विभिन्न पुराणों ने इसे गार्हपत्य अग्नि के रूप में देखा है । इसे यज्ञमीमांसा के अनुसार ज्योतिष्टोम यज्ञ में पढ़ा जानेवाला एक स्तोत्रविशेष के रूप में स्वीकार किया गया है । 'पवमान' को अग्नि का स्वाहा से उत्पन्न पुत्र भी माना गया हे । 'पवमान' से सन्दर्भित ऋग्वेदीय मन्त्र का पाठन जलाशय खोदने के समय होता है । मत्स्यपुराण के अनुसार नये तालाब के निर्माण में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है । (पौराणिक कोशः राणा प्रसाद शर्मा) ।

'सोम' को सर्वशक्तिशाली सर्वरोगनाशक, अतुल सम्पत्तिदायक आदि कई गुणों से विभूषित किया गया है । चन्द्रमा को सोमरूप देखा गया है । पुराणानुसार चन्द्रमा में अमृत है । शुक्लपक्ष में चन्द्रमा कला-कला बढ़ता है और कृष्णपक्ष में एक-एक कला करके देवता लोग पन्द्रह कला तो पी जाते हैं; सोलहवीं कला अमावास्या को जल और औषधियों में प्रवेश कर जाती है । इन्हीं वनस्पतियों के खाने तथा जल पीने से गऊ आदि पशुओं में दूध उत्पन्न होता है । फिर, सूर्य के तेज को भी 'कला' कहा गया और इसकी संख्या बारह मानी गयी है– तपिनी, तापिनी, धूम्रा, मरीचि, ज्वालिनी, रुचि सुषुम्णा, भोगदा, विश्वा, बोधिनी, धारिणी और क्षमा ।

कला को अग्निमण्डल के दस भागों में से एक भाग के रूप में भी देखा गया है । ये दस भाग हैं; धूर्मा, अर्चि, उष्मा, ज्वालनी, ज्वालिनी, विस्फुल्लिंगिनी, श्री, सुरूपा, कपिला और कला । 'कला' को सोलह स्वरशक्तियों में से एक स्वरशक्ति के रूप में देखा गया है । (पौराणिककोशः राणा प्रसाद शर्मा ।)

इस तरह 'पवमान' को हम जलरूप में तथा 'सोम' को अग्निरूप में देख सकते हैं आधुनिक विज्ञान भी सृष्टि-रचना में इनके (जल और अग्नि) महत्त्व को अच्छी तरह जानता है ।

वस्तुतः, ऋग्वेदीय 'कवि' शक्ति के हर रूप का द्रष्टा ज्ञाता और व्याख्याता है । वे ब्रह्मविद् हैं, फलतः पूरी सृष्टि को और शक्ति की सब कार्यकारी अभिव्यक्तियों– लोक, ज्योति, वेद, प्राण आदि के रूप में से वैयक्तिक रूप को भी

अद्वैत शक्ति के रूप में ही देखते हुए सब को समभाव से देख सकने में समर्थ हैं। वस्तुतः, लोक, ज्योति, वेद और प्राण इन सबों के समष्टिरूप का नाम ही व्यक्तिरूप 'मानव' है । कवि इसी मानवरूप पुरुष का द्रष्टा-ज्ञाता है । कवि की दृष्टि क्रियादृष्टि है । और, मानवरूप क्रियापुरुष सृष्टि का कार्यकारी पुरुष है । मानवरूप आत्मपुरुष (सार्वरूप) शक्त्यात्मक; और, द्रव्यात्मरूप से वही व्यक्तिमानव है । पहला अर्थात् शक्त्यात्मक मानव मन-मानवरूप से कारणब्रह्म है और व्यक्तिरूप कार्यकारी मानव या मनुष्यजा कार्यब्रह्म है । कारण और कार्य का समन्वय ही मानव का प्राणवान् अस्तित्व है । कवि इसी का व्याख्याता है । वह परमार्थसत्य का द्रष्टा है । 'क़वि' सत्यधर्मा है, इसलिये वह सत्यद्रष्टा भी है । भामह जिस सार्व-सर्वज्ञ की स्तुति करते हैं वह यही मन-मानव है ।

ऋग्वेद ने 'सविता' को कविरूप देखा, और उसे सतत गमनशील तथा समस्त प्रज्ञानों का मुक्तिदाता माना है– **विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे । वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति ॥** (ऋ० 5.81.2)

यहाँ 'कवि' शब्द से 'मेधा-शक्ति को बढ़ाने वला' या "नित्य ही गमनशील है जो" का अर्थ लिया गया है । उससे किसी भी पदार्थ का स्वरूप अज्ञात नहीं रहता । सविता की तुलना यहाँ 'कवि' से की गयी है । **विश्वा रूपाणि** का अर्थ **सर्वाणि प्रज्ञानानि** अर्थात् 'समस्त प्रज्ञान' से किया गया है । **प्रासावीत्** पद से प्रेरणा का अर्थ मिलता है ।

मन्त्रार्थ है– "कवि समस्त 'प्रज्ञान प्रतिमुक्त' अर्थात् न दीखनेवाले पदार्थ-स्वरूपों को भी देखता-जानता है । सविता देवता सभी द्विपाद और चुष्पाद अर्थात् सबों को उनके कर्तव्य कर्म को करने के लिये प्रेरित करता है । यह सवितारूप आदित्य द्युलोक को प्रकाशित करता है । उषा के प्रयाण करने के बाद विशेषरूप से दीप्त हो उठता है ।

स्पष्ट है कि काव्य का प्रयास यथार्थ अर्थात् किसी भी वास्तविक रूप को उसकी पूर्णता में स्पष्टरूप से प्रकाशित करना होता है ।

कहते हैं 'कवि' प्राण के पुत्र और शुक्राचार्य के पिता हैं (भाग० 4.1.45) । स्पष्ट है कि कविता आत्मा की वह अभिव्यक्ति है, जो परमार्थसत्य का द्योतन करती है । अपनी नित्यगमनशीलता में कविता प्रवाहमय है और **विश्वारूपाणि** के अर्थ से प्रज्ञानमय तथा **प्रासावित्** के अर्थ से प्रेरणार्थक । उषा के जाते ही सूर्य का रूप सवितारूप होता है, जिसमें प्राणियों के लिये जागरण और कर्तव्य कर्म में लगने की प्रेरणा होती है । यह शिवरूप होने से कल्याणमयता का निरूपक है । इस

तरह कवि शुभ का द्रष्टा-ज्ञाता-प्रवक्ता होता है । उसकी अभिव्यक्ति निरुद्देश्य नहीं वरन् सच्चिदानन्दरूप परमार्थसत्य के प्रकाशन में है । वेद-मन्त्र इस रूप में ही काव्यमय हैं; चाहे वे पद्यात्मक हों या गद्यात्मक ।

'पद्य' और 'गद्य', वस्तुतः, अभिव्यक्ति के साधन हैं । पद्य (पद्+यत्) चार चरणों या पादों में कथ्य को अभिव्यक्त करता है । ये चारों पाद एक दूसरे से विषय-आबद्ध होते हुए कथ्य को प्रवहमान रूप से व्यक्त करते हैं । इसमें कवि की स्वतन्त्रता नहीं होती, वरन् विचारों की क्रमिकता एवं भाषा-विज्ञान का नियमन रहता है ।

ऐसी स्थिति में मम्मटाचार्यविरचित "काव्यप्रकाशः" की ये पंक्तियाँ **नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् । नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥** (काव्य प्रकाशः प्रथम उल्लास श्लो० 1 एवं 2)

हमें राजदरबार के राजकवियों, चारणों और भाटों की याद के साथ वीररस, हास्यरस, विभत्सरस और शृङ्गाररस की कविताओं और गीतों की याद दिला जाती है । ये राजाओं की विरुदावलियों के रूप में रचित और गेय थे । भक्ति-मार्ग के उद्‌भव के साथ ये विरुदावलियाँ राजा के साथ ईश्वर के लिये भी होने लगी । संवेदनाओं का दोहन राजा के प्रति था; क्योंकि राजा को या तो ईश्वर कहा जाता था या ईश्वर का प्रतिनिधि । राजा का एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य था, राज्यविस्तार । राज्यविस्तार के नामपर या राज्य रक्षा के नामपर राष्ट्रवाद की जड़ इतनी मजबूत होती गयी कि महाभारत (शान्ति पर्व) में वर्णित **न वै राज्यं न राजाऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः**--की राजनीतिक स्थिति फिर कभी नहीं लौटी; क्योंकि तब लौटने की जड़– **धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्** –के 'धर्म' का रूप ही बदल गया था। अब 'धर्म' प्रजारञ्जन के नाम पर स्वयं राजा के अधीन कर दिया गया था । आज भी राजा धर्माधिकरी है; और किसी-न-किसी रूप में धर्म को वह अपनी सत्ता की रक्षा में व्यवहार करता आ रहा है । **दमो धर्मः सनातनः** रूप धर्म के सार्वजनिक रूप को बदला जाकर **आचारः परमो धर्मः** के अर्थ में 'धर्म' को परिभाषित और प्रचारित किया गया । राज्य-संचालन के नाम पर कर्माधारित वर्ण-परिवर्तन तो बिल्कुल नहीं हो सकता था, किन्तु आचारिक धर्मपरिवर्तन सामान्य बात थी । कहते हैं विश्व में राज्यविस्तारक युद्ध में जितने व्यक्ति नहीं मरे, उससे कहीं अधिक धर्म के नाम पर हुए युद्ध में लोग मारे गये, और मारे जा रहे हैं ।

सब शास्त्र अपनी जड़ वेदों में ही मानते हैं, परन्तु वे मात्र अपनी प्रामाणिकता के लिये ही ऐसा करते हैं । वस्तुतः, 'जीवन' का द्रष्टा-ज्ञाता वेद सांशयिक तर्क के अधीन होकर अपने बदलते स्वरूप को देखने को मजबूर था। वस्तुतः, दमो धर्मः सनातनः पर आधारित वैदिक या आर्ष दर्शन किसी व्यक्तिवादी राजा के लिये अनुकूल राजधर्म या राज दर्शन नहीं हो सकता था । आर्ष दर्शन में पायी जानेवाली ऋषि की निर्लोभता इस राजधर्म में नहीं बनी रह सकती थी। अभिव्यक्ति के सब साधन राज्याधिकार के क्षेत्र में थे और वे राजा के ही अनुकूल हो सकते थे । 'प्रजा' राजा के लिये आय (income) का स्रोत थी । पुरुषार्थ की आर्षेय अवधारणा राज्यपरक रूप धारण कर चुकी थी; (धृ+मन्) रूप 'धर्म' अब 'आचारपरक' हो चुका था; 'अर्थ' अपना पारिणामिक कार्यपरक सृष्टि का 'अर्थ' छोड़कर 'धन' का अर्थ ले चुका था; 'काम' 'सिसृक्षा' का अर्थ छोड़कर 'वासना' या भोग का अर्थ ले चुका था; और मोक्ष 'सफलता प्राप्ति के आनन्द' का अर्थ छोड़कर मृत्यु-वरण का अर्थ ले चुका था । और, व्यक्ति को अपना पुरुषार्थ नियति के हाथ सौंप कर 'परमार्थ हेतु (दूसरों के लिये) अपना जीवन तक छोड़ने' का उपदेश दिया जा चुका था । 'निष्काम' को नहीं, 'सन्तोष' को महत्त्व देने का उपदेश उसे दिया गया । और सब से महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि परतम कार्यकरी तत्त्व को 'सगुणता' प्रदान करने के लिये 'सत्' रूप द्रव्यत्व शक्ति को ही 'सत्त्व' या 'सत्य' या 'सत्ता' रूप सृष्टिकारी तत्त्व अर्थात् स्रष्टा मान लिया गया था, 'असत्' की अव्यक्तता को अनास्तित्विक कहकर उसे असत्य बनाया जा चुका था । ऐसा करते हुए कारण-कार्य की परतम अवस्था की स्पष्ट व्याख्या की अनदेखी करते हुए, उसे रहस्यमय बना दिया गया । उस रहस्यमय परतम शक्ति को राजा में आरोपित कर तथाकथित धर्माधिकारियों के द्वारा मनुष्य को मनुष्य का ही दास बना दिया गया । पाश्चात्य दर्शन में जहाँ धर्माधिकारी 'पोप' का पद सर्वशक्तिमान् सिद्ध हुआ, वहाँ प्राच्य दर्शन में राज्य के राजपुरोहित का पद शक्तिशाली बन गया ।

राजा, जो अपने आदिसंस्करण में प्रजा-रञ्चक था, अब स्वयं राजनीति की विशात पर एक मोहरामात्र रह गया । राजपुरोहित को राजा बनते देर नहीं लगी । कवि, जो कभी सर्वज्ञ था अब राजकवि होकर उसे चारण और भाट का रूप भी धारण करते भी कुछ संकोच न हुआ । ऋग्वेद के 'तत्' अथवा सत्-असत् अब बेमानी हो चुके थे । विज्ञानमय वेद को धर्मग्रन्थ (आचारिक) कहकर राजपुरोहित वर्ग ने सामान्यजन के अध्ययन के लिये प्रतिबन्धित कर दिया । क्षत्रिय, वैश्य अपने-अपने व्यवसायों में लगे होने के कारण वेदाध्ययन से दूर हुए और अधिसंख्य शूद्रों को पुरोहितों ने वेदाध्ययन से वंचित कर दिया । 'अज्ञान' का विस्तार शासक के लिये अनिवार्य हो गया; क्योंकि 'ज्ञान' उसके लिये समस्या खड़ी कर सकता था, करता था ।

आज सार्व की व्याख्या के प्रति कोई उत्सुक नहीं; व्यक्ति तक ही सीमित रह कर हर कोई व्यक्ति को ही प्रश्रय दे रहा है । 'व्यक्ति' ही ब्रह्माण्ड में कार्यकारी इकाई है, इसलिये व्यक्ति के विकास पर ही जोर दिया जा रहा है । विडंबना है अमेरिकी दर्शन ने अस्तित्ववाद के रूप में व्यक्ति को ही 'आत्मा' और 'मानव' का पद दिया और वहाँ का व्यक्ति ही सबसे अधिक असन्तुष्ट हुआ । आज के मशीनी युग में व्यक्ति का अस्तित्व भी खतरे में है । मशीन के साथ व्यक्ति भी मशीन नहीं बने तो उसका अस्तित्व वैसे ही समाप्त हो जाय । स्वयं मशीन भी आज अपने ईंधनों के विनाशकारी पारिणामिक रूप से प्रभावित होती हुई इस जागतिक सृष्टि की समाप्ति का कारण बन रही है ।

आर्ष दर्शन ने जिस सृष्टि को शक्तिगतरूप में देखा था क्या वह आज अपने रूपान्तरणों में अपनी द्रव्यात्मकता से शक्त्यात्मकता की ओर जा रही है ? अगर ऐसा है तो द्रव्यात्मक सृष्टि को अभी और कुछ दूर ले जाने अर्थात् शक्ति को अभी द्रव्यात्मक स्थिति में ही रखने के लिये उसके ही अनुकूल वातावरण (Circumstances) को बनाये रखना पड़ेगा । ध्यातव्य है कि द्रव्यात्मक अर्थात् मनोविकास के लिये अपेक्षित वातावरण अर्थात् शक्ति की विशिष्ट शक्त्यात्मक स्थिति की कार्यकारी स्थिति को बनाये रखना होगा ।

राजनीतिज्ञों की मनमानी और विज्ञानियों की राजनीतिक गुलामी ने जहाँ व्यक्तिवादी दर्शन को प्रश्रय दिया है, वहाँ समष्टि को विनाश की ओर ढकेला है । तदर्थ (ad hoc) राजनीति, 'सत्' रूप अपूर्ण सत्य का विज्ञान अर्थात् परमार्थसत्य से अनभिज्ञ विज्ञान और दर्शन, तथा समष्टि की स-हितता से अनभिज्ञ साहित्य ने निश्चय ही आज सार्व की जागतिक सृष्टि को विघटन के मार्ग पर ला खड़ा किया है ।

आज भी सँभला जा सकता है शर्त यह है कि राजनीति अपने को हर स्तर पर दमो धर्मः रूप 'धर्म' की आँखों से परमार्थसत्य को देखे और उसे मनसा-वाचा-कर्मणा व्यवहार में लाये । क्रिया-कारित्व रूप 'असत्-सत्' को देखते हुए कारणजगत् और कार्यजगत् दोनों को पहचान कर उसका निष्काम भाव से उपभोग करे । शक्ति का उपभोग शक्ति की आभ्युदयिक वृद्धि में करे, विघटनात्मक या विनाशक-वृद्धि में नहीं । ऐसे में आवश्यकता है आर्षेय कवित्व को जानने और अपनाने की ।

'कवि', वस्तुतः, ज्ञान-कर्म दोनों का प्रत्यक्ष द्रष्टा और उनकी समन्विति के फलाफल का द्रष्टा-ज्ञाता है । क्रिया अर्थात् शक्ति का द्रष्टा ज्ञाता-विज्ञाता ही दार्शनिक अर्थात् निश्चितदर्शी हो सकता है; और एक निश्चितदर्शी ही साहित्यकार हो सकता है । कविता या साहित्य की रचना, वस्तुतः, व्यक्ति की ही विज्ञता अर्थात्

आनुभूतिक साक्षात्कारिता और प्रात्यक्षिक परमार्थसत्य की मनसा-वाचा-कर्मणा अभिव्यक्ति है। वेद-मन्त्र इसके ही साक्ष्य हैं। यहाँ, 'व्यक्ति' अपने-आपमें मात्र कार्यकारी शरीर ही नहीं, वरन् मनोपुरुष भी है; वह वाक्देवता भी है और फिर दोनों की समन्विति की कार्यकारी समष्टि भी। वह ऋषि है। अपने इस रूप में वह दानव-देव-मानव सब का द्रष्टा, ज्ञाता और प्रवक्ता है। वह अपने-आपमें अध्यात्मदेव का द्रष्टा-ज्ञाता अध्यात्मपुरुष है।

कवि अगर स्रष्टा है तो वह सृष्टिरूप रचना की स्रष्टृशक्ति से भिन्न नहीं। 'पद्य' साहित्य की सूत्रात्मक और गद्य व्याख्यात्मक अभिव्यक्ति है। छन्द पदों को बाँधते तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति को सूत्रात्मक बनाते हैं। यह बन्धन विचारों की क्रमिकता को मणिमाल-सा बनाये रखता है। यहाँ व्याख्या सूत्रवत्, विचारों का प्रवाह सलिलवत्, और अभिव्यक्ति शास्त्रीय किनारों की सीमा में नदी-धार सी प्रवाहित होती है। गद्य भी शास्त्रों की सीमा में ही विचाररूप प्रवाह है। संस्कृत में गद्य काव्य की भी अपनी प्रशस्ति है।

क्या व्यक्ति शास्त्र-ज्ञान के बिना साहित्य की रचना नहीं कर सकता है? वस्तुतः, शास्त्रज्ञान उन्मुक्त विचार-प्रेषण की सहज प्रक्रिया को बाधित नहीं करता, वरन् विचार-सम्प्रेषण को सुखद बना देता है। विद्वत्ता और वाग्मिता विचार-प्रेषण को स्पष्टता देती है। पर विदग्धता हृदतंत्री को झकझोरती हुई जीवन की सहज अभिव्यक्ति तक हमें पहुँचा देती है।

नाट्य अपने-आपमें काव्य है। इसे दृश्यकाव्य कहा गया है। इसी तरह जब हम अपने सम्भाषणों में एक-दूसरे से विमर्श करते हैं, तब हमारे विचारप्रवाह यथार्थक होते हैं। यथार्थ की अभिव्यक्ति में अलङ्करण, छन्दबद्धता, रसमयता का सर्वथा अभाव नहीं होता; किन्तु विचार-प्रवाह में प्रभावकारी वाग्मिता और 'विदग्धता' का भरपूर निवास होता है। वहाँ चाटुकारिता नहीं होती; वहाँ हास-परिहास नहीं होता; वहाँ व्यङ्ग्वाण नहीं चलते; वहाँ किसी को नीचा नहीं दिखाया जाता; वहाँ मात्र निश्चितता का प्रदर्शन होना होता है। वस्तुतः, रसाधिक्य का प्रदर्शन सब बुराइयों की जड़ हो जाता है। वीरता की उत्तेजना, विभत्सता की घृणा, शृंगार की कामवासना, हास्य का भौण्डापन और व्यङ्ग की कटाक्षता जीवन को दुरूह कर देती है। ये सब चोंचले राज-दरवार के अङ्ग हैं, सामाजिक अभ्युदय के नहीं। ये किसी भी धर्म के अङ्ग नहीं; किसी भी दर्शन और विज्ञान के अङ्ग नहीं। फिर, साहित्य के ही अङ्ग क्यों? वेद इन्हीं अतियों से दूर रहकर सत्य-साहित्यरूप से आज भी जीवित है, भले ही आज हम उसके महत्त्व से अनभिज्ञ क्यों न हों।

वेद ने अपने छन्दों में जीवन की निश्चिति को बाँध रखा है; उसके अलङ्कार उसकी निश्चिति को स्पष्ट करते हैं। स्तुति उस कारणशक्ति के प्रति होती है, जो कार्य को पारमार्थिक बनाती है। वेद-मन्त्र विज्ञान को अपने आधिभौतिक अर्थों में छिपाये होते हैं; क्योंकि भौतिकता को अगर आधिदैविकता का अर्थ-बोध प्राप्त हो जाय तो वह अपनी भौतिकता की सन्तुष्टि के लिये दैविकता का दुरुपयोग ही करेगी। भौतिकता ऐन्द्रियक सन्तुष्टि तक ही सीमित रहती है। इसलिये वह 'असुर' पद से संज्ञापित होती है। 'सुर' अर्थात् देवता मानव का पक्ष लेते तथा आसुरी वृत्ति का विरोध करते हैं। मानव ही अपनी विवेचक शक्ति से अधिभूत और अधिदैव के समन्वय से विकसित अध्यात्म के सार्व और परम अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याण की बात सोच सकता है और उसे पूर्ण कर सकता है। यही कारण है कि 'धर्म' को मात्र मानव अर्थात् मननशीलता और कर्मानुभव की समन्विति का विषय माना गया है। **धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेणहीनाः पशुभिः समाना।**

मननशील मानव जब मन और इन्द्रियों से संयमित होता है, जब उसका अन्तःकरण मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त की एकाग्रता में होता है तब वह स्वयं धर्मरूप होता है।

गीता के श्रीकृष्ण ने अपने को उस परब्रह्मरूप शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसे न तो मात्र अधिभूत और न ही मात्र अधिदैवरूप से जाना जा सकता है। उसे तो अध्यात्म अर्थात् अधिभौत और अधिदैव के समन्वयन में ही मननशील मानव द्वारा देखा, जाना और अपनाया जा सकता है।

श्रीकृष्ण का स्वभाव अध्यात्मरूप है; और, उस अध्यात्म का ज्ञान अध्यात्मविद्या द्वारा ही हो सकता है। और, यह अध्यात्मविद्या भी श्रीकृष्ण ही हैं। मनुष्य अपने अधिभूतरूप शरीर और अधिपदैवरूप मनस् के धृ+मन् रूप में अर्थात् धर्मसम्पृक्त समन्विति में स्वयं को अध्यात्ममय बना पाता है। यह आध्यात्मिक मानव ही श्रीकृष्ण रूप परब्रह्म को देखता, जानता और परमार्थसत्यमय जीवन जीता है।

आज का साहित्य और साहित्यकार मात्र अधिभौत अर्थात् वैयक्तिक या आसुरी प्रवृत्ति का ही प्रकाशक रह गया है। वह शब्द और शब्दार्थ मात्र की सहितता (companionship) को ही साहित्य का निरूपक मानता है। उसके लिये साहित्य का 'स-हित' (all good) अर्थात् पारमार्थिक रूप अदृष्ट रह जाता है। वह भूलता है कि साहित्य मात्र वैयक्तिक अर्थात् ऐन्द्रियक स्वार्थपूर्ति की व्याख्या का साधन नहीं, वरन् परमार्थसत्य का अन्वेषक-व्याख्याता-उपादेशक (उप-आदेशक) और मार्गदर्शक है। साहित्य, इस तरह, विवरणात्मक (descriptive) भी है एवं निदेशात्मक

(directive) भी है। साहित्य का लालित्य परमार्थसत्य के उद्घाटन में है, वासना के प्रदर्शन में नहीं।

व्याख्याता के रूप में साहित्य सब शास्त्रों का प्रवक्ता और वैयक्तिक अनुभूतियों-अनुभवों का सम्प्रेषक भी है। इस अर्थ में वह एक्स्प्रेसिव (expressive) है। विधि-निषेध का व्याख्याता शास्त्र साहित्य से अलग नहीं। साहित्य सार्वभौम का व्याख्याता है। इस तरह मन-मानवरूप क्रियापुरुष जहाँ व्यक्तिरूप कार्यकारी पुरुष के माध्यम से कार्यकारी होता है, वहाँ यह कार्यकारी व्यक्तिरूप पुरुष मन-मानवरूप क्रियापुरुष की सहायता से स्वयं उसी क्रियापुरुष की सर्वाङ्गीण व्याख्या भी प्रस्तुत करता है। आत्मा आत्मना आत्मानं जानाति। क्रियापुरुष और कार्यकारी पुरुष की समन्विति ही अध्यात्मपुरुष या अध्यात्मदेव है। स्पष्ट है कि यह अध्यात्मपुरुष ही क्रियापुरुष और कार्यकारी पुरुष दोनों का अलग-अलग और समन्वितरूप का भी द्रष्टा-ज्ञाता-व्याख्याता-प्रवक्ता है। यही कर्तृत्व और ज्ञातृत्व का अधिकारी, अहंकार (अहं कर्तृत्व) का अधिकारी, उत्तम पुरुष है।

यहाँ यह स्पष्ट होता है कि आर्ष दर्शन ने प्राणमय शरीर और विज्ञानमय प्राणवान् मनोमय शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध को जिस समन्विति में देखा है वह है कर्म और ज्ञान का सामन्वयिक सम्बन्ध। प्राणमय अन्नरूप शरीर, अन्न से ही अनुप्राणित होता हुआ अपनी मनोमयता और विज्ञानमयता में आनन्दरूप साहित्य रूप से अभिव्यक्त होता है। साहित्य हो या 'लोक', 'ज्योति' आदि सब जैसे मनोवाक् की ही अभिव्यक्ति सिद्ध होते हैं। मनोवाक् की अभिव्यक्ति का साधन है मनोविकसित शरीर।

इस तरह पुरुषार्थ की विमुक्ति भी परमार्थसत्य की प्राप्ति में ही है। यह पमरार्थसत्य ही आनन्दमय है। यहाँ स्पष्टतः पुरुषार्थ का 'धर्म' 'आचारिक धर्म' नहीं, 'अर्थ' धन नहीं, 'काम' वासना नहीं और 'मोक्ष' मृत्यु नहीं। पुरुषार्थ का धर्म दमःरूप है; 'अर्थ' क्रिया-कारित्व की समन्विति है; 'काम' सिसृक्षा के रूप में क्रिया-कारित्व का समन्वयक है। 'मोक्ष' आनन्दरूप में प्राप्य आभिव्यक्तिक परमार्थसत्य है।

क्रियारूप सम्पूर्ण सृष्टि का द्रष्टा-ज्ञाता ऋषि है; इसे ही मनोरूप में देखता ऋषि मनीषी है; और दोनों की समन्विति को देखता-जानता और उनके परमार्थसत्य का द्रष्टा-ज्ञाता-व्याख्याता प्रवक्ता कवि है। वेद के ऋषि अपने-आपमें मनीषी-कवि हैं। वे जानते हैं कि ज्ञान-कर्म की समन्विति में ही जीवन आनन्दमय हो पाता है। गीता का 'निष्काम' परमार्थ के प्रति समर्पण का प्रतीक है; और 'मोक्ष', वस्तुतः, परमार्थसत्य की प्राप्ति है। कविरूप से ऋषियों ने व्यक्ति को वैश्विक व्यक्तित्व का स्वामी माना है। ऋग्वेद के ऋषि ने 'कवयो-मनीषा' कहकर कवि को कवित्व और

ऋषित्व का समन्वय माना है । –सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्यां कवयो मनीषा । ऋषि की मनीषा को मनीषी कवि की अभिव्यक्ति का साहचर्य्य और सहमति अपेक्षित होती है ।

'काव्यप्रकाश:' की भूमिका से आहृत आचार्य भट्टतौत की यह उक्ति द्रष्टव्य और ध्यातव्य है– जो कवि है वह ऋषि है । कवि को ऋषि इसीलिये कहा जाता है कि वह द्रष्टा हुआ करता है । कवि के द्रष्टा होने का जो तात्पर्य है वह है उसमें एक ऐसी प्रख्या, ऐसी प्रतिभा, ऐसी प्रज्ञा के होने का जो समस्त जीवन-तत्त्व का साक्षात्कार कर सकती है । ऋषि तो तत्त्व-दर्शन की शक्ति के कारण ऋषि है और कवि ऋषि होकर भी इसलिये कवि है क्योंकि उसकी प्रख्या अथवा प्रतिभा नवनवोन्मेष सुन्दर सरस वस्तुनिर्माण में अभिव्यक्त हुआ करता है ।



श्रीमती प्रियंवदा की साहित्य-साधना

—लेखक : शचीन्द्र नाथ सिन्हा

वेद, वेद्य एवं वैद्य। वेद से वेद्य को जानकर जिस रुग्ण पुरुष की चिकित्सा की जाती है, वह सत्त्व-आत्मा-शरीर का समन्वय होता है। वैद्य आत्मा को जानकर सत्त्व अर्थात् मन और शरीर की चिकित्सा करता है; क्योंकि यही दो रुग्ण या रोगग्रस्त होते हैं। आत्मा रुग्ण नहीं होती। शक्ति की अविनश्यता में शक्ति की रूपान्तरण-क्षमता महत्त्वपूर्ण है; और वह मनोरूप में कार्यकारी होती है। बोध और कार्य अर्थात् ज्ञानमय कर्म की अनन्तता मननशीलता के मांध्यम से ही बोधगम्य होती है। आत्मन् (अत्+मनिन्) और ब्रह्मन् (बृंह्+मनिन्) क्रमशः अपनी सार्व और परम की बोधपरक कार्यकारिता में भौतिक शरीर को कार्यकारी बनाये रखने के कारण हैं। ध्यातव्य है कि आत्मा ही ब्रह्म है। और, ये मनोशक्तिरूप हैं।

इस तरह 'कारणशक्ति' ही अपनी कार्यकारिता में कार्यविस्तारक कार्यशक्तिरूप से विकसित होती है। इसे संक्षेपतः शक्ति-शक्त-शक्तिमान् और क्रिया-कारित्व-अर्थ के रूप से देखा जाता है। इसे ही गीता ने ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविध कर्मचोदना। करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ (गीता 18.18) के रूप में व्याख्यायित किया है।

ज्ञान-पक्ष अर्थात् ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की विजिज्ञासा व्यक्ति के लिये ही है। बिना इन्हें जाने कर्म की प्रवृत्ति सम्भव नहीं। दूसरी ओर कारण, कर्म और कर्ता को जाने बिना कार्य की प्रक्रिया का ज्ञान सम्भव नहीं। शक्तिमान् को कारणरूप से जानकर अर्थरूप कार्य को जानना सहज होता है।

कारणशक्ति की मनोरूपता सृष्टि को मनोरूप बनाती है। कारण होने से ही 'मन' ज्ञान-कर्म-समन्वय का साधन है— कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ (ऋ० 10.129.4)

श्रीमती प्रियंवदा के अनुसार यह मन अपने कार्यविस्तारक रूप में, वस्तुतः, 'सत्-असत्' बन्धु अर्थात् सत्-असत् की समन्विति है, जहाँ 'असत्' क्रियारूप और 'सत्' कारकत्व या कारित्वरूप है। क्रिया' और कारित्व विद्युतावेश के ऐसे रूप हैं;

जो हर कार्य के प्रथम कारण सिद्ध होते हैं। यह 'सत्-असत्' वह कारणरूप शक्ति है, जो सामान्यतः रासायनिक प्रतिक्रियाओं और यौगिक-निर्माण (Compound formation) में कार्य-विस्तारक रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। 'विस्तार' शक्तिरूप का विकासात्मक रूप है, विनाशात्मक रूप नहीं। शक्ति अविनश्य है। उनके अनुसार विकास, वस्तुतः, रूपान्तरण और रूपान्तरों की पारस्परिक पूरकता के आधार पर समन्वयन की प्रक्रिया सिद्ध होती है।

'जीवन' प्राणमय शरीर का मनोमय तथा विज्ञानमय विकास है। 'सत्-असत्' की बन्धुता उनके 'तत्-तत्' रूप में निहित है। 'तत्' इनका कारणरूप है, अर्थात् 'तत्' ही सत् और 'तत्' ही असत्। 'तत्' की रूपान्तरण-क्षमता उसके 'सत्' रूप की स्वधात्मकता में निहित है। **आनीदवातं स्वधया तदेकं** का यही रहस्य है।

श्रीमती सिन्हा का मानना है– यहाँ 'लोक-विकास का प्रश्न हो, या ज्योति-विकास का; प्रजा-विकास का हो या विद्या-विकास का; सत्-असत् के व्याख्यात्मक विकास का हो या आध्यामिक विकास का, 'तत्' का सत्-असत् रूपान्तरण और फिर कारित्व क्रियारूप से इनका समन्वयन अनिवार्यतः अपेक्षित होता है। सृष्टि-काल में सत्-असत् संयोजन-वियोजन-संयोजन की प्रक्रिया अपनाते हैं और इनका ही आत्मसातन महाप्रलय का कारण बनता है।

क्रिया-कारित्व का समन्वय जहाँ सृष्टि के कार्यकारी-विकास का कारण है; वहाँ ज्ञान-कर्म का समन्वय, वस्तुतः, सृष्टि के मनोमय और विज्ञानमय विकास का कारण बनता है। इस तरह जीवनमय सृष्टि-विकास और विकासमय जीवन-सृष्टि में 'शरीर' और 'मन' का समन्वय अध्यात्मरूप से व्याख्यायित हुआ है। 'अध्यात्म', जिसमें 'शक्ति' और 'शक्त' का पूर्ण समन्वय रहता है; एक-दूसरे के बिना वे कार्यकारी नहीं होते। एक-दूसरे की पूरकता में जीते वे एक-दूसरे के सहारे सृष्टि-विस्तार को प्रतिफलित करते हैं। उनका यह विस्तार शक्ति की असीमता और रूप की अनन्तता में प्रदर्शित होती है।

कारणब्रह्म सृष्टि का आदिकारण है। इस कारणब्रह्म का भी कारण है और वह है 'तत्'-रूप विशुद्ध शक्ति, जो कार्यकारी नहीं, वरन् नित्य-निर्विकार-निर्गुण और प्रशान्तहै। कार्यकारी अवस्था में 'सत्-असत्'-रूप कारित्व-क्रिया का वह समन्वय होता है, जिसमे 'सत्' द्रव्यत्व या कारित्व का निरूपण करता है और असत् क्रियात्व का। [ध्यातव्य है कि आज आधुनिक विज्ञान 'बोसोन कण' (Boson particle) की अवधारणात्मक व्याख्या में द्रव्यत्व (materiality) का कारणरूप देखने-खोजने का प्रयास कर रहा है।]

'जीवन' के रूप, वस्तुतः, द्रव्यत्व के उन विविध कार्यकारीरूपों में प्रदर्शित होते हैं जो क्रिया के क्रियात्व अर्थात् कार्यकारी रूपों के लिये अपेक्षित होते हैं। दूसरे शब्दों में क्रिया को अपने अपेक्षित कार्य के लिये जिन क्रियारूपों (कारित्व और क्रियात्व) की अपेक्षा होती है, उन रूपों को वह अपने रूपान्तरणों और समन्वयनों द्वारा प्राप्त कर लेती है। 'रूप' द्रव्यत्व के और कार्यकारिता क्रिया या क्रियात्व के विषय हैं। द्रव्यपरक तत्त्व 'रूप' का कारण होता है, और कार्यपरक तत्त्व क्रिया या क्रियात्व का। इस तरह उस कार्यनिर्वाहक शक्ति का विकास सत्-असत् के समन्वय में ही होता है, जिसे देवशक्ति के रूप में देखा गया है।

देवत्व को दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा के रूप में परिभाषित किया गया है। स्पष्ट है कि शारीरिक क्रिया इन्हीं देवतत्त्वों की समन्वित कार्यकारिता में सम्पन्न होती है। देवतत्त्वों का समन्वयन 'मन' के संयमन में होता है। संयमित मन और इन्द्रियाँ 'दम' को परिभाषित करती हैं, और 'दम' धर्म (धृ+मन्) रूप में परिभाषित होता है। इस तरह 'दम' अर्थात् 'धर्म' और 'देवताओं' के कार्यकारी समन्वयन के बीच गहरा सम्बन्ध है। 'धर्म' के लिये ईश्वर तत्त्व को इसी रूप से अनिवार्य माना गया है। वस्तुतः, देवों में कार्यकारीरूप से ज्येष्ठ को ईश्वर (ईश+वर) कहा जाता है। इस 'ईश्वर' को उपनिषद् ने 'महःरूप' से 'तुरीय' या चतुर्थस्थानी कहा है। –भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः।

वस्तुतः, भूः भुवः, स्वः, महः आदि शक्त्यात्मक शक्ति अर्थात् कारणरूप शक्ति की लोकविषयक अर्थात् द्रव्यपरक व्याहृतियाँ या अभिव्यक्तियाँ हैं। इसी तरह वाक्परक अभिव्यक्तियों में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीरूप वाक्शक्तियों को देखा गया है। आभिव्यक्तिक रूप से 'वैखरी'-रूप वाक्शक्ति ध्वन्यात्मक और विमर्शात्मक है।

लोक-परक अभिव्यक्ति के रूप में 'महः' को और वाक्परक अभिव्यक्ति के रूप में 'वैखरी' को ब्रह्मरूप या आत्मारूप देखा गया है। इस तरह द्रव्यात्मक या ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति के आदिरूप को कार्यब्रह्म कहा गया है और शक्त्यात्मक सत्-असत् की समन्विति को कार्यकारी रूप में 'कारणब्रह्म'।

इस तरह 'तुरीय' या चतुर्थस्थानी 'महः'-रूप लोकअभिव्यक्ति या वाक्-अभिव्यक्ति के सन्दर्भ से, लोकरूप या वाक्रूप, अन्य तीन अभिव्यक्तियाँ महिमान्वित होती हैं। दूसरे शब्दों में ऋषि-दृष्टि ने भूः, भुवः, स्वः, अथवा परा पश्यन्ती मध्यमा की अपनी-अपनी गुमनामी अर्थात् रहस्यमयता को इन 'महःलोक' और वैखरी'

वाक्शक्ति से प्रकाशित या महिमान्वित होते देखा है। 'लोक' की तरह ही वाक्शक्ति का भी अपना लोक है।

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति "लोक्यतेऽसौ लोक्+घञ्" के रूप में हुई है। 'लोक्' का अर्थ 'प्रत्यक्षज्ञान प्राप्ति', 'देखना', 'चमकना' आदि है। इस तरह लौकिक व्याहृति हो या वाक्-अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति अपने-आपमें शक्तिगत ही होती है; और, इन अभिव्यक्तियों में क्रियाशक्ति का ही महत्त्व होता है। दोनों में क्रियाशक्ति की ही विस्तीर्णता का प्रकाशन होता है। कारक का कारकत्व अपने-आपमें क्रियात्व ही है। अन्तर है कि वह क्रिया की कृतिरूप का द्रव्यपरक साधन है। द्रव्यत्व 'रूप' का कारण है और क्रियात्व कर्तृत्व का कारण। दोनों का समन्वय कार्यरूप की परिणति है।

वस्तुतः, 'शक्ति' को 'द्रव्य' से अलग समझने के कारण आर्षेय-बाद के काल (Post Ārṣa Period) में सत्-असत् में विभेद स्थापित किया गया। उनके पारस्परिक बन्धुत्व की अनदेखी कर उनमें से सत् मात्र की सत्ता को स्वीकार किया गया तथा 'असत्' को अनस्तित्व कहकर नकार दिया गया। छान्दोग्योपनिषद् का यह वाक्य– **सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्** विचारणीय है। यहाँ 'सत्-असत्' (कारित्व-क्रिया) की सहज पारस्परिक संयोजिता को नकारते छान्दोग्य उपनिषद् में सत्मात्र के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। इसकी तार्किक व्याख्या में व्याकरणशास्त्र का भी आधार लिया गया है– **विशेष्य के अनुसार ही विशेषण होगा**। यहाँ 'विशेष्य' से 'व्यक्ति' का और 'विशेषण' से 'गुण' या 'स्वार्थ' (स्वः अर्थः) को निरूपित कहा गया है। **स्वः अर्थः स्वार्थः विशेषणम्**।

'स्वार्थ', वस्तुतः, उस गुण के रूप में परिभाषित होता है, जो द्रव्य या व्यक्ति को विशेषित करता है। स्पष्ट है कि व्यक्ति और गुण में परस्पर निर्भरता और वैषम्य का सम्बन्ध है। वस्तुवाचकता (denotation) और गुणवाचकता (connotation) की सहजातता या सहधर्मिता निश्चित है। व्यक्ति का व्यक्तित्व उसका अपना सार्वगत निश्चित गुण है। इस तरह व्यक्तित्व व्यक्ति के लिये निश्चित या नियत बना रहता है। शक्ति का व्यक्तित्व सार्वगत शक्तिरूप ही होता है।

'गुण' की शक्त्यात्मकता को गौण करता भाषाविज्ञान 'कारक' के कारण-तत्त्व के अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं समझता और प्रातिपदिक के धातुनिष्पन्नता को आधार बनाकर 'कारक' को महत्त्वपूर्ण बना जाता है। वह इस बात का भी ध्यान नहीं रखता कि 'क्रिया' और 'कारक' कार्यकारी अवस्था में एक-दूसरे के बिना कार्यशील हो ही नहीं सकते। फिर, सृष्टि में क्रिया के स्वतन्त्र अस्तित्व का सर्वथा अभाव देखकर 'कारक' को ही महत्त्व देते सब वैषयिक शास्त्र 'कारक' को ही

'क्रिया क़ा जनक' मान लेते हैं। ऐसी स्थिति में भषाविज्ञान अपनी वैज्ञानिकता से च्युत हो जाता है। आज का वैज्ञानिक भी निरपेक्ष के ज्ञान के अभाव में जब सृष्टिगत सापेक्षता ही बात करता है तो वह यह भूल रहा होता है कि स्वयं सापेक्षता निरपेक्ष की अपेक्षाओं में ही सापेक्षिक है। वस्तुतः, प्रातिपदिक वह सार्थक शब्द है, जो न केवल धातु है, न केवल प्रत्यय; अर्थात् जो धातु और प्रत्यय दोनों से निष्पन्न है। स्पष्ट है कि क्रिया के स्तर पर दोनों ही क्रिया या क्रियात्व के ही रूप हैं।

प्रातिपदिक पद की व्याख्या इन रूपों में की गयी है– **स्वार्थद्रव्यलिङ्ग संख्याकारकात्मकः पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः।** या फिर, **प्रवृत्तिनिमित्तं व्यक्तिर्लिङ्गं संख्या कारकञ्चेति पञ्चप्रकारकः प्रातिपदिकार्थः।**

उपर्युक्त वर्णन स्पष्टतः 'शब्द' के शक्त्यात्मक उत्पत्ति की अवहेलना कर जाता है। वस्तुतः, वाक् की ध्वन्यात्मकता शक्तिजन्य है, जिसके परा, पश्यन्ती, मध्यमा की अगोचरता को महत्त्वहीन मानता शास्त्र 'वाक्' को सीधे 'पद' (term) समझ बैठता है। 'वाक्' ध्वनि है, जो अक्षररूप में रूप ग्रहण करता है, शब्द रूप में अर्थ ग्रहण करता है; और आगे वाक्यरूप से शब्दरूप-अर्थ के समन्वयनों में विचार की अभिव्यक्ति होती है। 'विचार' जिस ध्वन्यात्मक वाक्रूप शक्ति से अभिव्यक्त होता है उसे वैखरीरूप वाक्शक्ति कहा गया है।

'वैखरी' वाक्शक्ति वाक्शक्तियों में चतुर्थस्थानी होने से तुरीय अर्थात् महःरूप से वाक्ब्रह्म या वाक्आत्मारूप है। इसके माध्यम से मानव-व्यक्ति विचारों का वाङ्मय तैयार करता है। पारमार्थिक वेद्य ही वेदों में संग्रहित हैं। वैद्य इन वेद्यों के ज्ञाता और उपयोग करनेवाले होते हैं। ऋग्वेद ने अपने एक सौ चौसठवें (164 वें) सूक्त में शक्तिरूप की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। शब्द-शक्ति की व्याख्या को देखें– **ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥**

'परब्रह्म' कार्यकारी शक्ति का कारण है। यह कार्यकारी शक्ति ही शब्द और जीव ब्रह्मों के समन्वय में सृष्टि के विकास का कारण बनता है। यही 'अध्यात्म' की व्याख्या है।

इस तरह सृष्टि का हर कण आत्मरूप से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय सिद्ध होता है। स्पष्ट है कि मानव-व्यक्ति का सहज-जीवनादर्श उसका ही आत्मरूप है। 'मनुष्यजा' या 'मनुष्यजा की बोली' दोनों को इसी आधार पर तुरीयरूप से ब्रह्मरूप या कार्यब्रह्मरूप में देखा गया है। साहित्य अपने हर रूप में इसी की व्याख्या का साधन है। साहित्य और काव्य की परिभाषा शब्दार्थौ सहितौ के रूप में की जाती है।

भामह ने अपनी रचना 'काव्यालंकार' में 'काव्य में शब्द-निर्दोषता' की आवश्यकता, कुकाव्य की निन्दा, अलंकार-भेद और शब्द-अर्थ समन्वय के सन्दर्भ से काव्य या साहित्य की अपेक्षाओं की व्याख्या प्रस्तुत की है। भामह की इस उक्ति को देखें- **शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा । संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥** (काव्य 1.16) ।

किन्तु इस श्लोक से पूर्व काव्य में अपेक्षित जिन अपेक्षाओं की चर्चा हुई है वह हितार्थक अर्थात् कल्याणपरक अपेक्षाएँ हैं। काव्य में शब्द-अर्थ समन्वय ऐसा हो, जो परमार्थसत्य का उद्घोषक हो सके। 'साहित्य' को शब्द-अर्थ की सहितता के साथ वैश्विक स-हितता का भी ध्यान रखना है।

श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा की कलम ने परमार्थसत्यरूप 'मानव' को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। उन्होंने अपने 'मानव' को आर्षदर्शन के दृष्टिकोण से देखा है। उनका मानव भी वह क्रियापुरुष है, जो सुकृत तो है ही, सुविचारी और शुभआचारी भी है। वह आभ्यन्तरिक रूप से मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त का मनःप्रधान समन्वय तो है ही, साथ ही व्यवहारतः इन्द्रियों का समन्वयक भी है। इस तरह श्रीमती प्रियंवदा ने अपने मानव में अशुभता का, अंशमात्र भी, कोई लक्षण नहीं देखा है। मनःशक्ति और मनोगत शक्ति के कार्य अपने-आपमें शुभकारी होते हैं; क्योंकि शक्ति के नियम अपने सहजरूप में शुभकर्मा ही सिद्ध होते हैं। नियम का उल्लंघन शक्ति को विस्फोटक भी बना देता है।

श्रीमती सिन्हा अपने वर्णनों में साहित्य के शब्द-अर्थ सहितार्थ के साथ-साथ उनके 'स'-हितार्थ को भी महत्त्व देती हैं। वे धनात्मक एवं ऋणात्मक विद्युतावेशों की सहज पूरकता के साथ-साथ समान आवेशों के विरोधों में उठती विद्युत्-स्फुलिङ्गों के विकास को भी महत्त्व देती हैं। अपनी सकारात्मक मनोवृत्ति में, ऋषि-दृष्ट, परतम शक्ति के विज्ञान को आधुनिक विज्ञान के अवधारणा-तराजू पर तौलती श्रीमती सिन्हा सृष्टि-विकास का सहज मूल्यांकन करती हैं। वेद्य को वेद की नजरों से देखती श्रीमती सिन्हा ने अपनी रचनाओं में मानो आज की अनिवार्यता की पूर्ति के लिये जैसे वैद्य का ही कार्य किया है।

श्रीमती सिन्हा की काव्यगत रचनाओं में छन्द-अलंकार का भले ही अभाव हो, अभिव्यक्ति का प्रभाव और रस का अभाव वहाँ कहीं भी नजर नहीं आता। काव्य में विचार-प्रवाह का सम्बन्ध आभिव्यक्तिक प्रवाह से है। इस तथ्य का ध्यान श्रीमती सिन्हा ने अपनी रचनाओं में पूरी तरह रखा है। उनकी कविता छन्दयुक्त भले नहीं हों, वे शुभमय विचारों से पूर्ण है। मन की विदग्धता (संवेदनशीलता) को उन्होंने किसी पल नहीं छोड़ा है। जीवन के परमार्थसत्य को उन्होंने हमारे समक्ष रखने का

हर पल प्रयास किया है । उनकी वागविदग्धता अनाकर्षक नहीं । उनकी रचनाएँ शुभमय हैं ।

श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा की काव्यगत रचनाओं का अवलोकन उनके द्वारा लिखित आलेखों-'विचारणा', 'अभिव्यक्ति' और 'चिन्तना- के मापदण्डों पर करना उचित प्रतीत होता है । उनका 'कवि' द्रष्टा-व्याख्याता है । यह 'द्रष्टा' भी क्रिया का अर्थात् शक्ति का द्रष्टा है । इस तरह उनका कवि अपनी प्रतिभासम्पन्नता में स्वयं मन-मानव रूप है । फिर, छन्द अगर अर्थ और स्मरण को सहयोग देते हैं, तो यही कार्य श्रीमती सिन्हा का कवित्व अपने उन्मुक्त आभिव्यक्तिक प्रवाह द्वारा सम्पन्न करता है । प्रवाह भी ऐसा जो विषय को दो कूलों की मर्यादा को नहीं तोड़ता ।

एकाकीपन मेरा में श्रीमती सिन्हा ने अपने दार्शनिक रूप को पहचान दी है । संग्रह की पहली कविता 'तुम न आये' में 'मुन्नू' उनका वह मनोमानव या मनोदेव है, जो अपने जागरण के लिये प्रवासी परतम शक्ति के आगमन की अपेक्षा रखता है। ['मुन्नू' श्रीमती सिन्हा का पारिवारिक (नैहर) सम्बोधन है । उनके पति को भी उनका यह सहजात नाम ही प्रिय रहा है ।]

इस कविता का आधिभौतिक मूल्यांकन व्यक्तिवादी आलोचकों के लिये भले ही सुखद लगे, किन्तु आध्यात्मिक आलोड़न हमें कवयित्री की वाग्विदग्धता का शुभमय रूप दिखा जाता है । कविता में उपमा का जाल और करुण रस का प्रवाह हमें अपने-आप के साथ बहा ले जाता है । 'तुम' पद मीरा का कृष्ण है या कवयित्री का प्रवासी नौकरीहारा पति, कहना भले मुश्किल हो, किन्तु पाठक को शुद्ध सत्त्व-प्रवाह अर्थात् शुभतम् प्यार के जलधार में नहाने की अनुभूति जरूर दे जाता है। वहाँ मिलनेच्छा कम, मन-मानव के जागरण की कामनासन्दर्भित वाक् विदग्धता ही स्पष्ट होती है ।

नारी के लिये दाम्पत्य को आलोचक वासनामय देख सकते हैं, किन्तु कवयित्री प्रियंवदा का दाम्पत्य मानवता से है और वह स्वयं नारी ही नहीं, वरन मनोमानवरूप ऐसी मनोमय शक्ति भी (पुरुष) हैं, जो मानवतारूप नारी के सहज दाम्पत्य का आकांक्षी है । उनका दाम्पत्य परमार्थसत्य का भोक्ता है । कवयित्री का दाम्पत्य 'मैं' का नहीं, 'हम' का जीवन जीता है । उनका दाम्पत्य-धर्म मन के संयमन में परतम का साहचर्य प्राप्त करता है । मानवता ही मानव की सहधर्मिणी है । कवयित्री राज्यसत्ता की पक्षधरता से अलग मानवता की निष्पक्षता का वरण करती हैं। 'मंजिल' शीर्षक कविता कवयित्री के जीवन-लक्ष्य का उद्‌घाटन करता है । सम्पूर्ण सृष्टि का कल्याण मानवता का लक्ष्य है । राम का जीवनादर्श उन्हें आकर्षित करता है । समष्टि के लिये जीता राम वैयक्तिक हित को नहीं जीता । ज्ञान के प्रकाश में

जीती कवयित्री क्रियापुरुष की सहधर्मिणी हैं। उनका कारुण्य उनके अपने प्रति नहीं, सार्व के प्रति है। आज की राजकीय सत्ता के प्रति कवयित्री अपना असन्तोष-आक्रोश नहीं छिपातीं।

मानवता के प्रति समर्पित मानववादी कवयित्री अपने जीवन में भी मानवता की ही उपासिका रहीं। शिक्षण उनकी इसी उपासना का अङ्ग रहा। सत्ता के द्वन्द्व में उन्हें मानवता का घसीटा जाना बिलकुल पसन्द नहीं। दाम्पत्य की चरमगति वे मानववाद में ही देखती हैं। और, उनका दार्शनिक मानववाद आर्षेय मानव की गरिमा तक पहुँचता है, जहाँ **पुरुषो वाव सुकृतं** का औपनिषदिक उद्घोष है और **सत्यमेव जयते नानृतम्** का वैदिक मन्त्र-जाप। सृष्टि-कल्याण मानव का लक्ष्य है।

मानवता कभी मरती नहीं। वह मारी जाती रही है, किन्तु मृत्यु उसका वरण नहीं करती। हर बार वह जैसे मूर्छा से उठती और जीती है किसी बुद्ध के उपदेशों में, तो किसी महात्मा (गाँधी) की राजनीति में। 'राम' के उपासक 'हनुमान' की उपासिका श्रीमती प्रियवंदा ने राम की मर्यादा को जाना और भोगा है। राम के कर्क लग्न ने राम या सीता को पारिवारिक सुख सुचारुरूप से भोगने नहीं दिया। कवयित्री के जीवनं को भी पति के कर्क लग्न ने बहुत प्रभावित किया। कहते हैं राम का जन्म कर्क लग्न में हुआ था। यह लग्न धाता को पारिवारिक सुख भोगने नहीं देता।

कवयित्री पुरुषार्थ में जीती हैं, परन्तु उनका पुरुषार्थ विवेक से प्रारम्भ होता है और मानवता की ऊँचाई तक जाता है। विवेक का परिणाम 'धन' नहीं होता, सन्तोष होता है। सन्तोष जीवन की निष्कामना में मानवता की कामना करता है, धन की कामना नहीं। विवेक का परिणाम शुभ कृति में प्रतिफलित होता है। शुभकार्य ही आनन्द देता है। व्यक्ति भी मानवतारूप सार्व से मिलकर ही आनन्दमय हो पाता है। **अहं ब्रह्मास्मि** का उद्घोषक 'अहं' है, 'ब्रह्म' नहीं। 'अहं' भी वहाँ अहंकृतिरूप गर्व है, दम्भ या घमण्ड नहीं। सिसृक्षा और सृष्टि ब्रह्म का विषय है। कवि अपने कविता-संसार का स्रष्टा है और वह जागतिक सृष्टि से उसी तरह परिचित है, जिस तरह स्वयं सृष्टि का स्रष्टा अपनी सृष्टि से। कवयित्री अपने कविमन पति की कविता-सृष्टि से अपरिचित नहीं। पति और पुत्र के प्रवास से एकाकी बनी कवयित्री ने ब्रह्म के बृंहित्व (वृद्धिशीलता) को देखा-जाना-भोगा है। 'एकाकीपन मेरा' की पराकाष्ठा है–

एकाकी मन-प्राण, मीत ! / दर्द ही सहता है; / तभी तो स्रष्टा भी / एक से ही अनेक रचता है। (एकाकीपन मेरा; पृ०-37)

सीता के समाने किसी दूसरी सीता की जीवन-गाथा नहीं थी। किन्तु कवयित्री के सामने उस सीता की जीवन-गाथा है, जिसके पति की सौतेली माता

(माता कैकेयी) ने निज पुत्र भरत को राजगद्दी दिये जाने की प्रेरणा से राम के वनवास के नाम पर सीता को दण्डित करा दिया। फिर, सीता ने राम के द्वारा दिये गये वनवास को स्वयं राम द्वारा राम को अभिशप्त किया जाना ही माना है। अभिशप्त राम से बँधी सीता भी आजीवन अभिशप्त ही रही। प्रकारान्तरतः कवयित्री के लिये यह, मानव-समाज में, नारी-समाज की उत्पीड़ित अवस्था की साक्षात्कृत अनुभूति है।

काव्य-संसार का रचनाकार जीव-संसार के रचनाकार से भिन्न नहीं। स्रष्टा अपनी सृष्टि का कारणरूप होता है। 'कारण' के आगे 'कार्य' खुली किताब होती है। राम का जीवन-दर्शन कवयित्री के लिये अबूझ नहीं है; क्योंकि सीता की तरह ही वह भी स्वतः राम की अनुगामिनी बन बैठी हैं।

सीता प्रकृतिरूप से पुरुष की जन्मदातृ हैं; क्योंकि शक्तिमान्‌रूप 'पुरुष' वस्तुतः, शक्ति का ही विकसित रूप अर्थात् शक्ति और शक्त की समन्विति है। पुरुष अपनी जन्मदातृ प्रकृति को नहीं पहचानता; किन्तु प्रकृतिरूप कारण-शक्ति अपने जाये कार्यरूप कार्यकारी पुरुष-ब्रह्म को तो जानती ही है। वह उससे न तो घृणा कर सकती है और न ही उसकी अवहेलना सह सकती है। प्रकृति के इस रङ्ग को देखें- रंग-पानी की तरह मैं तुझमें हूँ;/वायु-सी बहती सुगन्ध मैं तेरी;/मैं बीज-बनी तरुवर, प्रियतम।/तुझ-अणु में हूँ छुपी परमाणु बनी, राजन्! (वही, पृ० 40)

सृष्टि का जड़-चेतन समन्वयरूप, वस्तुतः, ससीम्-असीम का समन्वयन है। 'चेतन' और 'जड़' एक-दूसरे के बिना शून्य हैं।

एकाकी सीता राम के एकाकीपन को सहती-भोगती है। एकाकी ही एकाकी के एकाकीपन के दर्द को जानता है; क्योंकि वह उसका भोगा हुआ यथार्थ होता है। जो एकाकी नहीं होते एकाकीपन उन्हें काल्पनिक स्वर्ग लगता है। एकाकीपन के दर्द को झेलना एक एकाकी के लिये कठिन होता है। एकाकीपन के इस दर्द की चिकित्सा तुलसी ने राम में, और सूर ने श्रीकृष्ण में खोजा है। कवयित्री ने अपने एकाकीपन में उसे ही दर्शन और दर्शन के मानव और अपने मन-मानव के रूप में देखा और खोजा है। -सुदूर ध्रुवों के पार / स्वर्ग का, शायद कोई द्वार है; / पर, स्वर्ग-द्वार से भी पार / स्वर्गिक सुख के लोभमय संसार से भी दूर, / एक और संसार है / विवेक और आत्मानुभूति का। / मैंने देखा है तुम्हें वहाँ ही आत्मसंतोषरूप में; / लोभ से दूर, भावमय जीवंतरूप में / देखा है तुझमें ही / अपने प्रियतम परमेश्वर को। (एकाकीपन मेरा पृ० 48 एवं 49)

कवयित्री का यह परमेश्वर वह मन-मानव है, जो स्वयं 'मानवी' या 'मानवता' की शक्ति का कार्यकारी रूप है। कवयित्री मानवता-बिना मानव के अस्तित्व को मनविहीन शरीरमात्र के रूप में देखती हैं। शरीर अपने ऐन्द्रियक दम्भ

और शक्तिगत निरंकुशता के कारण ही क्षयशील या मरणशील है । उनके लिये मानवता वह दम्भहीन मननात्मक शक्ति है, जो अपने कारणरूप की अभीष्टियों को पूर्ण करने में विश्वास रखती है । कवयित्री की दृष्टि में दर्शन, विज्ञान और साहित्य इस मानवता की ही पारमार्थिक अभिव्यक्ति के साधन है । उनके लिये 'दर्शन' परमार्थ सत्य का द्रष्टा है; 'विज्ञान' परमार्थसत्य का अन्वेषक और विज्ञाता है; और 'साहित्य' परमार्थसत्य का प्रवक्ता-व्याख्याता है । मानवताविहीन मानव ही, कवयित्री की दृष्टि में, दानव या असुर है ।

कवयित्री की व्यावहारिक दृष्टि में 'मानव' अपने आभ्युदयिक मानवीय क्रियाओं में देवता (सुर) और अधोपतनिक क्रियाओं में दानव (असुर) है । धर्मरूप से 'जीवत्व' की अवधारणा को कवयित्री ने मानव की मननात्मक दैवी (कार्यनिर्वाहक) शक्ति का पर्याय माना है । किन्तु इसके साथ ही बल की दृष्टि से कवयित्री ने 'मानव' को दानव और देवता के समन्वयन का परिणामीरूप भी माना है । शरीर-बल से मानव ही दानव या असुर है; क्रियात्मक बल से वही देवता है; और मननात्मक बल से मानव है । शरीर-बल कर्म का कारण है; क्रियात्मक बल अभिव्यक्ति का; और मननात्मक बल वृद्धिशील विचारणा का । इस तरह 'मानव' को, कवयित्री ने, मनसा-वाचा-कर्मणा एक समन्विति में देखने का प्रयास किया है ।

कवयित्री ने आर्ष दर्शन को जहाँ भारतीय दर्शन का मौलिक रूप माना है वहाँ उसे ही आज के लिये अपेक्षित वैश्विक दर्शन का स्वरूप भी माना है । समाज में प्रतिष्ठित कवयित्री श्रीमती सिन्हा ने भारतीय जनसंख्या की आधी जन-शक्ति, अर्थात् नारी-बल की उपेक्षा को बड़ी ही गम्भीरता से लिया है । इसके लिये उन्होंने स्वयं नारी-समाज को भी कम दोषी नहीं माना है । अस्तित्व को शरीर-बल तक ही सीमित समझ कर नारी ने स्वयं अपने ज्ञान बल को धन-बल के सामने महत्त्वहीन बना लिया है ।

कवयित्री नारी की शक्तिगतता में ज्ञान का प्रकाश देखती हैं । वे नारी-शक्ति की राजनीतिक सोच के विषय में नहीं सोचतीं; उनकी चिन्ता शक्तिरूपा नारी की अज्ञानता के प्रति है– **मेरी वेदना ! / मनोवेदना मेरी ! / मुझे जीने दे / ज्ञान के प्रकाश में, / अभाव का जीवन / भाता नहीं मुझे मीत ! / मुझे जीने दे / भावमय सार्व में ।**(एकाकीपन मेरा पृ० 53)

निश्चय ही आर्ष दर्शन की अध्येता कवयित्री का यह 'भाव' अस्तित्व और 'अभाव' अनस्तित्व का निरूपक नहीं, वरन् उन्होंने 'भाव' से 'क्रियाजगत्' का और 'अभाव' से 'द्रव्यजगत्' का अर्थ लिया है । कवयित्री ने 'देवता' पद से 'कार्यकारी' या 'कार्यनिर्वाहक शक्ति' का अर्थ लिया है । वे यज्ञ, और योग को क्रमशः ज्ञानमय

कर्म और कर्मसम्पुष्ट ज्ञान के रूप में देखती हैं । उनके लिये धर्म (धृ+मन्) दमो धर्मः सनातनः के रूप में और 'यज्ञ' और 'योग' कर्मशु कौशलम् के रूप में परिभाषित हुआ है । विज्ञान की शिक्षिका इन कवयित्री को अन्धविश्वास और अन्धभक्ति से कोई लगाव नहीं । वे राम-सीता-हुनमान के व्यक्तित्व से प्रभावित रहीं। एकाकीपन मेरा की कविताओं का मूलाधार राम और सीता का एकाकी जीवन ही तो है । उनकी वेदना में सीता के एकाकीपन की वेदना है । सीता को जगत्-माता के रूप में देखा जाता है । उनकी वेदना मानवता के ह्रास की वेदना है । वे कहती हैं– मनःवेदना मेरी; मेरी नहीं निज की; /यह तो वेदना है / मानवता के ह्रास की । (वही पृ० 55)

कवयित्री अपने शक्त्यात्मक व्यक्तित्व को जानती हैं– मैं मानवता हूँ मानवीरूप; / मैं जीवन का सत्य हूँ; / जीवन की जीवनी-शक्ति, मैं कल्याणरूप शिव हूँ, / सौन्दर्य मैं जीवन का; जीवन का जीवन हूँ । (वही, पृ० 56) ।

शक्तिरूपा नारी, वस्तुतः, शाश्वती अर्थात् पृथ्वी का प्रतीक है; वह जीवनीशक्ति है जीवन की; वह कारण है चेतन की चेतना का; परमेश्वर की वह आदिशक्ति है ।

कवयित्री ऋग्वेदीय नासदीय सूक्त की गम्भीर अध्येता हैं । महाप्रलय की 'तत्रूप' शक्ति की अवधारणा को वह जानती हैं । वह स्वाध्यायी हैं । विज्ञान और दर्शन क़ा सामञ्जस्य उनके साहित्य को काल्पनिक संसार की ओर जाने नहीं देता । श्री सतीशराज पुष्करणा ऩे, मानवी बनी मैं की भूमिका में, उन्हें सारस्वत कवियों की श्रेणी में रेखा है ।

दीपक की लौ को बने रहने के लिये बाती के साथ तेल (स्नेह) की अपेक्षा बनी रहती है । कवयित्री अपने जीवन में स्वयं दीपक के उसी लौ की तरह रहीं, जो गहन अँधरे में भी राहगीरों के लिये मार्ग-दर्शन का कार्य करती है । सकारात्मक सोच और सहयोगी प्रवृत्ति उनकी विशिष्टता रही । इन गुणों ने उनके व्यक्तित्व को सार्वरूप दे दिया है । फलतः वह व्यक्ति को सार्वरूप और सार्व को व्यक्तिरूप देख सकने में समर्थ हैं । उनके इन्हीं गुणों ने उन्हें क्रियैकदेशबोधिनी नहीं रहने देकर बहुश्रुत बनाने की दिशा में बढ़ा दिया है । यह उनके शैक्षणिक योग्यता को देखकर भी पता चल जाता है ।

कवयित्री श्रीमती सिन्हा की दृष्टि में 'धर्म' की परिभाषा दमो धर्मः सनातनः है, आचारः परमो धर्मः नहीं । इस रूप में वे पाण्डव ज्येष्ठ, युधिष्ठिर को संयमनिष्ठ के रूप में 'धर्मराज' मानती हैं । युधिष्ठिर मात्र-ज्ञान या मात्र कर्म के

अनुयायी नहीं । वे ज्ञानमय कर्म में विश्वास रखते हैं और ज्ञान को कर्म से सम्पुष्ट करते हुए ज्ञान का संचयन करते हैं । आचारः परमो धर्मः से अलग दमो धर्मः सनातनः को प्रश्रय देते हैं । यही आशय है कवयित्री की रचना 'जीवन-गाथा' का (वही पृ० 59) ।

'गार्हस्थ्य' के मूल-मन्त्र की ज्ञाता कवयित्री पति-पत्नी में अर्द्धनारीश्वर का रूप देखती हैं । दोनों की संयमित सोच, दोनों का परमार्थसत्य पर विश्वास और संशयविहीन आचरण, ये ही हैं उनके गार्हस्थ्य के मूल-मन्त्र । इसमें परिवारिक नेह फलता-फूलता-पलता है; विश्वासमय दाम्पत्य स्नेह के रंग से रंगा परिवार परमार्थमय जीवन जीता है । परिवार के किसी एक भी सदस्य का शोषण पारिवारिक विघटन का कारण बनता है ।

विकासमय जागतिक सृष्टि में आज का व्यक्ति पुरातन को हेय दृष्टि से देखता है । राजसत्ता की तदर्थात्मक (adhoc) नीतियों में जीता आज का व्यक्ति राष्ट्रीयता के नाम पर खण्डित जीवन जीता है । 'कार्य' अपने कारण के समक्ष हेठी करे यह उन्हें (कवयित्री को) उचित नहीं प्रतीत होता ।

कार्य-कारण की अभिन्नता को विभिन्न रूपकों में, विभिन्न भावों में स्पष्ट करती कवयित्री ने आज की राजनीतिक अवस्था में सर्वत्र विघटनात्मक तत्त्वों की स्वच्छन्दता पर रोक लगाने की प्रेरणा दी है । उनकी दृष्टि में शान्तिमय जीवन की तलाश और हाहाकरमय जीवन को सुधारे जाने के लिये कारण-कार्य का अनुसन्धान अपेक्षित है । कारण को जानकर ही कार्य की व्याख्या सम्भव है । कारण को जानकर ही समस्या का निदान सम्भव है । मानव-व्यक्ति अपनी कारणरूप मानवीशक्ति को भूलकर कभी-भी मानवरूप धारण नहीं कर सकता । जीवन के आधारभूत सत्य को जानकर ही जीवन के परमार्थसत्य को जाना जा सकता है ।

कवयित्री श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा के स्वाध्यायी जीवन की गरिमा का प्रस्फुटन जहाँ 'दर्शन' के दृष्टगत परमार्थसत्य के अनुसन्धान से हुआ है, वहाँ वह अपने एकाकीपन को 'मानवी बनी मैं' की दार्शनिक अभिव्यक्ति से जोड़ पाने में समर्थ हुई हैं । 'मानवी बनी मैं' की सारस्वत अभिव्यक्ति स्वयं कवयित्री के 'अभिव्यक्ति' शीर्षक आलेख की आभिव्यक्तिक भूमिका से हुई है ।

विदुषी आलेख-लेखिका ने आलेख में लिखा है– 'अभिव्यक्ति' अर्थविहीन नहीं होती । 'अर्थ' (meaning) की प्राप्ति अभिव्यक्ति की पहली शर्त होती है । सविकल्पता में 'पश्यन्ती' का दृष्ट दृश्य, वस्तुतः, 'मध्यमा' से 'अर्थ' प्राप्त करता है । और, यह वाक् की 'मध्यमा' स्थिति ही है, जो हर अभिव्यक्ति को अर्थ-बोध देती है, चाहे वह 'परा' का निर्विकल्प मगर आभासात्मक दृश्य हो, अथवा पश्यन्ती

का दृष्ट दृश्य; अथवा वैखरी का 'ध्वन्यात्मक अथवा मूक-वधिरों की भङ्गिमात्मक अभिव्यक्ति।

'ध्वन्यात्मक' अभिव्यक्ति का साधन है शब्द। 'शब्द' अपने 'अर्थ' (meaning) के रूप में अभिव्यक्ति को विमर्श का आधार बना पाते हैं। व्याकरण में शब्द को प्रमुखता दी गयी है; पुराण-इतिहास में शब्दार्थ को; और साहित्य में शब्द और शब्दार्थ दोनों को। सहितयो भावः साहित्यम् की उक्ति के साथ स-हितयो भावः साहित्यम् का संगम निश्चय ही साहित्य, विज्ञान और दर्शन को निश्चिति और परमार्थसत्य तक ले जाता है। कवयित्री की साधना सहजतः 'सहितयो' और 'स-हितयो' के सामञ्जस्य को परिणामित करती है।

कवि परमार्थ अर्थात् परमकल्याण का द्रष्टा-ज्ञाता प्रवक्ता-व्याख्याता है। श्री मम्मटाचार्य के काव्य प्रकाश के अनुसार "वे शब्द और अर्थ काव्य कहे जाते हैं जो दोषरहित हों, गुणयुक्त हों, अलंकृत हों या न हों।"

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। (काव्य प्रकाशः पृ० 10)

वस्तुतः, काव्य की रचना सार्व (सर्वहितकारी) और सर्वज्ञ की व्याख्या के लिये होती है। आर्ष दर्शन में यह 'सर्वहितकारी सर्वज्ञ' ब्रह्म (बृंह्+मनिन्) है। और, यह मनोरूप है। कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। (ऋग्वेद) मनुस्मृति इसे ही स्पष्ट करती है- यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्। तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ (1.11)

मनःशक्ति अपने ज्ञातृत्व और कर्तृत्व दोनों में परतम है। इस तरह मन जहाँ सार्व का प्रतीक है वहाँ वह सर्वज्ञ का भी प्रतीक है। काव्यालंकार के रचयिता भामह ने इसे ही सार्व और सर्वज्ञ के रूप से मनसा-वाचा कर्मणा (मनोवाक्कायकर्मभिः) प्रणम्य कहा है। फिर वे काव्यनिर्माण के प्रयोजन से सन्दर्भित हो पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति के साथ-साथ कलाओं में प्रवीणता, एवं आनन्द और यश की प्राप्ति को भी प्रयोजन के रूप में गिनाते हैं। भाष्यकार प्रो० देवेन्द्र नाथ शर्मा ने 'सर्वज्ञ' पद से तीन अर्थ लिये हैं- 'सबकुछ जानेवाला', 'शङ्कर' और 'बुद्ध'। स्पष्ट है कि काव्य या अभिव्यक्ति आत्मा (सार्व) का विषय है। 'आत्मा' अपने-आपमें उपाधि-भेद से कर्ता, कर्म, और करण है। आत्मा, 'आत्मा' को आत्मा से जानता है। आत्मा आत्मना आत्मानं जानाति। 'आत्मा' ही परमार्थसत्य का द्रष्टा-ज्ञाता है। यह पूर्ण क्रियापुरुष स्वयं में ब्रह्म है। यह ऋषिरूप से द्रष्टा है; मनसकर्ता रूप से मनीषी; और व्याख्यातारूप से कवि है।

'कवि' आत्मवत् सार्व और सर्वज्ञरूप है । सार्व से सर्वकल्याण और सर्वत्र से क्रियापुरुष का बोध होता है । भामह ने काव्यालंकार का मंगल-श्लोक अपने इसी प्रणम्य को मनसा-वाचा-कर्मणा अपना प्रणाम अर्पित किया है-

प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः ।

भामह का मानना है कि सत्काव्य का निर्माण पुरुषार्थ-वृद्धि, कला-प्रवीणता के साथ-साथ प्रीत्यर्थ और कृत्यर्थ भी होता है ।

कवयित्री का मानना है कि सृष्टि का विकास प्रकारान्तरतः इन्हीं उपर्युक्त आधारभूत कारणों के लिये हुआ है । शक्ति की स्वचेतना इन लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन है । 'कारक'-दल क्रिया या शक्ति के ही कार्यकारी रूप हैं । ये कार्यकारी शक्त्यात्मरूप ही कार्यनिर्वाहक रूप से देवता कहलाते हैं । कार्यकारी शक्ति क्रिया-कारित्व का समन्वय होती है । क्रिया-कारित्व का समन्वितरूप ही कारक होता है । कारित्व सत् का निरूपक और कारकरूपों का कारण-तत्त्व है । ये कारक-तत्त्व क्रिया के कार्यात्मक लक्ष्य-प्राप्ति के साधन होते हैं ।

काव्य इस क्रियाशक्ति की कार्यकारिता की ही साक्षात्कृत व्याख्या है । उपर्युक्त पंक्ति में प्रीति शब्द औपनिषदिक वाक्-प्राण की मिथुनात्मक स्थिति को निरूपित करने के लिये है । भामह अद्वैत को क्रियारूप अर्थात् शक्तिरूप ही देखते हैं । **धर्मार्थकाममोक्षेषु** पद, वस्तुतः, पुरुषार्थ का और **मनोवाक्कायकर्मभिः** पद मन-वचन कर्म के समन्वय का अर्थ देता है । 'प्रीति' पद समन्वयक (काम) का और 'कीर्ति' पद अर्थरूप परिणाम या कार्य का अर्थ देते हैं ।

'कवि' का बहुश्रुत और बहुशास्त्रविद् होना अनिवार्य हैं । अभिव्यक्ति की सुचारुता ज्ञानमय कर्म और कर्म-सम्पुष्ट ज्ञान के बिना सम्भव नहीं । भामह इसे ही इन पंक्तियों में स्पष्ट करते हैं- **अधनस्येव दातृत्वं क्लीवस्येवास्त्रकौशलम् । अज्ञस्येव प्रगल्भत्वमकवेः शास्त्रवेदनम् ॥ विनयेन बिना का श्रीः का निशा शशिना विना । रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता ॥** (काव्यालंकार; 1. 3 एवं 4)

'अकवि' वह है, जिसमें आत्माभिव्यंजन शक्ति नहीं है । स्पष्ट है कि कवि में आत्माभिव्यंजन शक्ति का होना अनिवार्य है । जिस तरह निर्धन (अधन) का दातृत्व, क्लीव का अस्त्रकौशल, मूर्ख की प्रगल्भता व्यर्थ है उसी तरह अकवि का शास्त्र-ज्ञान भी व्यर्थ होता है । विनय के बिना जिस तरह ऐश्वर्य का कोई मूल्य नहीं उसी तरह निशा भी चन्द्रमा के बिना और वाग्विदग्धता सत्कवित्व के बिना ऐश्वर्यहीन है ।

कवित्वपूर्ण अभिव्यक्ति मनोसंयमन की अपेक्षा रखता है। हृदय का कारुण्य तभी उमड़ता है जब वास्तविकता के परमार्थसत्य का रहस्योद्घाटन होता है। परमार्थसत्य का रहस्योद्घाटन ही हमें सम्यक् रसस्नान करा पाता है। परमार्थसत्य की अभिव्यक्ति ही कवि के कवित्व का उद्देश्य है। 'प्रतिभा' परमार्थसत्य के उद्घाटन और उसकी आत्माभिव्यञ्जना में है। प्रतिभा कवि को समस्त जीवन-तत्त्व का साक्षात्कार कराती है। इस प्रतिभा, प्रज्ञा या प्रख्या के आनुसन्धानिक परिणाम की अभिव्यक्ति ही कवित्व है। यही कारण है कि प्रतिभा को एक 'उन्मेष' और 'उल्लेख' भी माना गया है तथा 'दर्शन' और 'वर्णन' का कारण भी।

'दर्शन' सत्यद्रष्टृ और 'काव्य' सत्यवाची है। कोई भी अभिव्यक्ति इनके बिना सम्भव नहीं। कवयित्री-लेखिका श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा ने अपने 'अभिव्यक्ति' शीर्षक आलेख में लिखा है– "**काव्य सत्यवाची है। सर्वकल्याण उसका मूल उद्देश्य रहा था, रहा है, और रहेगा।** (मानवी बनी मैं)

श्रीमती सिन्हा ने आगे लिखा है– "**शास्त्रज्ञ कवि अपने शास्त्रज्ञान** (अर्थात् शास्त्र की निर्मातृ या रचनात्मक अवधारणाओं) से स्वयं और जगत् को उद्वेलित और आह्लादित करने वाले भावों को ग्रहण करता है और उन्हें सात्त्विक दृष्टिकोण में अभिव्यक्त करता है। उसकी सात्त्विकता किसी भी अलङ्कार या छन्द की मोहताज नहीं होती। वह इनसे हटकर भी अपने को सरस भाव में व्यक्त कर सकता है। शायद यही कारण है कि संस्कृत साहित्य में काव्य-स्तर पर गद्य-पद्य का विभेद नहीं। वहाँ वह सब अभिव्यक्ति काव्य है, जिसमें काव्यस्वरूप का दर्शन होता है। संस्कृत साहित्य के आलोचकों ने तो "गद्य के द्वारा काव्यत्व-निष्पत्ति को अतिशय कठिन व्यापार माना है, जो गद्य कविनां निकषं वदन्ति –इस प्रसिद्ध उक्ति से स्पष्ट है। (निकष : = कसौटी) (वही पृ० xxxvii)।

स्पष्ट है कि 'ऋषि' 'क्रिया का द्रष्टा' और 'कवि' क्रिया-जगत् का द्रष्टा और प्रवक्ता दोनों है। 'क्रिया-जगत्', वस्तुतः, असीम-ससीम का निरूपक है। असीम का निरूपक 'असत्' अर्थात् 'अव्यक्त', वस्तुतः, क्रिया की असीमता का निरूपक है। 'असत्', अर्थात् अव्यक्त क्रिया, का द्रष्टा ऋषि जब क्रिया-जगत् के साक्षात्कृत परमार्थ सत्य को अभिव्यक्त करता है तो वह ऋषि 'कवि' कहलाता है। 'कवि' को ऋषि इसलिये कहा जाता है कि वह द्रष्टा अर्थात् 'साक्षात्कृत-धर्माण' भी होता है। पद्य में पद-समूह चार पादों में परस्पर, छन्दोबद्ध होते हैं; गद्य में ऐसा नहीं होता। वहाँ 'पाद' नहीं होते, अनुच्छेद (Paragraph) होते हैं। किन्तु साहित्यरूप से दोनों ही अनुबन्ध-चतुष्टय से अलग नहीं। वेदान्तसार की उक्ति है– **ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥**

गद्य-काव्य में छन्दबद्धता का अभाव होता । 'भाषा' विचार-प्रधान, मगर काव्यमय होती है । काव्य का विचार-प्रवाह, वाक् विदग्धता, बहुशास्त्रविदता, स्पष्ट वाग्मिता और सर्वकल्याण का भाव गद्य को काव्यमय बना जाता है । भामहबाद (Post Bhamaha) के काल में काव्य के जो छः प्रयोजन गिनाये गये हैं, वे है– यशप्राप्ति, अर्थलाभ, आचार-ज्ञान, अमंगल-निवारण, आनन्द एवं उपदेश ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है । धन-अर्जन कवित्व या ऋषित्व का लक्ष्य नहीं था । ऋषि निर्लोभ थे । भामहबाद काल के कवियों में अर्थप्राप्ति का विचार आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं । 'भामह' अपने मङ्गलाचरण में पुरुषार्थ सन्दर्भित अर्थ की चर्चा करते हैं, जबकि मम्मट अर्थलाभ की स्पष्ट बात करते हैं । भामह की उक्ति है– **धर्मार्थकामामोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च । प्रीतिं करोति कीर्त्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥**

मम्मट की उक्ति है– **काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥** (काव्यप्रकाशः 1.2)

इस तरह भामह ने जहाँ पुरुषार्थचतुष्टय के साथ कला-वैचक्षण्य, प्रीति कीर्त्ति एवं साधुता अर्थात् शुभता को भी काव्य का प्रयोजन माना है, वहाँ मम्मट ने काव्य-प्रयोजन में यश, अर्थ, व्यवहारज्ञान, अमङ्गल निवृत्ति, लोकेतर आनन्द और कान्ता-सम्मित उपदेश को महत्त्व दिया है । आगे हेमचन्द्र ने तो मात्र आनन्द, यश और कान्ता-सम्मित उपदेश को ही काव्य-प्रयोजन का अङ्ग माना है ।

काव्य 'स्वान्तः सुखाय' अर्थात् स्वयं के सुख के लिये हो ऐसा रचनाकार के लिये सम्भव हो सकता है; किन्तु रचनाकार बिना-विषय के तो रचना नहीं कर सकता । कवयित्री जीवनगत विषयों पर दर्शनपरक विचार प्रस्तुत करती हैं । 'दर्शन' जीवन को देखता है । ऐसे में जीवन से सम्बद्ध विषयों को कवयित्री ने सहजतः दार्शनिक आधार दिया है । ध्यातव्य है कि विज्ञान की अध्यापिका कवयित्री ने अपने शोध में कार्य-कारण नियम (Law of Causation) को आधार बना कर दर्शन के प्रचलित रूप के सन्दर्भ से आर्ष दर्शन (वैदिक दर्शन) का मूल्यांकन किया है; और हमें यह सोचने पर मजबूर कर दिया है कि हम अपने 'दर्शन के दर्शन' (Philosophy of Philosophy) में आज कहाँ गलत हैं । उनकी कविताएँ एवं उनके आलेख उनके इसी दृष्टिकोण के साक्ष्य हैं । उनका तथ्यगत शोध आज के परिप्रेक्ष्य में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । काव्य-रचना में मानववादी दार्शनिक कवयित्री श्रीमती सिन्हा सहजतः जीवन-देवता के प्रति समर्पित हैं । जीवन सम्बद्ध हर विषय पर उनकी कलम चली दीखती है । उनका गद्य भी अपनी अभिव्यक्ति में अपनी सरसता नहीं खोता ।

'मानवी बनी मैं', कवयित्री के दार्शनिक ऊहा-पोह का परिणाम है । अपनी काव्यात्मक रचनाओं में कवयित्री प्रयोगवादी कवियों के साथ हैं । दार्शनिक विषयों पर कार्य-कारण दर्शन-भाव से कवियों की कलम कम ही चली है । छन्दबन्धता विषय को या तो दुरूह बना जाती है अथवा कथानक को स्पष्टता नहीं दे पाती । प्रयोगवादिता में प्रवाह और विषय का गाम्भीर्य बनाये रखकर कवयित्री ने जहाँ अपनी रचनाओं को पठनीय बनाया है वहाँ विषय के गाम्भीर्य को भी दुरूह नहीं बनने दिया है । तुकबन्दिता से अच्छा है उन्मुक्त प्रवाह में अपनी अनुभूति को दूसरों तक पहुँचा देना । विशुद्ध दर्शन को विज्ञान-मात्र से ही अभिव्यक्ति किया जा सकता है, ऐसा नहीं है । 'विज्ञान', तथ्य-विश्लेषण विधा होने के कारण, दार्शनिक तथ्य को उज्जागरित करने का साधन मात्र है । पञ्चकोषीय आत्मा का चौथा कोष 'विज्ञानमय' ही है । 'विज्ञान' सार्वभौम और 'दर्शन' सार्वकालिक सत्य का उद्‌घाटक है । 'सार्वभौम' को आधार बनाकर दर्शन 'सार्वकालिक' अवधारणा को प्रस्तुत करता है । 'श्रुति' इन्हें ही ज्ञान के माध्यम से और 'स्मृति' आचार के माध्यम से लौकिक बनाती है ।

ध्यातव्य है कि काव्य-प्रयोजन में निबन्धनम् से अधिक महत्त्वपूर्ण निषेवणम् है; क्योंकि निबन्धनम् तो मात्र कवि से सम्बद्ध होता है, किन्तु निषेवणम् में कवि और पाठक अर्थात् निर्माण और श्रवण दोनों ही सम्मिलित होते हैं ।

कवयित्री श्रीमती प्रियंवदा का 'डॉक्टरेट' (Doctorate) का विषय ही 'मानववाद' जैसा वैश्विक विषय है । विश्वबन्धुत्व का आधार ठोस न हो तो विश्वबन्धुत्व का सपना ही न सजे । भारतीय दर्शन, विशेषतः आर्ष दर्शन, ने मानव की सार्वभौम सत्ता को अपने अद्वैतवाद के अवधारण से सम्पोषित किया है ।

'एकाकीपन मेरा' में कवियत्री का एकाकीपन अपने प्रवाह में मानवता की परम सत्ता को तलाशता है । --कवयित्री स्पष्ट होती हैं– मानव भी मानव है / मात्र मानवीय तत्त्व से; / मानवीय तत्त्व बिना / मानव ही दानव है । (एकाकीपन मेरा, पृ०- 50-51)

मानवता की पहचान, जो वेदों ने दी है उसे तो जैसे अर्वाचीन ने तोड़ ही दिया है । अद्रोहः सर्व भूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ की अवधारणा का अर्वाचीन द्वारा किये गये अन्त को ही कवयित्री ने जैसे अपनी इन पंक्तियों में देखा और दिखाया है– मगर, तुम्हें क्या हुआ, आज ! / जो रहते हुए सब कुछ, / घूमते हो दरिन्दों-सा, / हरते हो प्राण तुम / जान-बूझ, स्वार्थ में / अपने ही सहोदर का । (एकाकीपन मेरा; पृ० 72.73)

जीवन-प्रवाह की गति अपने-आपकी अभिव्यक्ति में सहजतः रसमय होती है; क्योंकि जीवन रसों के बीच ही पलता-बढ़ता है । मानवता अपनी अनुभूतियों से मानव को, मानव-व्यक्ति को रसों की अनुभूति देती ही आती है ।

निश्चय ही तुमने, / ओ अर्वाचीन !/परिष्कृत किया है / विज्ञान और सभ्यता को; / मगर, / इस कृत्य में तुम भूल-से गये / अपनी जननी के सरल सहज स्वभाव को; / और, तुमने गिरा-सा दिया है / अपनी ही मूल संस्कृति के मूल्य को; /कलंकित किया है / अपने ही निष्कलंक, निष्पाप आदिम मानवीय संस्कार को । / सम्भव है, / प्रकृति-वस्त्र पहन / घूमती रही होऊँ मैं, / अपने मानवीय रूप में, / सम्भव है, / बुभुक्षा मेरी मिटती रही हो / कच्चे जीव-मांस से; / पर, यह तो मजबूरियाँ थीं / मेरे तन की, समय और ज्ञान की ।(वही; पृ० 72)

'हाहाकार' शीर्षक से समाप्त 'एकाकीपन मेरा' कविता-संग्रह, एक आशा को हममें जगाता हुआ आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है । 'हाहाकार' के अन्त पर विश्वबन्धुत्व का दौर आता है । एकाकी कवयित्री का विकास मानवीरूप दार्शनिक में होता है । 'मानवी बनी मैं' की सारी कविताओं को आलोचकों ने 'दर्शन' की संज्ञा दे दी है । और ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो 'दर्शन' और 'साहित्य' को अलग-अलग मानते हों । साहित्य को 'दर्शन' से बिल्कुल अलग मानते हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वानों ने 'मानवी बनी मैं' की, एक आध कविताओं को छोड़, किसी भी कविता को साहित्य माना ही नहीं । (कम-से-कम उन विद्वानों ने जिन्होंने इस पुस्तक के लोकार्पण में और विचारगोष्ठी में सरीक हुए थे ।)

'मानववाद' की अध्येता श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा को शायद ही इसका भान रहा हो; क्योंकि 'दर्शन' को साहित्य की आदि-कड़ी के रूप में देखती कवयित्री ने कभी यह भी नहीं सोचा होगा कि कोई साहित्यकार बिन देखे भी साहित्य-रचना कर सकता है । 'सूर' ने भी अपनी सूरता में कृष्ण को अपने मनश्चक्षु से ही देखकर अपनी साहित्य-साधना पूरी की थी । 'साहित्य' को दर्शन की अभिव्यक्ति का साधन माननेवाली कवयित्री ने शायद अनजाने ही साहित्य के संकीर्ण होते हुए वितान को औचक ही दर्शन की विस्तीर्णता प्रदान कर दी है ।

वस्तुतः, प्रयोगवादी कवियों ने काव्य पर मात्र कला (संगीत, नृत्य, वाद्य चित्र इत्यादि) का अधिकार मानने से अस्वीकार किया है । अगर हम भामह से ही लेकर आज तक के आलोचकों के विचारों को देखें तो हमें विशिष्टता के नाम पर संकीर्ण होते दृष्टि-क्षेत्र का स्पष्ट बोध हो जाता है ।

कवि के ज्ञातव्य विषय के सन्दर्भ से भामह ने व्याकरण (शब्दानुशासन), छन्द, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोक-व्यवहार एवं युक्ति (तर्क और दर्शन) को कवि के लिये मन्तव्य माना है । इसका ज्ञान और अभ्यास ही कवि को सुकवि बना सकता है । भामह के शब्दों में **शब्दश्छन्दोभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथा ।**

लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी । शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम् । विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥ (काव्यालंकार 1.9 एवं 10)

अब अगर अलङ्कार की बात करें तो शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार में, भामह की अलङ्कार-अवधारणा के अन्तर्गत, दोनों का समन्वय ही उनका अभीष्ट है । भामह का मानना है कि काव्य-वस्तुतः, सौशब्द्य है । वे अर्थालङ्कार से, तुलना में, शब्दालङ्कार को अधिक प्रश्रय देते हैं । वस्तुतः, उनकी दृष्टि में अर्थालङ्कार रमणी के सौन्दर्य को आभूषण से सजाने जांने जैसा है । दूसरे शब्दों में भामह ने अर्थालङ्कार को आभूषण और शब्दालङ्कार को रमणी का शरीर-सौष्ठव माना है । इस तरह वे दोनों के समन्वय को प्रश्रय देते हैं ।

फलतः भामह का काव्य-विस्तार गद्य-पद्य का भेद भूल जाता है । यहाँ तक कि वे अपभ्रंश अर्थात् क्षेत्रीय भाषा को भी काव्य निर्माण योग्य मानने से नहीं हिचकते। **शब्दार्थौं सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा । संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥** (काव्यलंकार 1.16)

आज हम अपनी मातृभाषा में विज्ञान को पढ़ाये जाने की बात करते हैं । सत्येन्द्र नाथ बोस बङ्गला भाषा में एम.एससी (M.Sc.) के छात्रों को सापेक्षता का सिद्धान्त (Theory of Relativity) पढ़ाते थे । अभिव्यक्ति किसी भाषा विशिष्ट की मोहताज नहीं होती ।

भामह ने काव्य के भेदों को सूक्ष्मता से विस्तार दिया है । पहले तो उन्होंने काव्य के चार भेद किये हैं । वे हैं– देवों आदि के इतिवृत्त; कवि द्वारा कल्पित वस्तु; कलाश्रित वर्णन और शास्त्राश्रित वर्णन । कहा है– **वृत्त- देवादिचरिताशंसि चोत्पाद्यवस्तु च । कलाशास्त्राश्रयञ्चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः ॥** (काव्यलंकार 1.17)

'देव' की बात करते भामह 'दानव' और 'मानव' को नहीं छोड़ सकते; क्योंकि दानव और देवता की आभिव्यक्तिक शक्ति भी मानव ही है । कवयित्री श्रीमती सिन्हा के अनुसार 'देवता' जहाँ कार्यनिर्वाहक शक्ति का निरूपण करते हैं; वहाँ 'दानव' या 'असुर' कार्यकारी शरीरिक शक्ति का और 'मानव' मननात्मक शक्ति का निरूपण करते हैं । दानव और देवता का स्थान, वस्तुतः, मानव-शरीर में ही स्थित है । मन की इन्द्रियोन्मुखता 'दानव' की और मन की आत्मोन्मुखता देवत्व की परिचयिका है; जब कि मन की मननात्मकता स्वयं 'मानव' की परिचायिका । मानव-मन ही अपने संयमन में 'धर्म' (धृ+मन्) है । यह धर्म ही मन को मतिरूप (बुद्धिरूप) अर्थात् महत् तत्त्व सिद्ध करता है । महत् तत्त्व ही महाभूतों को धारण

करता और कार्यकारी बनाता है। यह 'मन' ही सृष्टि-विकास और सृष्टि-संचालन का कारण है। यह वह प्रथम कार्यकारी शक्ति है, जो शिवःरूप से चेतनमय सम्पूर्ण सृष्टि को विकसित करता है। 'शिव' शक्तिमान्‌रूप से कार्यकारी पुरुष है; किन्तु इसकी (शक्तिमान् की) कारण-शक्ति तो स्वयं शक्ति है, जो अपने कारणरूप से शक्तिमान् में शक्ति और शक्त की समन्विति बनी होती है। इन्हें ऋषियों ने क्रमशः क्रिया और कारित्व के रूपों में देखा है।

इस तरह कार्य का कारणरूप शक्तिगत होता है। यह शक्तिगत पहचान ही मम्मट की वह कान्ता अथवा ऋग्वेद की वह नायिका है, जो कर्तव्य कर्मों का उपदेश (उप आदेश) शरीररूप कारक या वाचक को देती है। नायिका-नायक भेद, वस्तुतः क्रिया और कार्यकारी क्रियाशक्ति के रूप में प्रकट होता है। शक्ति और शक्तिमान् का भेद कारण और कार्य का ही भेद है। कार्यरूप शक्तिमान् कारणरूप शक्ति से अभेदित नहीं, वरन् कार्य-कारणरूप से विभेदित है। ऋग्वेद का ऋषि इस विभेद को देखता जानता है। वह पूर्णता के पूर्ण विकास का द्रष्टा-ज्ञाता है। शक्तिमान्, वस्तुतः, कार्यकारी स्थूल द्रव्यात्मक सृष्टि के विकास का कारण है। वह स्वयं में अपना कारण नहीं; क्योंकि अपनी कार्यकारिता में वह सत्-असत् की समन्विति है। श्रीमती सिन्हा के अनुसार इस सत्-असत् का भी कारण है, जिसे ऋग्वेद ने 'तत्' कहा है। 'तत्' विशुद्ध क्रियारूप है जो कार्यकारी नहीं है। यह सृष्टि-विकास (सिसृक्षा) के क्रम में क्रियाशील और कार्यशील होता है।

'मानवी बनी मैं' की दार्शनिक कविताएँ 'मन-मानव' के विकास और उसकी कार्यकारिता को देखते-समझते हुए वैश्विक दर्शन के अभ्युदय की ओर उन्मुख होने की गाथा है। 'मानवी बनी मैं', वस्तुतः, आर्ष दर्शन की गाथात्मक अभिव्यक्ति है।

भामह जहाँ देवों की इतिवृत्त को काव्य का विषय मानते हैं, वहाँ वे दार्शनिक युक्ति को भी काव्याभिव्यक्ति का अङ्ग मानते हैं। दर्शन की अभिव्यक्ति में **शब्दार्थौ सहितौ काव्यं** के साथ **शब्दार्थौ स-हितौ काव्यं** का भी महत्त्व निहित होता है। 'सहित' और 'स-हित' (हितकारी) में यथार्थता का अन्तर आता है। 'सहित' कल्पना-प्रसूति का कारण होता हुआ हित की उपेक्षा का कारण भी होता या हो सकता है; किन्तु यथार्थता अर्थात् परमार्थसत्य से हितार्थ का ही बोध होता है।

आधिभौतिकता और आधिदैविकता को अपनी-अपनी व्याख्याओं के लिये उपमा-उपमेयों की अपेक्षा होती है; आध्यात्मिकता को इसकी अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि अध्यात्म भौतिक और दैविक की समन्विति का पणिाम है और वह दोनों का द्रष्टा-ज्ञाता है। वह मानवीय मनोशरीर है। 'अध्यात्म' यथार्थ का प्रवक्ता है।

आध्यात्मिक अभिव्यक्ति में सगुण उपासक अपने अन्ध भक्ति-भाव में यथार्थता से बहुत दूर चला जाता है। कार्यात्मक वर्णव्यवस्था जात्यात्मक व्यवस्था से और ज्ञानमय कर्म जाति-कर्म से सम्बद्ध हो जाता है। पुरुषार्थ भाग्य में बदल जाता है। मनोदेव लोकेतर होकर हमारा भाग्यविधाता हो जाता है। मन की धृति और इन्द्रियों का संयमन मानव से हटकर उसे प्राण और शरीर अर्थात् इन्द्रियों के प्रति मोहग्रस्त होने के लिये छोड़ देते हैं। प्राण की रक्षा और ऐन्द्रियक भोग 'मानव' को दानव या असुर बना जाता है। ऐसे में 'दुर्योधन की यह स्पष्टोक्ति ही सत्य सिद्ध होती है– जानामि धर्मं न च में प्रवृत्ति जानाम्यधर्मं न च में निवृत्ति। केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

अर्थात् "मैं धर्म को जानता हूँ, किन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं। मैं अधर्म को भी जानता हूँ, किन्तु उससे मेरी निवृत्ति नहीं। कोई देवता, जो मेरे हृदय स्थान में बैठा मुझे जिस काम पर लगाता है मैं वही करता हूँ।"

स्पष्ट है कि दुर्योधन का यह मनोदव न तो स्वयं नियन्त्रित है और न ही वह इन्द्रियों का नियन्त्रक बन पाया है। मन जब इन्द्रियोन्मुख होता है तो वह मानवी प्रवृत्ति से दूर हो, आसुरी प्रवृत्ति का हो जाता है।

'एकाकीपना' व्यक्ति को मानवी (मननशील) बना जाता है। उसे सृष्टि का हर कण कार्यकारी ही लगता है। शक्ति अपने कार्यकारी रूप में सर्वत्र व्याप्त दीख पड़ता है। हर कण मानव-पुरुष की तरह कार्यकारी बना दीखता है। मन की नित्यता में मन-मानवरूप कारणपुरुष सर्वत्र विज्ञाता-भाव से कार्यशील होता है। यह कार्यकारी शक्ति अपने सत् (शक्त) और असत् (शक्ति) रूपों में वैद्युतिक आवेशरूप में समन्विति होकर कार्यकारी सत्ता का निर्माण करता है। यह सत्ता ही कार्यकारी सत्य या परमार्थसत्य है।

मानव, वस्तुतः, दम-दया-दान की समन्विति में ही देवत्व, दानवत्व और मानवत्व प्राप्त करता हुआ विश्व-बन्धुत्व का सार्वरूप धारण कर पाता है। कवयित्री लिखती हैं– व्यक्ति का जीवन जब / सार्वमय होता है, / 'तस्मै हितम्' का अर्थ ले / तब जीता वह सार्व में। (मानवी बनी मैं, पृ० 3)

कवयित्री वेद और प्रस्थानत्रय की अध्येता हैं। वे वाक्-प्राण समन्वय की उपासिका भी हैं। इस रूप में वे शाश्वतीरूपा हैं। वे जानती हैं कि पृथ्वी (शाश्वती) ही प्राणियों का रस है। 'रस' को प्राणियों का उत्पत्ति, स्थिति और लय का स्थान कहा गया है। (छा० उप० 1.1.2)। यहाँ कवयित्री की साहित्य-साधना रवीन्द्र की साहित्य-साधना का रूप लेती है। दोनों की साहित्य -साधना में औपनिषदिक पुरुष का ज्ञान महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

रस के सन्दर्भ से पृथ्वी का रस जल है; जल का रस औषधियाँ, औषधियों का रस पुरुष है; पुरुष का रस वाक् है; वाक् का रस ऋक् है; ऋक् का रस साम है और साम का रस उद्गीथ है । पृथ्वी से लेकर उद्गीथ तक में उद्गीथ आठवाँ रस है । इस रूप में उद्गीथ रसतम है ।

ऋक् को वाक् का तथा साम को प्राण का निरूपक कहा गया है । 'ऊँ' को उद्गीथ कहा है । वाक् और प्राण के समन्वयन से उद्गीथ का विकास होता है। वाक् और प्राण को परस्पर मिथुन अर्थात् 'पूरक जोड़ा' कहा गया है । कवयित्री अपनी अभिव्यक्ति में स्पष्ट होती है– **अनुभूति लोक या सार्व की, / है ज्ञान, मीत / जीवत्व का; / जीवत्व के ज्ञान में / है ज्ञान-बीज ब्रह्म का । / जीवन का गीत, मीत ! / उद्गीथ है शक्ति का; / उद्गीत बन गाता है / गान यहाँ सार्वरूप 'साम' का** (वही, पृ० 5)

फिर कहा है– **समन्विति ज्ञान-कर्म की / समन्विति है 'सरगम' की;/ 'सरगम' की समन्विति में / गायन है 'साम' का । / 'साम' का गायन, मन !/समन्वय है 'सरगम' का; / 'सरगम' भी सरगम है/ समता-स्वतन्त्रता/सौहार्द का ।** (वही, पृ० 6)

कवयित्री को दुःख है कि आज का व्यक्ति दम-दया-दान को भूल अपने को अज्ञान, अनर्थ, दुष्कर्म का रूप दे बैठा है– **भूला-सा अर्थ लिये / व्यक्ति आज जी रहा; / याद उसे आज नहीं / दम दया दान का । / अर्थ को अनर्थ कर/ व्यक्ति का दुष्कर्म ही / कारण बन घूमता है / आज मानवीय ह्रास का ।** (वही, पृ० 7-8)

कवयित्री निराशावादी कभी नहीं रहीं । सकारात्मक सोच कवयित्री को निश्चितदर्शी बना गया है । नकारात्मकता संशय को जन्म देती है । नकारात्मक व्यक्तित्व यथार्थ को देखने में सफल नहीं होता । व्यक्ति अपने 'धृ+मन्' रूप धर्म से ही मानवी, धर्मी, शरीरी या क्षेत्रज्ञ है । कवयित्री व्यक्ति से अपेक्षा रखती हैं कि वह अपने भीतर सोये इसी मानवी या शरीरी को जगाये । उनके अुनसार यह मन-मानव ही दर्शन का विषय है । कवयित्री लिखती हैं– **छोड़ हाथ अनर्थ का/ जीना है यथार्थ में; / ढूँढ़ना है आज, मन !/ विहँसित मन मानव का ।** (वही, पृ० 8)

फिर लिखा है– **दर्शन मनुज का मनुज के लिये है; / दर्शन मनुज का मनुज से है, राजन् ।** (वही, पृ० 10)

कवयित्री जब परम्परा की बात करती हैं तो वह आचारिक परम्परा से अलग सृष्टिगत परम्परा अर्थात् प्राकृतिक परम्परा, जो कि प्रकृति में ऋतुओं के रूप में, जीवों

में आनुवंशिकी के रूप में और वस्तुओं में वैकासिकी के रूप में प्रकट होती है, की बात करती हैं । उनकी उक्ति है- इतिहास बन जीती / मार्गदर्शिकारूप विकास की, / तुम्हारे जीवन-हार में / बेमिसाल लड़ियों में पिरोये / मन-बुद्धि-अहङ्कार-चित्तरूप / वे अनमोल मोती के दाने, / धरोहर हैं वास्तुरूप / परम्पराएँ ही तुम्हारी । (वही, पृ० 11)

फिर कहा है– सच, सृष्टि का स्वरूप ही / है कहानी एक / वैश्विक परम्परा की । (वही, पृ० 12)

सृष्टि एक है और वही समाजरूप है; क्योंकि वह शक्ति की द्रव्यगत अभिव्यक्ति है । ऐसे में 'लेखनी' भी कवयित्री की कलम से ब्रह्मरूप धारण करती है– लेखनी ! / तू निज में सगुण ब्रह्मरूप / स्रष्टा, रचयिता है; / ज्ञानमय कर्मधर्मा तू / अक्स है परब्रह्म का; / लेखनी ! / तू जीवन है उस / परमसत्य, परमज्ञानी का । (वही पृ० 13-14)

नमन तुम्हें, हे भारत् ! शीर्षक कविता में कवयित्री श्रीमती सिन्हा का 'भारत', वस्तुतः, वैश्विक बन्धुत्व का निरूपक है । 'भारत' नाम है उस कार्यकारी का, जो 'धीरज', 'साहस' और 'तरुणायी' की समन्विति में उभरता है । उनकी उक्ति है– माँ भाई बहना सब ही तुम, / तुम धरती बन माता हो; / आकाशरूप तुम पितृ सभी के / दिक्पाल बने तुम रक्षक हो । (वही पृ० 16)

ऋषि-दृष्टि 'मनस्' को सम्पूर्ण सृष्टि के कारणरूप में देखती है । यह सृष्टि विकासशील, वृद्धिशील और मननशील मनस्रूप क्रियाशक्ति की विकसिति है । कवयित्री ने इस मनस्शक्ति की क्रियाशीलता-कार्यशीलता को अपने जीव विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन विज्ञान और जीवन विज्ञान के ज्ञान और अनुभवों को अपने हृदय में सँजोकर, सँवारकर देखा-समझा और अभिव्यक्त किया है । अपनी अभिव्यक्ति में उन्होंने सार्व का दामन कभी-भी कहीं-भी नहीं छोड़ा है । 'एकाकी' का एक-एक अपनी अनेकता में उन्हें सार्व से अलग भी नहीं होने देता । फलतः एकाकीपन का एक 'मानवी बनी मैं' के मानवीरूप सार्व से कभी अलग नहीं हो सका; और परिणामतः सब ओर मोती-ही-मोती नजर आये; कहीं पिरोये, कहीं बिखरे और कहीं अपने गर्भस्थल में । सृष्टि इससे भिन्न नहीं । ऐस्टेरॉयड्स (Asteroids), लोकमण्डल (universe), मिल्कीवे (Milky way) आकाश-पटल पर सार्व का ही तो चित्रण कर रहे हैं कवयित्री के दृष्टिगत-क्षेत्र में।

'शक्ति' अशुभ नहीं होती, शक्ति का उपयोग अशुभ हो सकता है । कवयित्री स्पष्ट है– शुभ्र ज्ञानमय मन-जीवन, मीते ! / मानव के मन्मय रूपक हैं / मन्मयरूप, मनमीते ! जग में / भाव-सत्त्व जगरूपक हैं । (वही, पृ० 20)

क्रिया-कारित्व का कारणरूप शक्ति कार्यरूप कार्यकारी शरीर में ही क्रियामय द्रव्यरूप से स्थित है । द्रव्य संचित शक्ति है । इस तरह द्रव्यरूप संचित शक्ति का संचरण द्रव्यशक्ति के ही माध्यम से सम्भव होता है । मुझमें उसका ही जीवन है में कवयित्री ने इसी कारण-कार्य सम्बन्ध को समझा है । 'कारण' कार्य से या कार्य कारण से अलग नहीं रहता । उक्ति को देखें– मैं दूर कहाँ जाऊँ उससे ?/वह तो हर रोम बसा मेरे; / श्वासों में रहता हरपल मेरे, / प्रियतम ! वह मेरा प्रियतम है । (वही, पृ० 21)

फिर कहा है– है मुझसे ही दुनियाँ उसकी, / मुझसे ही उसका है जीवन; / है ऐश्वर्य वही मेरा प्रियतम ! / मुझसे ही उसका जीवन है । (वही, पृ० 22)

'मानव-व्यक्ति' शरीर से एकाकी हो सकता है, मन से नहीं । मन से तो वह सार्व का प्रतीक है । शरीर से व्यक्ति नश्वर है, किन्तु मन से वह नित्यधर्मा है । ब्रह्मरूप से सब को देखता-जानता है । वह मात्र अपने लिये नहीं होता । कवयित्री स्पष्ट होती हैं– अपने लिये जीना, / जीना नहीं जीवन का, / अपने लिये मरना / वरण नहीं मृत्यु का; / जीवन-मरण नियम हैं शाश्वत-/जानता है हर कण इस शाश्वती का । (मानवी बनी मैं; पृ० 23)

फिर आगे कहा है– 'जीवन' समष्टि है सत्त्व-आत्मा-शरीर का; / 'जीवन' रूप है 'चेतन-अवचेतन-अचेतन' आत्म-शक्ति का; / अपने-आपमें पूर्ण, / 'जीवन' सजग प्रहरी है / सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का । / मनन-चिन्तन-विवेक / जब जीते हैं जीवन में, / पैदा होता है 'मानव' / स्वयं मनन की कोख से; / 'मानव' जब जीता है जीवन में, / वह निष्पक्ष-भाव जीता है /जीवन भी मानव का । (वही; पृ० 23.24)

और 'एकाकीपन मेरा' की कवयित्री दर्शन के क्रिया-पुरुष को पहचानती हुई अपनी मानवी-पहचान को रूप देती कहती है– मेरे मन ! तू एकाकी नहीं, / तू तो परमात्मरूप है; मनन का मालिक ! तू / मानव का रूप है; / तभी तो,/ वह परमात्मा भी धारता है रूप तेरा, / एक पुरुष का, एक 'मानव' का । (वही, पृ० 25.26)

'मानवी बनी मैं' की अन्य कविताएँ– सभी ही यहाँ हैं सबों के लिये; विदेह; क्या दर्शन के प्रश्न अनुत्तरित ही रह जायेंगे ?; शक्ति है परमब्रह्मरूप; सृष्टि; विचार सार्वभौम का; भाव-जग; मानव; विडम्बना है व्यक्ति की; विज्ञाता वह सर्वशक्तिमान्; निर्झरिणी-जिन्दगी; कालगति; कवि-कल्पना का;

पलक-बीच पुतली; धर्म; समस्या जीवन की; परम अर्थ लेकर; जीवत्व की अवधारणा में; सहज; निरपेक्ष; सापेक्ष; स्रष्टा; दर्द; दीया जले सारी-सारी रैन; कान्हा ! तुझ बिन; महामानव; वर्तमान तो बस कर्म है भी कवयित्री के एकाकीपन अर्थात वैयक्तिक दृष्टि के सामञ्जस्य से उभड़े मानवीरूप की कहानी कहती हैं ।

वस्तुतः, एकाकीपन का स्वदर्शन ही सार्वदर्शन के रूप में मानव-दर्शन बनता है; और यह मानव-दर्शन ही अद्रोहः सर्व भूतेषु से परमार्थ दर्शन का रूप लेता है।

एकाकी व्यक्ति जब मानव बनने को अग्रसर होता है, वह अपने क्रियात्मरूप को पहचानने लगता है । उसकी संयमित ज्ञानेन्द्रियाँ स्थान-भेद से कर्मेन्द्रियों की कर्मशीलता का विश्लेषण करती हुई परमार्थकारी सत्य को पहचानने लगती हैं । 'मानवी बनी मैं' के माध्यम से कवयित्री ने मानव दर्शन को कवित्व-प्रवाह में हमारे समक्ष रखा है ।

'मानवी बनी मैं' की कवियत्री अपने सकारात्मक चिन्तन में जीवन की हर समस्या का सकारात्मक निदान देती हैं । अनेक की एकता का रूप दिखाती कवयित्री निरपेक्ष की नित्यता को स्पष्ट करती हैं । अमूर्त निरपेक्ष को ही सम्पूर्ण सृष्टि का कारण सिद्ध करती हैं । उनका यह निरपेक्ष लोकेतर नहीं, स्वयं लोकों का कारण बना लोकों में ही समवायी अर्थात् सर्वत्ररूप से व्याप्त है ।

'मानवी बनी मैं' की कविताएँ 'आर्ष दर्शन' को एक कवित्व-प्रवाह में प्रस्तुत करती हैं । कवयित्री ने आज की प्रासंगिकता में आर्ष दर्शन को प्रस्तुत करने का भरपूर प्रयास किया है । उनका यह प्रयास काव्य और गद्य दोनों में हुआ है । उनके कवित्व ने गद्य का और गद्य ने कवित्व का साथ दिया है । 'निरपेक्ष' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में आज के लिये कवयित्री के सकारात्मक संदेश को देखें– **गौण होता निरपेक्ष, मीत ! सापेक्षमय सृष्टि में; / है देख रहा दृश्य मीत ! / क्रमिक विनाश सृष्टि का ।**

* * * * *

देखते हम सापेक्ष को सापेक्ष के रूप में; / सापेक्ष में देखते नहीं रूप उस निरपेक्ष का । / 'अनेक' नहीं न-कार, मीत ! यहाँ किसी एका का; / वह तो एक-एक में / है रूप मात्र एक का ।

* * * * *

सापेक्षगत वस्तु हर, / शक्ति का रूप है; / शक्ति के रूप में है / रूप वह निरपेक्ष का । / 'कर्म' का आधार बना / सापेक्ष कर्म-हेतुक, मीत!/

कर्म-हेतुक रूप वह / है भावरूप निरपेक्ष का । (मानवी बनी मैं; पृ० 116-117)

'महामानव' शीर्षक कविता में 'बुद्ध' के चरित्र को कवयित्री ने 'कार्य-कारण' के विज्ञाता-व्याख्याता के आधार पर स्वीकार किया है । उनकी उक्ति है– **दिक्-काल की एकता में / खोजा था बुद्ध ने / 'कार्य-कारण'-सम्बन्ध को;/ देखा था उसकी / सर्वत्रता-सर्वव्यापकता को; / देखा था वहाँ ही / उस सर्वज्ञता को, / जिसकी उन्हें तलाश थी ।**

* * * * *

अस्सी वर्षीय बुद्ध जब सोये थे / महापरिनिर्वाण की गोद में / मुखः कान्ति में छटा थी / पूर्णतः पूर्णशान्ति की; / आभा थी / पूर्ण आत्मविश्वास की; सन्तुष्टि थी / पूर्णता में पूर्ण को देखने-भोगने की । (वही पृ० 129-130)

मानवी बनी मैं की अन्तिम कविता के रूप में वर्तमान तो बस कर्म है का चयन किया गया है और इसका अन्त 'परमार्थ' की निष्कामना-सिद्धि से हुआ है । यह परमार्थ ही कवयित्री के अगले संकलन 'बिखरे मोती' का मुख्य विषय बनता है ।

बिखरे मोती का 'चिन्तना' शीर्षक आलेख कवयित्री की चिन्तना शक्ति को ऊर्ध्वमुखी विस्तार देता नजर आता है । इस संकलन की पहली कविता जिन्दगी गीतिका है में कवयित्री जिन्दगी को उस गतिरूप में देखती हैं, जो शक्ति की मौलिकता है । द्रव्यता तो उस गति को कार्यरूप ही दे पाती है ।

इस संकलन में मानवीरूप कवयित्री मानव के विकास को बुद्धरूप से विकसित होते और उसके व्याख्याता या प्रवक्ता को 'आदिकवि' के रूप में प्रस्तुत होते देखती हैं । 'आदिकवि' इस संकलन की अन्तिम कविता है ।

'एकाकीपन मेरा' से 'बिखरे मोती' तक की कवयत्री की कवित्व-यात्रा निश्चय ही क्रौञ्चवध से उद्भूत आदिकवि की विकसिति की गाथा को ही प्रस्तुत करती है । 'मानव' की मननशीलता उसके मानवी शक्ति के उद्बोधन में निहित होती है । 'क्रौञ्चवध' से जहाँ राम-गाथा को अभिव्यक्ति मिली है, वहाँ 'मानवता' या 'मानवी'-अनुसन्धान ने श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा को आर्ष दर्शन का व्याख्याता बना दिया है । दोनों ही स्थितियाँ पुरुषोत्तम राम की खोज को ही प्रश्रय देती हैं । 'राम' की व्याख्या, जहाँ सीता के मानवीरूप से ही हो पाती है, वहाँ 'मानव' की व्याख्या स्वयं मानवीशक्ति से ही हो पाती है । मानवीशक्ति, वस्तुतः, 'ज्ञानमय कर्म' और 'कर्मसम्पुष्ट ज्ञान' की धरोहर है । 'मानव' इस मानवीशक्ति की ही कार्यकारी पहचान है ।

'वाक् विदग्धता' को विद्वत्ता या चातुर्य का पर्याय भले ही माना जाय, वस्तुत:, वह कारुण्य का निरूपक है। एक करुणामयी मानवी ही व्यक्ति को मानव बना पाती है। वाग्विदग्धता संवेदना का आभिव्यक्तिक रूप है और स्वयं विदग्धता संवेदना अर्थात् कारुण्य का निरूपक।

आदिकवि ने कौञ्च के विछोह से कारुण्य का पाठ पढ़ा था और कवयित्री श्रीमती प्रियंवदा समाज में नारी-मूल्य के गिरते स्तर को देखकर द्रवित हैं। आदिशक्ति कही जानेवाली नारी-शक्ति का मूल्य आधुनिक काल में मोटर, मोपेड, फ्रीज टेलिविजन आदि के स्तर पर उतर आया है। नारी, पढ़ी-लिखी हो या मूर्ख, नारीत्व के दार्शनिक मूल्य को समझने-समझाने की जैसी क्षमता ही भूल बैठी है। दार्शनिक-कवयित्री श्रीमती प्रियंवदा ने जैसे अपनी कृतियों के माध्यम से उन्हें दार्शनिक दृष्टि देने का सफल प्रयास किया है।

वस्तुत:, विद्रोह या द्रवण ही करुणा का जनक है। इस तरह करुण रस ही सब रसों का कारण है। 'करुणा' बहुविध उद्दीपन का कारण है। करुणा न हो तो भावाभिव्यक्ति को वाणी (वाक्) नहीं मिलती, शब्द नहीं मिलते। भावाभिव्यक्ति, इस तरह, प्राणमय दर्शन को करुणामय 'वाक्' प्रदान करती है।

दर्शन सत्त्व से सम्बद्ध है और अभिव्यक्ति 'रज' और 'तम' से। इस तरह सत्त्व की सात्त्विक अभिव्यक्ति में रज और तम दोनों को सत्त्वप्रधान होना पड़ता है। श्रीमती प्रियंवदा की अभिव्यक्ति इस सात्त्विक प्रधानता को कभी नहीं छोड़ती।

श्रीमती प्रियवंदा की पहली कविता 'नारी मूल्य' ही है। करुणा-प्रधान होने से इसमें जहाँ आक्रोश है, वहाँ शान्तता का सम्यक् समन्वय भी है।

जीवन अपने आभ्युदयिक पथ पर कारुण्यमय होकर ही आगे बढ़ पाता है। शृंगार जहाँ उत्साह देता है वहाँ इन्तजार का कारण भी बनता हुआ शोकाकुल कर जाता है; किन्तु विभत्सता, हास्य या क्रोध का कारण नहीं बनता, शान्त ही रखता है। श्रीमती सिन्हा का व्यक्तित्व कारुण्य-प्रधान होने से पारिवारिक, सामाजिक एवं तथाकथित साम्प्रदायिक विभाजनों में भी शान्तिप्रधान ही रहा था। उनकी मृत्यु भी उनके बुद्धत्वप्राप्त व्यक्तित्व को ही उद्भासित कर गयी। उनकी एक कविता का यह अंश उनके व्यक्तित्व पर भी लागू होता सिद्ध हुआ– अस्सी-वर्षीय 'बुद्ध' जब सोये थे / महापरिनिर्वाण की गोद में, / मुखःकान्ति में छटा थी / पूर्णतः 'पूर्ण' शान्ति की; / आभा थी पूर्ण आत्मविश्वास की; / सन्तुष्टि थी / 'पूर्णता' में 'पूर्ण' को देखने-भोगने की। (महामानव : मानवी बनी मैं; पृ॰ 130)

"वर्तमान तो बस कर्म है" (मानवी बनी मैं, पृ॰ 131) उनके व्यक्तित्व-विकास का मूलमन्त्र सिद्ध हुआ। उनकी उक्ति को देखें– तू जीता नहीं 'भूत' में,/

भविष्य में नहीं जीता तू; / हर पल के वर्तमान में / जीता हुआ, व्यक्ति ! तू/ 'कर्म' ही करता हुआ / 'कर्म' को जीता है । (वही, पृ० 131)

डा० सतीशराज पुष्करणा ने 'बिखरे मोती' प्रस्तुति (कवर पृष्ठ) में लिखा है– वाक्शक्ति की पहली शर्त भी है– अमंगल-निवृत्ति । अमंगल-निवृत्ति की साधिका प्रियंवदा सिन्हा को इस प्रस्तुती में उनकी कविताओं को बिखरे मोतियों की तरह सहेज और पिरोकर एक ऐसी सार्थक जीवनमाला तैयार की गयी है, जो स्वयं में विद्वत् पाठकों के स्वागत की अधिकारिणी है ।

वस्तुतः, 'मानवी' रस-साम्य में जीती है; करुणा उसका मुख्य स्वरूप है; और, वह स्वयं परमार्थसत्य की द्रष्टृशक्ति है । श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा का यही 'मानवी'-व्यक्तित्व आर्षदर्शन को उनके साहित्य में उजागर करा पाया है । 'एकाकीपन मेरा', 'मानवी बनी मैं', 'बिखरे मोती', 'मन-मानव', 'आर्ष द्रष्टृत्व' 'सत्-असत्', 'द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः एवं पुत्र पीयूष को कहे उनके औपनिषदिक आख्यान इसी के साक्ष्य हैं । ऐसे व्यक्तित्व को हमारा कोटि-कोटि नमन ।

डा० स्वर्ण किरण (पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, किसान कॉलेज, सोहसाराय) ने 'बिखरे मोती' के अपने 'उपोद्घात' में संकलन की कविताओं पर एक विहङ्गम दृष्टि डाली है । अन्त में लिखा है– आत्मज्ञान आत्म-आत्मेतर उन्नति का, वस्तुतः, आधार-माध्यम है ।

डा० स्वर्ण किरण ने आगे लिखा है– कवयित्री का काव्य 'बिखरे मोती' निश्चय ही बौद्धिक विलास मात्र नहीं है । वक्रतुण्ड आलोचक भले इसमें 'बौद्धिक आतंकवाद' के दर्शन करें पर यह कवयित्री के जीवन की सर्व-साधना का नवनीत-संग्रह मालूम पड़ता है । आज के लोग-बाग का अधःपतन कवयित्री की चिन्ता के मूल कारण हैं । मन और मनःक्रिया की स्वस्थता अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसी के द्वारा कवि-कवयित्री या किसी के प्रति आकर्षण होना सम्भव है । केवल आम आदमी के दुःख दर्द की चिन्ता 'प्रगतिवाद' के समर्थक कवियों, लेखकों का विषय हो सकता है, पर आम आदमी के साथ 'स्व' के सर्वांगीण विकास पर कवयित्री का ध्यान 'प्रगतिवादी कवियों' से बीस ही साबित होता है । प्रकृति-जगत् में चेतन सत्ता का देखना किसी दार्शनिक के लिये मुश्किल नहीं है, पर इसकी ओर आकर्षण, इसके प्रति मौन प्रणय-निवेदन, इसके माध्यम से जीवन को जीवन्त बनाने की कामना, अधिक महत्त्वपूर्ण है । कवयित्री भारतीय मनीषा को अधिक महत्त्व देती है– मनःदर्शन और स-हितता को भारतीय मनीषा के रूप में स्वीकार करती है । ...दार्शनिक कविताएँ लिखकर कवयित्री ने कविता-जगत् को,

वास्तव में, विस्तारित किया है, भले पारिभाषिक शब्द कुछ भावकों अथवा संवेदनशील व्यक्तियों के लिये अपाच्य या दुष्पाच्य प्रतीत होते हों, पर कुल मिलाकर कवयित्री की अभिव्यक्ति और ज्ञान-क्षितिज के प्रति दाँतों तले उँगली दबाने को विवश करता है । आशा ही नहीं, विश्वास है, 'संग्रह' कविता के आलोचकों के प्रति विचार का विषय बनेगा ।

डा० स्वर्ण-किरण के निष्पक्ष विचार अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण हैं ।

नारी-शक्ति की गरिमा समाज के हर वर्ग के अभ्युदय के कारणरूप में विभाषित होती है । अध्यापिका कवयित्री जहाँ अपने दर्शन-ज्ञान से बौद्धिक समाज को आभ्युदयिक मार्ग पर लाने का प्रयास करती हैं, वहाँ उन्होंने अपने सेवा-भाव से समाज के हर तबके को सहारा देने का प्रयास भी किया है । वस्तुतः, ऋण-त्रय से विमुक्ति का मार्ग उन्होंने अपने परिवार के लिये प्रशस्त करते हुए स्वयं अपने लिये बुद्ध-सा महापरिनिर्वाण का ही वरण भी किया ।

'मानवी बनी मैं' के 'कवि-परिचय' में डा० मिथिलेशकुमारी मिश्र ने लिखा है– यद्यपि हृद्य भाषा-शैली में की हुई अभिव्यक्ति ही साहित्य है, तथापि क्षेनोफनेस और हिरेक्लिस ने कहा, ''दर्शन में सत्य एवं ज्ञान, तथा साहित्य में जनमत का संघर्ष है । अर्थात् साहित्य और दर्शन दोनों एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हैं । किन्तु ऐसा है नहीं । दर्शन तो साहित्य को और अधिक समृद्ध करता है।

कवयित्री की रचना 'एकाकीपन मेरा' के प्रस्तोता डा० चन्द्रेश्वर कर्ण ने 'प्रियंवदा सिन्हा की कविता' शीर्षक भूमिका में लिखा है– इस संग्रह की कविताएँ आत्मपीड़ा से शुरू होकर विश्वशान्ति की कामना में विसर्जित होती हैं । इसका फलक अत्यन्त विस्तृत है जो कवयित्री के विस्तृत चिन्तन-फलक का साक्ष्य है ।

'एकाकीपन मेरा' में प्रस्तुत श्रीमती प्रियंवदा का 'आत्मकथ्य' उन्हें जैसे बचपन से ही कवि-मन दार्शनिक होने का साक्ष्य प्रस्तुत करता है । आत्मपीड़ा जैसे उनके स्व को सार्वरूप देने का कारण बना दृष्टिगोचर होता है । चिन्ता और चिन्तना जहाँ मनश्चित्त का विषय है, वहाँ विचारणा और विचार मनःआत्मा का विषय । दोनों का समन्वय ही एक साहित्यकार-दार्शनिक या दार्शनिक-साहित्यकार का व्यक्तित्व विकसित करता है । श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा ऐसे ही व्यक्तित्व का नाम है । उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन सार्व के प्रति उनकी दार्शनिक-व्यावहारिक चिन्तना पर ही हो सकता है । एक साहित्यकार-आलोचक जब साहित्य में मात्र 'जनमत का संघर्ष' देखता-खोजता है तो वह अपने को दर्शन के सत्य और जीवन के सामष्टिक ज्ञान के दायरे से दूर एकांगिकता की ओर ले जाता है । फलतः, वह साहित्य के

'स-हितयोः'—भाव को उचित स्थान नहीं दे पाता, शब्दार्थौं सहितौ काव्यं तक ही सीमित रह जाता है ।

कवयित्री-लेखिका-चिन्तक श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा के साहित्यिक व्यक्तित्व का विस्तार हमें ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त के 'सहस्रशीर्षा', 'सहस्राक्ष', और 'सहस्रपाद' के विराट व्यक्तित्व की याद दिला जाता है । वेदों के अध्येता को ज्ञात है कि काव्य-विधा में सब विषय ही समाहित रहते रहे हैं । कोई भी विषय जीवन से असन्दर्भित नहीं और जीवन स्वयं की अभिव्यक्ति के लिये साहित्य की आकांक्षा रखता है । कवयित्री लेखिका के दर्शन-प्रधान साहित्य इसके ही साक्ष्य हैं ।

कवयित्री-लेखिका श्रीमती सिन्हा की स्पष्ट मान्यता है कि साहित्य मात्र 'शब्दार्थौं सहितौ' नहीं, और 'शब्द' भी मात्र प्रतीक नहीं । शब्द वह वाक्शक्ति है, जो शक्त्यात्मक शक्ति के रूप से अपना अर्थ प्राप्त करता है । क्रिया-कारित्व के रूप से शब्द स्वयं अर्थरूप कार्यब्रह्म है । इस तरह कवयित्री-लेखिका के चिन्तन में कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म के बीच शक्ति और शक्तिमान् का सम्बन्ध है । शक्ति की अभिव्यक्ति या व्याहृति शब्दलोक और जीवलोक हैं जो अपने समन्वयन में एक-दूसरे के व्याख्याता सिद्ध होते हैं । अभिव्यक्ति में लोकरूप (शब्दलोक-जीवलोक) के सन्दर्भ से 'शब्दलोक' जीवलोक की व्याख्या शब्दों में करता है; और 'जीवलोक' शब्दलोक की व्याख्या अपने कार्यकारी रूप से करता है । यही कारण है संस्कृत शब्द अपनी निर्मिति में धातु-प्रत्यय, उपसर्ग-विसर्ग के समन्वयन में पूर्णतः वैज्ञानिक सिद्ध हुए हैं । प्रकरण के अनुरूप उनका उपयोग वेदमन्त्रों को जहाँ सूत्रात्मक बनाते हैं, वहाँ उनके अर्थ को आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ के कारण भी बनते हैं ।

शक्ति की आधिभौतिक व्याख्या में 'द्रव्य' विषय होता है । आधिदैविक व्याख्या में क्रिया की कार्यकारिता विषय बनती है और आध्यात्मिक व्याख्या में दोनों की कार्यकारी समन्विति विषय बनती है ।

वस्तुतः, अभिव्यक्ति वाक्-प्राण की मनोमय समन्विति है, जो मूलाधार से परारूप उत्थित होती हुई पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी की स्थिति में उद्भाषित होती है । श्रीमती सिन्हा के अनुसार अभिव्यक्ति अर्थ विहीन नहीं होती । अर्थ की प्राप्ति अभिव्यक्ति की पहली शर्त होती है । सविकल्पता में 'पश्यन्ती' का दृष्ट दृश्य, वस्तुतः, मध्यमा में अर्थ प्राप्त करता है । और, यह वाक् की 'मध्यमा स्थिति ही होती है, जो हर अभिव्यक्ति को अर्थ-बोध देती है, चाहे वह 'परा' की निर्विकल्पात्मक स्थिति हो, अथवा पश्यन्ती की सविकल्पात्मक स्थिति, अथवा वैखरी की ध्वन्यात्मक अथवा मूक-बधिरों अथवा नृत्य-नाट्य की भङ्गिमात्मक स्थिति ।

अभिव्यक्ति को, दर्शन की अध्येता श्रीमती सिन्हा, आध्यात्मिक प्रक्रिया मानती हैं। उन्होंने 'आध्यात्मिकता' से सार्वरूप आत्मा के दर्शनात्मक, चिन्तनात्मक एवं कार्यात्मकरूप की समष्टि का अर्थ लिया है। उनकी उक्ति है– अभिव्यक्ति, वस्तुतः, आध्यात्मिक प्रक्रिया है। यहाँ 'अध्यात्म' का अर्थ शरीर के 'स्व' विषयक चिन्तन से अलग 'सार्वरूप आत्मा विषयक चिन्तन से लिया जाता है। सर्वकल्याण से सन्दर्भित चिन्तन ही पारमार्थिक चिन्तन है, और सर्वकल्याण में ही परमार्थसत्य निहित होता है। तस्मै हितम् आत्मा 'सार्व' का प्रतीत है, मात्र स्व का नहीं। अध्यात्म शरीर और मन दोनों की कार्यकारी समन्वित शक्ति है। 'आत्मा', वस्तुतः, चिन्तना को; और 'अध्यात्म' कार्यकारिता और चिन्तना दोनों को अपना विषय बनाते हैं।

आर्ष दर्शन की अध्येता श्रीमती प्रियंवदा की रचना 'आर्ष द्रष्टृत्व' के 'पुरोवाक्' में डा० देवेन्द्र नाथ तिवारी, तत्कालीन प्रोफेसर, दर्शन-विभाग ल०ना०मि० विंशवविद्यालय, दरभंगा (बिहार) और अब बी०एच०यू०, वाराणी (उ०प्र०), ने लिखा है– आर्ष दर्शन का जो चित्र विदुषी लेखिका ने प्रस्तुत किया है, उसमें सार्वभाव की प्राप्ति परम लक्ष्य, परम प्राप्तव्य है। यहाँ लोक भी लोकेतर और लोकेतर भी लोक, व्यष्टि भी समष्टि और समष्टि भी व्यष्टि भाव (sense of nonduality) में दृष्टिमान् होते हैं। यह दृष्टि कण और ब्रह्माण्ड की एकसूत्रता पर आधारित है। इस दृष्टि के लिये सर्वकल्याणकारी सार्वरूप अर्थात् जीव में शिव का अभ्युदय परम लक्ष्य है। इस परम लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में सत्य, ऋत, आत्म-अध्यात्म, ऋणत्रय, पुरुषार्थ, यज्ञ, यात्रा आदि भावों का सर्वोपरि महत्त्व है। सर्वोपरि महत्ता के इन प्रत्ययों की जो व्याख्या विदुषी लेखिका ने की है उस व्याख्या का आधार धर्म है। धृ+मन्, इन निष्पत्ति द्वारा लेखिका की व्याख्या में धर्म ऋत है, शक्ति है। और समस्त चीजों की सृजना तथा उनके नियमन का हेतु ही नहीं, बल्कि सब में व्याप्त भी है; और इसलिये सब चीजों में एक प्रयोजनमूलक सम्बद्धता (teleological subordination), एकसूत्रता की व्याख्या भी सम्भव हो पाती है। सार्वभाव से सबों की प्रयोजनमूलक सम्बद्धता एवं एकसूत्रता की दृष्टि और भारती विद्या के सौन्दर्य बोध की जो अवधारणा यहाँ उपस्थित होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस अवधारणा में 'सत्+यत्' पूर्वक निष्पन्न 'सत्य' में 'यत्' शक्ति है और इस शक्ति के कारण ही 'सत्' शक्तिमान् या सत्तावान् है। इस तर्क के आधार पर विदुषी लेखिका ने भारतीय परम्परा में निगम और आगम दर्शन की संयुति की जो व्याख्या उपस्थापित की है, वह कई अर्थों में आरम्भक प्रतीत होता है। कारण, पूववर्ती विद्वानों ने आगम और निगम दर्शनों के विषय में परम की सत्ता

और उसकी सर्जनात्मकता को लेकर भेद किया है और यह माना है कि वैदिक परम्परा, जिसका उत्कर्ष वेदान्त और विशेषकर शङ्कर वेदान्त है, में परम या ब्रह्म को सच्चिदानन्द तो माना गया है किन्तु उसे गतिशील सर्जनशील या क्रियारूप (dynamic) न मानकर स्थितिशील, शान्त (static) माना है। वैसे, विद्वानों ने आगम परम्परा, जिसका उत्कर्ष अभिनवगुप्त में होता है, में परम या शिव को सर्जनात्मक माना है। क्रिया को परतम के स्तर पर स्वीकार न करने के वेदान्तियों के तर्क से भिन्न आगमों ने परतम को क्रिया या विमर्श स्वीकार किया है। किन्तु विदुषी लेखिका की आर्ष दर्शन की व्याख्या परम को सत् और यत् या ऋत अर्थात् शक्त और शक्ति भी स्वीकार करता है। वह मध्यस्थ द्रष्टा नहीं बल्कि स्वरूपतः ज्ञान भी है और क्रिया भी है। यहाँ क्रिया पूर्णता का द्योतक है, न कि अपूर्णता का।

डा० तिवारी ने आगे लिखा है– सार्व की दृष्टि, धर्म, ऋत, सत्य, शक्ति और शक्तिमान्, शक्ति और शक्त की संयुतिरूप में 'परम' आदि विषयों पर विदुषी लेखिका का चिन्तन भारतीय चिन्तन परम्परा में एक नई विचारणा का आरम्भक है, जो ग्रन्थ को भारतीय विद्या के क्षेत्र में एक प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करता है।

साहित्यवाचस्पति डा० श्रीरञ्जन सूरिदेव ने विदुषी लेखिका-कवयित्री की रचना 'मन-मानव' की अपनी भूमिका 'अवतारणा' में लिखा है– भारतीय संस्कृति और साधना के क्षेत्र में मनन एवं मीमांसा के प्रामाणिक और विश्वसनीय हस्ताक्षरों में परमविदुषी प्रियंवदा सिन्हा का उल्लेखनीय स्थान है। इन्होंने अपनी एतद्विषयक उत्कृष्ट एवं महनीय कृतियों से भारतीय आध्यात्मिक चिंतन का ततोऽधिक विस्तार अतिशय पाण्डित्यपूर्ण शैली में निर्मित किया है।

आलेख 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' के सन्दर्भ से डा० सूरिदेव ने लिखा है– गीता पर उपस्थापित उसकी अनेकविध व्याख्याओं में यह एक ऐसी-व्याख्या सम्मिलित हुई है, जिसकी अपनी रोचक और मौलिक अभिनवता है। गीता-चिन्तन के सम्बन्ध में लेखिका की भूमिका, अवश्य ही, एक मौलिक चिन्तक की है। इनकी दृष्टि में गीता समग्र आर्ष वाङ्मय का सार है, उनका प्रतिनिधि है। ...उनके अनुसार गीता का कुरुक्षेत्र, वस्तुतः, जीवन का कर्मक्षेत्र है, और सहज स्वाभाविक जीवन-धर्म ही गीता का स्व-धर्म है।

बहुश्रुत लेखिका ने आर्ष-परम्परा और विद्वत्परम्परा के शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया है, जिसका आक्षरिक साक्ष्य इनका आर्ष दर्शन शीर्षक निबन्ध है, जिसमें पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों प्रकार की समन्वयात्मक

चिन्तन-प्रक्रिया के द्वारा यह सिद्ध किया है कि निष्पक्षता के आधार पर निरपेक्ष सत्ता की गवेषणा आर्ष दर्शन का मूल तत्त्व है, जिसकी उपलब्धि मनस्-द्रष्टृत्वशक्ति की प्राप्ति से ही सम्भव है । लेखिका का यह मन्तव्य ध्यातव्य है कि आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन निष्पक्षता, निरपेक्ष के प्रति अपनी असंशयात्मकता और सर्वकल्याणकारी दृष्टि के अभाव के कारण द्वन्द्वात्मक स्थिति से ग्रस्त रहता है । आज के आतंकवाद की समस्या का व्यावहारिक समाधान सर्वभूत हितौषी आर्ष दृष्टि से ही सम्भव है । इसलिये, सम्प्रति विज्ञान और आर्ष दर्शन के बीच समवाय आवश्यक है । अदृष्ट क्रियाशक्ति को दृष्टरूप से देखना, फिर उसे सर्वकल्याणार्थ अभिव्यक्त करना ही आर्ष दृष्टि की सर्वकालीन उपलब्धि है । ...भारतीय आर्ष दर्शन मूलतः चर्मचक्षु के बाह्य भौतिक दर्शन और मनश्चक्षु के आभ्यन्तर अध्यात्मदर्शन की समन्विति है ।

'विचारणा' और 'चिन्तना' शीर्षक आलेखों के सन्दर्भ से डा० सूरिदेव का मन्तव्य है– ये दोनों निबन्ध लेखिका की गम्भीर मनीषा एवं विलक्षण आन्वीक्षिकी का आश्चर्यकर निदर्शन उपस्थापित करता है । 'प्रमा' शीर्षक के सन्दर्भ से वे लिखते हैं– लेखिका का यह तर्क अविश्वसनीय नहीं कि प्रत्यक्ष जीवन का दर्शन ही वस्तुतः, यथार्थ का दर्शन है । ...निस्सन्देह यह निबन्ध इसलिये अतिशय महत्त्वपूर्ण है कि इसमें 'विज्ञानाध्यात्म' की दार्शनिक दृष्टि से प्रमा का अध्ययन किया गया है । सच पूछिए तो 'प्रमा' विषयक इस प्रकार का विशद चिन्तन हिन्दी में पहली बार हुआ है । 'अभिव्यक्ति' शीर्षक के सन्दर्भ में उनका मन्तव्य है– सचमुच, कृतविद्य लेखिका द्वारा प्रस्तुत 'अभिव्यक्ति' पर अतिशय व्यापक विस्तृत और शास्त्रसिक्त गहन चिन्तन भी पहली ही बार हिन्दी में सुलभ हुआ है ।

अन्य शीर्षकों के प्रति अपना मन्तव्य देते डा० सूरिदेव लिखते हैं– अध्यात्म तथा विज्ञान स्वयं वाचक ही है, जिनके वाच्य अनेकमुख हैं । इसी अनेकमुखता के समन्वय का प्रयास विद्यावती लेखिका ने बहुत ही विश्वसनीय रीति से किया है और यह प्रमाणित किया है कि समस्त आध्यात्मिक ज्ञान विज्ञान ही है । निश्चय ही, प्रज्ञाप्रौढ़ लेखिका का समस्त विवेचन पूर्वग्रहों और पूर्व-धारणाओं से पूर्णतः मुक्त है । उनके द्वारा स्वीकृत और व्याकृत सिद्धान्त से जिस विवेचनात्मक निर्णय का निर्माण हुआ है, वह अध्यात्म के विषय को विज्ञान का गुण प्रदान करने की पर्याप्ति से संवलित है ।

स्पष्ट है कि कवयित्री-लेखिका और चिन्तक श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा अपनी अभिव्यक्ति में, चाहे वह पद्यात्मक विधा हो या गद्यात्मक विधा अनर्गल प्रलाप को प्रश्रय नहीं देतीं । वे किसी भी पूर्वग्रह से ग्रस्त नहीं । वे युक्तिसंगत विचारों को

विज्ञान-भाव से अपने पाठकों के समक्ष रखती हैं और उन पर विषयगत शास्त्रीयरूप से मनन करने को हमें वाध्य करती हैं। उनकी कृतियों से भारतीय अध्यात्म-चिन्तन में एक नये आदर्श की उद्भावना हुई है, साथ ही एक नई पद्धति और नई दिशा भी उन्मीलित हुई है। -श्री सूरिदेव का यह कथन महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः, अपनी ही विचारणा-चिन्तना-अभिव्यक्ति के मापदण्डों को छूती कवयित्री-लेखिका अपने में दर्शन-विज्ञान-साहित्य के समन्वित व्यक्तित्व को आत्मसात करती दीखती हैं।

श्रीमती सिन्हा किसी मौलिकता का दावा नहीं करतीं; क्योंकि उनका मानना है कि मानवी मन-मंथन के आलोक में ही सृष्टि के विकास-कारण का दर्शन हो पाता है। इस आलोक में ही आदिम काल से लेकर आज तक का ज्ञान-विज्ञान जीवन-सन्दर्भित रहस्यों का निदान खोजता आ रहा है। अब तो मात्र सम्पुष्टि का कार्य चल रहा है।

सत्येन्द्र नाथ बोस द्वारा उद्घाटित 'बोसोन' (Boson) को आज वैज्ञानिक 'द्रव्य'-विकास का कारण मानते हैं। जब कि ऋग्वेदीय नासदीय सूक्त का मन्त्रद्रष्टा 'आनीदवातं स्वधया तदेकं', 'कामस्तदग्रे' और 'सतो बान्धुमसति' के कारणरूपों की व्याख्या में सृष्टि के विकास-प्रक्रिया को बहुत पहले देख चुका होता है।

मन-मानव के अपने पुरोवाक् में डा॰ देवेन्द्र नाथ तिवारी ने श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा की काव्य-रचना के सन्दर्भ से लिखा है- काव्य-संग्रह के तत्त्वों, खासकर विषयवस्तु तथा क्षेत्र के सम्बन्ध में साहित्यकार या तो बहुत पीछे जाते हैं या बहुत आगे। कहने का तात्पर्य यह है कि वे काव्य के लिये प्राचीन साहित्यों से विषयवस्तु लेते हैं या अत्याधुनिक निराशा, मौत, उदासीनता, टूटन, घुटन जैसी अवधारणाओं (जिन्हें समकालीन एवं उत्तर आधुनिकतावाद ने अपना विषय बनाया है) को प्रधानता से लेते हैं। कहीं-कहीं समसामयिक मनोवृत्तियों, समाज में घटनेवाली घटनाओं के संवेगात्मक उद्‌गार को अपना कर काव्यों की रचनाएँ होती रही हैं। लेखिका प्रियंवदा सिन्हा ने मानव की समग्रता को विषय करके उसकी दलित स्थिति से प्रयाण कराकर सार्व की प्रत्यभिज्ञा कराने में अपनी प्रतिभा को नियुक्त किया है। उनके काव्य का लक्ष्य पाठक को पूर्ण संस्कृत के रङ्ग में रङ्गने की उत्प्रेरणा बन जाता है, जो काव्य के सम्बन्ध में परम्परागत समझवाले अथवा अत्याधुनिक विचारों को महत्त्व देनेवाले साहित्यकारों को एकबारगी बेतुका लग सकता है। फिर भी, जो चिंतन-धारा उनके काव्यों में बहती है उसके विषय, क्षेत्र, शैली, लक्ष्य आदि की व्याख्या को इस गद्यात्मक प्रस्तुति में सहजतः देखा जा सकता है।

जब एक 'भक्त' अपने इष्ट को परमार्थसत्य के रूप में देखता है तो वह उसे राम-रहीम, कृष्ण-करीमरूप में भजता है। उसकी अभिव्यक्ति साहित्य-विधाओं में भक्ति-साहित्य का नाम दिया जाता है। साहित्य तब विषयगत अभिव्यक्तियों के साथ अपना व्यक्तिरूप बदल लेता है। धर्मपरक साहित्य, विज्ञानपरक साहित्य, कलापरक साहित्य और साहित्यपरक साहित्य। वस्तुतः, 'साहित्य' जलरूप है, जो हर उस पात्र का रूप-रङ्ग ग्रहण कर लेता है, जिसमें वह रखा जाता है। परन्तु, उसका मूल व्यक्तित्व अर्थात् क्रिया की कार्यकारी प्रक्रियात्मक निर्णायी अभिव्यक्ति, अपने ही स्थान पर होता है। साहित्य सब विषयों के ज्ञान अर्थात् क्रिया-विज्ञान की अभिव्यक्ति है। 'ज्ञान', वस्तुतः, 'क्रिया का ज्ञान' है; और, 'कर्म' क्रिया की कार्यकारिता है। दोनों की आभिव्यक्तिक समन्विति की व्याख्या ही साहित्य है। इस तरह सम्पूर्ण सृष्टि और उसकी वाङ्मय व्याख्या दोनों ही रचनाएँ सृजन की श्रेणी में आते हैं। यही कारण है कि 'स्रष्टा' चाहे ब्रह्माण्डीय सृष्टि का हो अथवा साहित्यिक सृजन का, स्रष्टारूप ही है।

संस्कृत का भाषा-विज्ञान अपने-आपमें दर्शनाधारित साक्षातित है और वह सार्वभौम सत्ता का प्रकाशक भी है। वह पूर्ण का द्रष्टा व्याख्याता है; और, पूर्ण का ही भोक्ता है। वह शक्तिरूप होने से ब्रह्मवत् विकासशील है। व्यक्तित्व अविनश्य है। इस वेद-वाणी संस्कृत को देव-वाणी के रूप में लिया जाता है; क्योंकि वह सार्वभौम, नित्य क्रिया-शक्ति अर्थात् देवता का व्याख्याता है। इस देव-वाणी में वर्णित जीवन का रूप सार्वभौम है; क्योंकि वह स्वयं में अद्वैत का विकास है। वहाँ संशय नहीं, निश्चिति है। वहाँ स्थूलता की ही नहीं, सूक्ष्मता की भी व्याख्या है। वहाँ खण्ड की नहीं, पूर्ण की अवधारणा है। वहाँ समन्वय है, विघटन नहीं। वहाँ रूपान्तरण है, विनाश नहीं।

स्पष्ट है कि इस स्थिति की अभिव्यक्ति में एक अक्षर ही सफलीभूत हो सकता है। ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् का उद्घोष करनेवाला साहित्य 'दर्शन' से अलग नहीं हो सकता। वे, जो मात्र द्रव्य की कार्यकारिता को देखते हैं उसके कारणरूप क्रियाशक्ति को नहीं देखते, स्वयं उस द्रव्य की कार्यकारिता में कारणरूप शक्ति की कार्यशीलता को भी नहीं देखते। वे कारक के जाल में फँस कर जीवन के आनन्दमयरूप का उपभोग नहीं कर पाते। क्रिया के द्रष्टा को 'प्रमा' की आँखें और मनः धृतिरूप 'धर्म' का आलंबन चाहिए। वेदान्तसार की दृष्टि में यह आन्तःकरणिक चक्षु, वस्तुतः, मन-बुद्धि-अहंकार और चित्त की ऐसी समन्विति है, जिसमें ये क्रमशः संशय-निश्चय-गर्व और स्मरणरूप से कार्यशील होते हैं। किसी भी कार्यकारिता के ये चार मूलाधार ऐन्द्रियक चक्षु से समन्वित होकर अध्यात्मरूप

चक्षु का रूप धारण करते हैं ।

आज के वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, साहित्यकारों या राजनीतिज्ञों को अपने बहुश्रुत या बहुशास्त्रविदत्व में इसी आध्यात्मिक दृष्टि के सहारे कार्यशील होना होगा; और, औरों को राह दिखानी होगी ।

श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा ने वेदवाणी के अनुरूप ही अपनी काव्यात्मक शैली में वैश्विक दर्शन की एक रूपरेखा प्रस्तुत की है । वे अध्यापिका रही थीं । अध्यापक अपने छात्रों को अधूरा ज्ञान नहीं देते, उन्हें लक्ष्य तक पहुँचा देने का भरसक प्रयास करते हैं । उनका सार्वजनीन विश्वास कारणरूप से उनके सब छात्रों में कार्य करने लगता है । सकारात्मक सोच का यही प्रमुख लक्षण है । जीवन का सत्य क्रिया-कारित्व में और क्रिया-कारित्व का सत्य **आनीदवातं स्वधया तदेकं** रूप 'तत्' में निहित है । इन्हें जाननेवाला ही सार्वभौम सत्ता का द्रष्टा-ज्ञाता-व्याख्याता होता या हो सकता है । **सत्यमेव जयते नानृतम्** ।

बच्चों को शिक्षित करतीं श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा के शिक्षकीय व्यक्तित्व को उनके एकमात्र पुत्र पीयूष प्रियंवद ने अपनी कृति– **मां ने कहा था...** में उकेरा है। स्मृति के धनी श्रीपीयूष ने अपनी माँ के कहे औपनिषदिक आख्यानों का संकलन प्रस्तुत कर न केवल अपनी बाल-सुलभ जिज्ञासा का हल अपनी माँ की विद्वत्ता में ढूढ़ा है, वरन् अपने को मां के सहज स्नेह का अधिकारी भी सिद्ध किया है । माँ जहाँ ज्ञान की जटिलता को सहजतः पुत्र के सामने रखते हुए विषय को रोचक बनाये रखती हैं, वहाँ पुत्र पीयूष अपनी जिज्ञासा को किस तरह शान्त करने में सफल होते हैं यह 'मां ने कहा था...' के इन दोनों माता-पुत्र के विमर्श में उज्जागरित हुआ है । श्रुति और स्मृति का यह समन्वय अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । ज्ञान-गंगा में डुबकी लगाते इन दोनों व्यक्तित्वों को मेरा नमन्, पुनर्पुनः कोटि-कोटि नमन ।



श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा के लेखन के सन्दर्भ में

डा० चन्द्रेश्वर कर्ण, पूर्व युनिवर्सिटी प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग बिनोवा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग (झारखण्ड) द्वारा लिखित 'एकाकीपन मेरा' की भूमिका 'प्रियंवदा सिन्हा की कविता' शीर्षक से आहृत अंश–

कवयित्री विज्ञान एवं दर्शन शास्त्र की छात्रा रही थी तो साहित्य उसे पारिवारिक विरासत के रूप में मिला था। विज्ञान और दर्शन के अध्ययन ने उसके मनन, चिन्तन एवं विचार को वैज्ञानिक और दार्शनिक आधार दिया, जो उसकी कविता में बार-बार अनुभूत होता है। (एकाकीपन मेरा, पृ० 6)

उसकी कविता में आत्मपीड़ा, नारी की शाश्वत पीड़ा, लोकगीतों की विरहिणियों की आकुलता, मिलनेच्छा का उद्वेग, लोक अनुभूति, नारी गरिमा, प्रेम, मृत्युबोध, इतिहास-दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, सबकी मंगलकामना है। (वही, पृ० 7)

कवयित्री नारीरूप को सर्वोत्तम मानती है। ...कवयित्री नारी-श्रेष्ठता को प्रतिष्ठित करती है। वह, अपनी वेदना को सम्बोधित करती है–

मेरी वेदना ! / मनोवेदना मेरी ! / मुझे जीने दे / ज्ञान के प्रकाश में; / अभाव का जीवन / भाता नहीं मुझे, मीत ! / मुझे जीने दे / भावमय सार्व में / नारीरूप जीवन मेरा, मीत ! / रहा है सदा भावमय; / अगली पीढ़ी की धातृ, मनमीत ! मैं / जीवित रही हूँ परमात्मारूप सार्व में / आज भी, मनमीत मेरे ! / मैं जीवित हूँ सुर के अनुग्रह में।" (वही, पृ० 12)

प्रियंवदा की कविता में ईश्वर, धर्म, अध्यात्म आदि के प्रति अधिक आग्रह है। लेकिन 'जीवन-गाथा' कविता में कवयित्री का स्वर बदला हुआ है। मनुष्य की क्षमता, संघर्ष और श्रम में उनकी निष्ठा अकुण्ठ है। इसी से मनुष्य का निर्माण और विकास होता है।...

उसकी कई कविताओं में मनुष्य का आत्मविश्वास मुखर है। उसने भाग्य से अधिक महत्त्व पुरुषार्थ को दिया है। –ज्ञान और अनुभूति से / बुद्धि और विवेक से, / मानव सदा लेता यहाँ / जीवन का निर्णय है; / और / निज निर्णय तथा कर्म का फल सदा मानव यहाँ / जीवन में पाता है; / भाग्य नहीं, / जीवन तो मानव के कर्म का कथानक है।" (वही, पृ० 14)

'अर्वाचीन' दो खण्डों की एक लम्बी कविता है । इसमें प्रियंवदा सिन्हा की इतिहास-दृष्टि का बोध है । इस लम्बी कविता में उसने मानव-सभ्यता के विकास की एक हल्की रूपरेखा खींची है । वह वर्तमान को बीते कल की उपलब्धि मानती है । (वही)

प्रियंवदा ने वर्तमान राजनीति का वास्तविक चेहरा उघाड़ कर देखने की कोशिश की है । उसे बेपर्द कर देना चाहती है । वह राजनीतिज्ञों के मुखौटे उतार कर उन्हें जनता के सामने पेश करना चाहती है । आज मूल्यहंता राजनीति चल रही है–
शायद आज की राजनीति में / भीष्म भी खो चुका है / अपना वचन, अपनी निष्ठा; / या, रहा नहीं विश्वास उसे / अपने ही पुरातन सिद्धान्त-निष्ठा का;/ और आज भी विदुर हतप्रभ हैं / सत्ता के प्रति भीष्म की / दुराग्रही हठधर्मिता पर । (वही, पृ० 15)

कवयित्री किसी मन्दिर-मस्जिद या देवालय में ईश्वर की खोज नहीं करती। वह अपने कर्म पूरी निष्ठा से करती है और यही उसकी पूजा है । वह ईश्वर से कहती है कि आज का मनुष्य मनुष्य नहीं रह गया है । 'मुझे शान्तिमय जीवन दें' में आत्मशक्ति प्राप्त करने का निवेदन करती है ।

इस संकलन की अंतिम कविता 'हाहाकार' इसका भरत-वाक्य है, जिसमें कवयित्री कामना करती है–

ईश्वर ! / शान्ति दो / मन को, / घर को, / समाज को, / देश/ और / सम्पूर्ण विश्व को ।



डा० मिथिलेशकुमारी मिश्र, अनुसन्धान पदाधिकारी (लोकभाषा), बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना (बिहार) द्वारा लिखित कवयित्री प्रियंवदा सिन्हा की रचना 'मानवी बनी मैं' (प्रियंवदा सिन्हा की दार्शनिक कविताएँ) से आहृत अंश–

"होरेस का मत था कि साहित्यका उद्देश्य व्यवहार सिखाना, ज्ञान देना और शिक्षण देना है । आचार्य मम्मट ने भी 'काव्यप्रकाश में साहित्य के उद्देश्यों में मधुर उपदेश, कल्याणकारी शिक्षा, व्यावहारिकता आदि को माना है । प्रियंवदा जी की कविताएँ इस निकष पर खरी उतरी हैं । ये कविताएँ, वस्तुतः, सद्ज्ञान देती हैं, घर-परिवार, समाज और देश में उसे कैसे रहना चाहिए तथा एक-दूसरे से कैसा व्यवहार करना चाहिए, इस ओर भी दिशा-निर्देश करती हैं ।

विश्वविख्यात विचारक अपोलेनियस के अनुसार– "कल्पना ही ऐसी शक्ति है, जिसके सहारे हम उद्देश्य वस्तु को भी प्रत्यक्ष तत्त्व के समान देख सकते हैं ।" इस स्थिति को भी प्रियंवदा जी की कविताओं में देखा जा सकता है ।

कवयित्री का भावबोध भारतीय चिन्तन प्रधान होने के कारण कर्मवादी है। उनकी एक कविता देखें– **वर्तमान तो बस कर्म है ।**

कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं– **कर्म का अधिकार तुझे / परिणाम की चिन्ता क्यों ? / परिणाम की चिन्ता छोड़ / सहज कर्म करता जा; / सहज तो परमार्थ, मीत ! / परमार्थ ही निष्काम है ।**

कवयित्री में राष्ट्रभक्ति की भी पर्याप्त छाप है । अपना देश उन्हें कितना प्रिय है इसका प्रमाण उनकी कविता– **नमन तुम्हें, हे भारत !** कविता की पंक्तियों से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है–

माँ, भाई, बहना सब ही तुम / तुम 'धरती' बन माता हो । / आकाशरूप तुम पितृ सभी के / दिक्पाल बने तुम रक्षक हो ।



'मानवी बनी मैं' के भूमिका लेखक डा० सतीशराज पुष्करणा द्वारा लिखित 'एक सारस्वत अभिव्यक्ति : मानवी बनी मैं...' शीर्षक भूमिका से आहृत–

राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में लिखा है जो प्रतिभा कवि को रचना हेतु उत्तेजित करती है और उसकी सहायता करती है, वह कारयित्री कहलाती है । कारयित्री प्रतिभा-सम्पन्न कवियों के भी तीन भेद हैं– 1. सारस्वत 2. आभ्यासिक 3. औपदेशिक । इनमें प्रियंवदा जी को सारस्वत कवियों की श्रेणी में रखा जा सकता है । कारण उन्होंने कविता के संस्कार जन्मान्तर संस्कारों से, सारस्वत अनुभवों के ज्ञान से अर्जित किये हैं । उन्होंने विद्यालीय एवं महाविद्यालीय जीवन में जीव विज्ञान का अध्ययन किया और फिर बाद में दर्शन उनका विषय बना । इन दोनों विषयों ने उनके सारस्वत अनुभवों को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार, और अधिक पुष्ट किया । विज्ञान ने उन्हें दिया यथार्थ का धरातल और जीवन का अनुभव तथा दर्शन ने दिया सोचने एवं समझने का सलीका । उन्होंने अपने स्वाध्याय से जाना, जीवन क्या है ? ईश्वर क्या है ? और मानव क्या है ? ये तीन प्रश्न उनकी कविताओं का मूलाधार हैं । या यों भी कह सकते हैं कि इन तीन प्रश्नों के उत्तर ढूंढने की प्रक्रिया ही ये सारी कविताएँ हैं । इन सारी कविताओं को अपने मानसिक धरातल पर यदि एक

तारतम्य बनाकर विचार करें तो निष्कर्ष इन तीनों प्रश्नों के सहज उत्तर होंगे, जो मानव को मानव होने तथा स्वयं को पहचानने में सहायक होते हैं ।

वर्तमान समाज में जो कुछ अवांछित हो रहा है उसका कारण स्वयं से पहचान न होना है । जो मानव स्वयं को पहचान लेता है, उसे जीवन का अर्थ समझ में आ जाता है और तब बुद्ध की भाँति वह महामानव बन जाता है । घृणा और हिंसा से वह करोड़ों मील दूर चला जाता है और उसके पास रह जाती है शान्ति, संतोष और प्रेम । सही अर्थ में मानव का उद्देश्य जीवन में यही प्राप्त करना होता है । प्रियंवदा जी की कविताएँ मानवी-अलख को जगाने का संदेश सम्प्रेषित करती हैं । वह मानव को धर्मज्ञता की ओर लौटने की बात करती हैं ।

धर्म वह नहीं, जो आम जन मानता है; / धर्म शक्ति है / स्वयं वस्तु की तत्त्वतः; / जीवनी-शक्ति वह / वस्तु और व्यक्ति की, / जीती और जिलाती है उसे / उसके ही रूप-रंग में / मगर, अपने दम पर ।

तात्पर्य यह है कि धर्म संकीर्ण नहीं होता । 'धर्म' धर्म होता है, उसे किसी साम्प्रदायिक नाम या शीर्षक में नहीं समेटा जा सकता । वह तो प्रत्येक मानव का होता है, जो वस्तुतः उसको 'सही' और 'गलत' का भेद स्पष्ट करता है । जो अपने अन्तःकरण की ध्वनि, यानी स्वयं अपनी ध्वनि के तात्पर्य को समझ लेता है, उसका जीवन सार्थक हो जाता है । ऐसा मानव 'स्व' में नहीं, 'सार्व' में विश्वास कता है। ऐसा व्यक्ति आयु-अवस्था से बड़ा नहीं होता; वस्तुतः, वह अपने अन्तःज्ञान से बड़ा हो जाता है । प्रियंवदा जी ने इस 'सत्य' को अपने चिन्तन -मनन के द्वारा समझ लिया था, पहचान लिया था । यही कारण है कि वह परिवार में छोटी होते हुए भी बड़ी थीं । और उन्होंने मानवता का कद प्राप्त कर लिया था, जो किसी भी कद से बड़ा होता है ।



'बिखरे मोती' में पुस्तक परिचय देते हुए, आवरण पृष्ठ 2 पर डा० सतीशराज पुष्करणा द्वारा लिखित परिचय 'बिखरे मोतियों को पिरोकर बनायी गयी सार्थक जीवन-माला'' से आहृत अंश–

बिखरे मोती की कविताओं के सभी शीर्षक, कवयित्री की अन्य रचनाओं की तरह जीवन्त जीवन-सन्दर्भित है । कवयित्री जीवन्त-जीवन की समस्याओं के उजागरण को ही महत्त्व देकर नहीं रह जाती, वह उनका अन्तिम निदान देती है ।

उसका निदान आर्षेय जीवन-दर्शन का वह रूप है, जिसमें "एक को जानकर सब कुछ जान लेना" कहा गया है। उसके लिये वह 'एक' भी कोई अन्य नहीं, स्वयं अपनी 'आत्मा' और अपना ही 'आत्मज्ञान' है।

कहते हैं– "भारतीय भावधारा मूलतः अध्यात्मवादी रही। उसकी दृष्टि में काव्य का प्रयोजन प्रेय ही नहीं, श्रेय भी है; लौकिक ही नहीं आमुष्मिक भी है।" वाक् शक्ति की पहली शर्त भी है– अमंगल-निवृत्ति।



डा० स्वर्ण किरण, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, किसान कॉलेज, सोहसराय- 803118 द्वारा लिखित 'बिखरे मोती' के 'उपोद्घात' से आहृत अंश–

कविता में 'दर्शन' या 'मनोविज्ञान' के शब्दों का प्रयोग कविता को प्रयोग के दौर से गुजरनेवाली कविता कहने को बाध्य करता है। व्यक्तित्व की अद्वितीयता या मौलिकता दार्शनिक कविता या मनोवैज्ञानिक कविता लिखने को उत्प्रेरित करती है। इसके माध्यम से, वस्तुतः, किसी-न-किसी रूप में भारत की आत्मा को ही प्रतिष्ठित करने का प्रयास दीखता है। इससे कविता में चमत्कार उत्पन्न होता है और यह चमत्कार बुद्धिजीवी को चौंकाने में सक्षम भी सिद्ध होता है। सम्भव है कि इस प्रकार की कविता 'व्यवस्था परिवर्तन' के लिए शक्तिशाली सिद्ध न हो, सामाजिक असमानता को दूर करने की प्रेरणा न दे, शोषितों के प्रति सहानुभूति, शोषकों के प्रति आक्रोश के भाव उत्पन्न न करे, मगर सम्भव है कि इस प्रकार की कविता आत्मन्नेवात्मनः तुष्टः का प्रकारान्तर से समर्थन करे, भीतर के बोध को किंचित जागरित करे।

'बिखरे मोती' की कवयित्री अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः यथास्मै रोचते विश्वं तथास्मै परिवर्त्तते- अपने को प्रजापति ब्रह्म के रूप में 'दर्शनशास्त्र' और इसकी शाखाओं ecology (जीवमीमांसा), ontology (प्राणमीमांसा), Meta Physics (तत्त्वमीमांसा), Psychology (मनोविज्ञान) इत्यादि के शब्द का उपयोग कविता में करके, हमें सोचने हेतु बाध्य करती है। दर्शनशास्त्र के विषय हैं– 'ईश्वर, 'जीव', 'जगत्', (प्रकृति अन्तर्भुक्त) और माया। कवयित्री दृश्य, दर्शन और अभिव्यक्ति की जंजीर को जैविक जीवन की जैविकी-प्रक्रिया मानती है। 'मन' 'अन्तःकरण' का जहाँ एक रूप है, वहाँ वह बुद्धि, चित्त और अहंकार के साथ बृहत् चतुष्टय के रूप में भी स्वीकार्य है। बुद्धि का काम तर्क-वितर्क करना; चित्त का

काम अनुसंधान करना, नयी चीजों को खोजना; अहंकार का काम शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना; और, मन का काम मनन करना, चिन्तन करना, अनुभव प्राप्त करना है। 'विष्णु पुराण' मन को मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष के कारण के रूप में स्वीकार करता है। **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।** मनःक्रिया कवयित्री की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण है और कविता का संबन्ध इसी मनःक्रिया से है। ...कवयित्री यह मानकर चलती है कि सत्य, वस्तुतः, 'विचार-उच्चार-आचार' अथवा 'दृश्य-दर्शन-अभिव्यक्ति' अथवा 'सत्त्व-रज-तम' इत्यादि त्रिकों की एकता या समन्विति है। रचनात्मक चिन्तन अधिक महत्त्वपूर्ण है और तथ्य-संग्रह की तैयारी (Collection of facts or preparation), गर्भीकरण (Incubation), स्फुरण (Illumination) तथा प्रमाणन (Verification) इन चार अवस्थाओं से गुजरता है। पारमार्थिक चिन्तन ही यथार्थ चिन्तन है। केवल आत्मतोष या आत्मलाभ पर्याप्त नहीं है। आर्ष चिन्तन, भारतीय मनीषियों या आचार्यों का चिन्तन समाज के लोगों के कल्याण के लियें है। कवयित्री ठीक हीं स्वीकार करती है कि आर्ष-चिन्तना में आधुनिक मनोविज्ञान की वैयक्तिकी की ससीमता नहीं वरन् जीवन की सार्वभौमता और सार्वत्रिकता है। (बिखरे मोती, पृ० vi-viii)

कविता आत्मलीनता, समाधि की अवस्था का चित्रण मात्र नहीं है, न ही अन्तर्मुखता का मूर्त्तरूप है। कवि अथवा कवयित्री अपनी ऊर्जस्वल अनुभूति को जब व्यक्त करते हैं तो शास्त्रविशेष की शब्दावली के उपयोग के चक्कर में नहीं रहते। उनकी अनुभूतिपरक ऊर्जा सूर्य की किरण के विकिरण (Radiation) की तरह होता है, जिसका ताप हम सब महसूस करते हैं, पर माध्यम कैसा है उस पर हमारा ध्यान केन्द्रित नहीं होता। कवयित्री जिस ईश्वर या ब्रह्म की कल्पना करती है उसका स्वरूप है– **अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्य पुरुषं महान्तम्॥** (श्वेताश्वतर (उपनिषद् 3.19)) बिखरे मोती; पृ० vii)

कवयित्री प्रियंवदा सिन्हा ने जगन्नियन्ता ईश्वर का वर्णन एक दार्शनिक दृष्टि से विभिन्न कविताओं में किया है। (वही, पृ० xii)

ब्रह्म के व्यावहारिक रूप ईश्वर द्वारा सृष्ट जीवन-जीवनधारी प्राणी के जीवन या जिंदगी के ऊपर भी कवयित्री का ध्यान गया है। (वही, पृ० xiii)

'प्रकृति-जगत्' तरुवर, वृक्ष, निर्झर आदि के माध्यम से चेतना-सम्पन्न व्यक्ति को अपनी ओर खींचता है। कवयित्री तरुवर-वृक्ष के दर्शन दार्शनिक दृष्टि से करती है और हमें विचार करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। (वही, पृ० xvi)

निर्झर को कवयित्री आलंबन के रूप में देखकर दार्शनिक दृष्टि से देखती है और उसकी विडंबना, नकल, क्रियाशीलता, अधोमुख गति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है । (पृ॰ xvii)

शिक्षा का महत्त्व जीवन में अधिक है । अध्ययन, अनुशीलन, स्वाध्याय, अध्यापन सबकी अपनी महिमा है । इससे व्यक्ति अपने को पहचानता है, पहचान सकता है । शिक्षा के अभाव में दार्शनिक चेतना का विकसित होना सम्भव नहीं, न ही मानवोचित गुणों को हम आत्मसात ही कर सकते हैं । इस क्रम में, कवयित्री का चिन्तन और विचार ध्यान देने योग्य है ।... (वही, पृ॰ xviii)

मननशील शिक्ष्यमाण विद्यार्थी ही विद्या प्राप्त कर कुछ कर सकने में सक्षम हो सकते हैं । (वही)

शिक्षा, वस्तुतः, 'मानव'-निर्माण का एकमात्र साधन है । (वही, पृ॰xviii)

'आशा' मनुष्य के जीवन को जीवन्त बनाये रखने में साहयता पहुँचाती है। यह भी एक मनःक्रिया के रूप में ही स्वीकार्य है, जो निराशा के कुहासे को दूर करती है और मंजिल को दूर से ही दिखलाने की चेष्टा करती है । कवयित्री जीवन में 'आशा' के महत्त्व को स्वीकारती है ।

आशा बौद्धिक चिन्तन को प्रत्यक्ष की दुनिया से परोक्ष की दुनिया में ले जाती है– आराध्य या अभीष्ट की प्राप्ति होगी ही, विश्वास दिलाती रहती है । (वही, पृ॰ xviii-xix)

आदिम पुरुष दार्शनिक ही रहा होगा– 'दृश्य-दृश्यमान रहस्य का पता कोई दार्शनिक ही पा सकता है, यह क्लिष्ट कल्पना नहीं । 'दर्शन' की सार्थकता इसी क्रम में है । (वही, पृ॰ xix)

सिद्धार्थ संबोधि-ज्ञान प्राप्त होने के बाद 'बुद्ध' बन गये । कवयित्री की मान्यता है कि कोई भी व्यक्ति संबोधि प्राप्त कर बुद्ध बन सकता है । आवश्यकता है मन को जाग्रत करने की, 'मनःक्रिया' को सर्जनात्मक बनाने की । (वही, xxi)

जीवन में समत्व का महत्त्व है और संबोधित 'बुद्ध' इस समत्व के प्रतिष्ठाता हैं, ज्ञाता हैं । (वही, पृ॰ xxi)

कवयित्री स्वर्णिम अतीत की कल्पना कर सिहर उठती है । ऐसे में आँखों से आँसू के रूप में मोती के दानों का निकलना मुश्किल नहीं । संग्रह की कविताओं की सार्थकता, वस्तुतः, इसी रूप में मालूम पड़ती है । (वही, पृ॰ xxiv)

व्यक्ति आज चाहे तो अपने को मोती का दाना बनाकर अपने चरित्र को ऊँचा उठाकर सृष्टि-रमणी की ग्रीवा के शृंगार को बढ़ा सकता है । दूसरे शब्दों में सृष्टि

के ऐश्वर्य को वृद्धकर वैश्विक शान्ति और ऐश्वर्य में चार-चाँद लगा सकता है। मोती के दाने आज बिखरे हुए रूप में प्रतीत होते हैं, उन्हें सहेजना, 'मानवता' के मजबूत धागे में पिरोना जरूरी है। यों बिखरे हुए मोती के दाने व्यर्थ ही हैं। संभव है, कुछ व्यक्ति के लिये क्षणमात्र के लिये आनन्द का कारण बनें। (वही, XXV)

आज समाज की दुर्गति है, राष्ट्र में एकाभाव नहीं। भाई-भाई लड़ रहे हैं, बल्कि खून के प्यासे हैं। पाण्डव और कौरव के दर्शन हम आज भी कर सकते हैं, जिनके बीच महाभारत की लड़ाई हुए मात्र अट्ठारह दिनों में ही अट्ठारह अक्षौहिणी, सेना क्या खत्म हुई, सब कुछ खत्म हो गया। कवयित्री कौरव-पाण्डव के रूपक और प्रतीक को आत्मसात् कर कहती है- पाण्डव आज भी अज्ञातवास में रहते हैं, वे मरे नहीं, आज भी जीवित हैं। आज दुर्योधन भी है, जो स्वार्थ से अन्धा है। वह आज भी खुशफहमी में देखा जा सकता है। कवयित्री दर्शन की शब्दावली में पाँचों पाण्डवों को पाँच क्रियाशक्ति की एकता के रूप में देखती है- युधिष्ठिर- न्याय, विवेक, धर्म के; भीम- शरीर-बल के; अर्जुन- एकाग्रता की पराकाष्ठा में जीना; नकुल एवं सहदेव- जीवन्त जीवन के संरक्षक, विज्ञाता; और मार्गदर्शी कृष्ण- मनःप्राण।

रूपक देखकर 'गीता' के कृष्ण का कथन अनायास याद आता है- मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय। मयि सर्वमिंद प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। (गीता 7.7) (बिखरे मोती; पृ० XXV)

अशुभ शक्ति, अज्ञान, अन्धकार, दुराग्रह, असुररूप, अमानवीय रूप, दम्भ, इत्यादि विभिन्न प्रतिमानों से शैतान को समझने-समझाने का सफल प्रयास, वस्तुतः, कवयित्री के सर्वकल्याण की कामना को उजागरित करता दीखता है।

अपनी योग्यता के यथार्थज्ञान का अभाव दम्भ है। दम्भ को हटाये बिना जीवन को जीवन बनाना सम्भव नहीं।

दम्भ के चित्र को पौराणिक प्रतीक 'भस्मासुर' के माध्यम से सफलतापूर्वक खींचकर कवयित्री ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है। (वही, पृ० xxviii)

यद्यपि इन्होंने (कवयित्री ने) अपने को छन्दोबद्ध तुकान्त कविता में अभिव्यक्त नहीं किया पर लयबद्धता पर ध्यान कम नहीं है। अलंकारों का प्रयोग कवयित्री ने स्थान-स्थान पर करके अपनी अलंकारप्रियता के गुण से परिचित कराया है। (वही, xxvii)

'धर्म' का ज्ञातृ-ज्ञाता भेद से अनेकधा उल्लेख उल्लेखालंकार का चमत्कार है।

'काल' अमानव को 'मानव' के रूप में प्रस्तुत कर कवयित्री मानवीकरण (Personification) का अच्छा उदाहरण देती है। यह भी एक अलंकार ही है।

एक ही वस्तु को उपमेय और उपमान समझना अनन्वय अलंकार कहलाता है। कवयित्री ने अपने कथन को रमणीय बनाने में इस अलंकार का भी उपयोग किया है।

उपमेय में उपमान का निषेधरहित आरोप रूपक अलंकार है। कवयित्री ने इस अलंकार का प्रयोग एकाधिक स्थान पर किया है।

मन नहीं जलधार कोई निर्झर-सा में समान रूप गुणधर्म के आधार पर मन की तुलना में 'निर्झर-सा' में उपमा अलंकार का चमत्कार विहित है। (वही, पृ० xxix)

कवयित्री ने यत्र-तत्र अपने कथन को कवित्व के रस से आप्लावित किया है। (वही)

'कुमारगिरि' और 'बीजगुप्त' प्रसंग स्व० भगवती चरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' की याद दिलाता है। यह प्रसंग गर्भत्व का भी अच्छा उदाहरण कहा जा सकता है।

आज की कविता में सपाटबयानी, वक्तव्य (matter of facts) को गुण समझा जाता है। कवयित्री ने अपने संग्रह की कविताओं में इसका समावेश किया है। (वही, xxix)

कवयित्री की दृष्टि में 'सार्व' पर ध्यान देना जरूरी है। आदि कवि की सार्थकता का कारण यही है कि वह मृत्यु के खेल से निकला। उसने करुणा और दया का महत्त्व समझा; 'स्व' में 'सार्व' का अनुभव किया। व्यक्ति भी, वस्तुतः, वही महत्त्वपूर्ण है, जो परमार्थ का जीवन जीता है। कवयित्री ने अपनी एक कविता में बुद्ध को स्पष्टतः इसी रूप में दिखलाया है। "हाँ, बुद्ध हूँ मैं"; (पृ० xxx)

कवियत्री का संदेश काव्य में स्थान-स्थान पर प्रतिभासित है। वह दार्शनिक दृष्टि से जीवन, जीवनधारी, जीवन-नियंता, जीवन की पृष्ठभूमि आदि को देखती है। शिक्षा, अध्ययन इत्यादि को जीवन के संबल के रूप में स्वीकार करती है। 'आत्मज्ञान', वस्तुतः, वह पंख है, जिसपर सवार होकर मनुष्य दिव्यलोक में पहुँच सकता है।

आत्मज्ञान आत्म-आत्मेतर उन्नति का, वस्तुतः, आधार-माध्यम है।

कवयित्री का काव्य 'बिखरे मोती' निश्चय ही बौद्धिक विलासमात्र नहीं हैं। वक्रतुण्ड आलोचक भले इसमें 'बौद्धिक आतंकवाद' के दर्शन करें पर यह कवयित्री

के जीवन की सर्व-साधना का नवनीत-संग्रह मालूम पड़ता है । आज के लोग-बाग का अध:पतन कवयित्री की चिंता के मूल कारण हैं । मन और मनःक्रिया की स्वस्थता अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसी के द्वारा कवि-कवयित्री या किसी के प्रति आकर्षण होना सम्भव है । केवल आम आदमी के दुःख दर्द की चिन्ता 'प्रगतिवाद' के समर्थक कवियों, लेखकों का विषय हो सकता है, पर आम आदमी के साथ 'स्व' के सर्वांगीण विकास पर कवयित्री का ध्यान 'प्रगतिवादी कवियों से बीस साबित होता है ।

प्रकृति जगत् में चेतन-सत्ता को देखना किसी दार्शनिक के लिये मुश्किल नहीं है, पर इसकी ओर आकर्षण, इसके प्रति मौन प्रणय-निवेदन, इसके माध्यम से जीवन को जीवन्त बनाने की कामना, अधिक महत्त्वपूर्ण है । कवयित्री भारतीय मनीषा को अधिक महत्त्व देती है– मनः दर्शन, स-हितता को भारतीय मनीषा के रूप में स्वीकार करती है । मानव, मानव-धर्म, तपःकर्म, सत्-चित्-आनन्दरूप मोक्ष पर बल, जीवन-सृष्टि की स-हितकारी पारमार्थिक समन्विति की आकांक्षा, अहिंसा की महत्ता, मानवी-मानवीय तत्त्व को जानना आदि भारतीय मनीषा की विशेषता है ।

कवयित्री स्रष्टा को पुरुषरूप में स्वीकारती है, सृष्टि भी उसकी दृष्टि में पुरुषरूप है । साधना के क्रम में कवयित्री 'शून्य' तक पहुँचती है । फिर, उसकी वाणी 'परा', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' और वैखरी तक पहुँचती है, और संतोष का अनुभव करती है ।

दार्शनिक कविताएँ लिखकर कवयित्री ने कविता-जगत् को, वास्तव में विस्तारित किया है; भले पारिभाषिक शब्द कुछ भावकों अथवा संवेदनशील व्यक्तियों के लिये अपाच्य या दुष्पाच्य प्रतीत होते हों, पर कुल मिलाकर कवयित्री की अभिव्यक्ति और ज्ञान-क्षितिज के प्रति दाँतों तले उँगली दबाने को विवश करता है ।



बिखरे मोती से आहृत शचीन्द्र प्रियंवद के विचार–

बिखरे मोती, अर्थात् मोती के बिखरे दाने और उन बिखरे मोती के दानों को सहेजती गूँथती श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा और सुरक्षित रखते पीयूष प्रियंवद के हम ऋणी हैं ।

बिखरे दानों का सहेजन निश्चय ही जहाँ व्यक्ति की ग्रहणशीलता, रचनात्मकता और संग्रह-प्रवृत्ति का बोधक है, वहाँ वह उसकी संश्लेषक-प्रवृत्ति को भी उजागर करता है । वस्तुतः, संश्लेषण रचनात्मकता की पहली शर्त होती है।

संश्लेषण या समन्वय मानवी प्रकृति है । 'मानवं' के लिए विश्लेषण तो मात्र ऐसे विजानन का साधन है, जिसके बिना उपनिषद्-वर्णित आत्मिक आनन्दमय कोष या सच्चिदानन्दघन तक पहुँचा भी नहीं जा सकता । (बिखरे मोती, पृ० xxxiii)

और, श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा के लिये यह सच्चिदानन्द, वस्तुतः, सार्व का संश्लिष्ट रूप है, अन्य कुछ नहीं । वही उनके लिए परतम शक्ति है । (वही)

'एकाकीपन मेरा', 'मानवी बनी मैं' और अब 'बिखरे मोती' । श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा ने अपनी इन रचनाओं में सार्व-शक्ति को ही परतम वास्तविक शक्ति के रूप में ग्रहण किया है । यह उनके लिये त्रिकात्मक समन्विति है शरीर-मन-प्राण या आत्मा की; समन्विति है सत्त्व-रज-तम या अधिभूत-अधिदेव-अध्यात्म की । श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा की रचनाओं में वह परतम शक्ति ही उनका सखा, मीत, मन, राजन् या प्राण है ।

आर्ष-दर्शन में निहित समन्वयवादिता को श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा ने जिस सहज-भाव से अपने जीवन में जीया उसे ही उन्होंने अपनी रचनाओं में शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति दी है । उनकी यह अभिव्यक्ति भी सहज है, बिना किसी छान्दिक ताम-झाम के वैचारिक गहराई, ओजस्विनी पठनयीता, करुणा, भय, आक्रोश, व्यंग आदि का सहज प्रकाशन जैसे उनकी रचनाओं के सहज अंग बने दीखते हैं । श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा 'समन्विति' की मुरीद हैं– चाहे वह किसी का वैयक्तिक जीवन हो अथवा सामाजिक या वैश्विक । 'समन्विति' उनके लिये सहजता, शुद्धता (निर्दोषता) और सर्वकल्याणकारिता की प्रतीक है ।

प्रियंवदा सिन्हा की दृष्टि में वैज्ञानिकता का वही महत्त्व है, जो औपनिषदिक ऋषियों के लिये विजानन का रहा है । इसी आधार पर 'शिव' को वे 'शक्ति' के साथ जुड़ा पाती है; और उन्हें 'शक्तियुत्' 'शक्तिमान्' कहती हैं । यही 'शक्ति' श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा की 'नारी' और 'मानवी' है । उनके लिये नारी, मानवी या प्रकृति, वस्तुतः, शक्ति का ही पर्याय है । 'पुरुष' को वे 'अर्द्धनारीश्वर' अर्थात् 'शक्ति और शक्त' की समन्विति कहती हैं । वे औपनिषदिक 'सत्य' अर्थात् 'सत् और यत्' कीं संयुति को ही परतम शक्तिमान् मानती हैं । 'सत्' और 'यत्' की समन्विति ही विद्या और अविद्या की, ज्ञान और कर्म की, क्रिया और कारित्व की समन्विति की निरूपिका है ।

'एकाकीपन' को श्रीमतीं प्रियंवदा सिन्हा ने अज्ञान या अनभिज्ञता के रूप में लिया है; 'मानवी' को मनःचिन्तनयुत् मननशील व्यक्तित्व के रूप में; और, मोती को सशक्त व्यक्ति के रूप में अवधारित किया है । यह सशक्त व्यक्ति ही अपनी

मानवी आद्वैतिक समन्विति में सार्वशक्तिरूप सर्वशक्तिमान् 'मानव' है, 'पुरुष' है, 'ब्रह्म' या 'ईश्वर' है ।

श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा की रचनाओ में, वस्तुतः भातीय आर्ष-दर्शना को अपनी सहज अभिव्यक्ति मिली है । उनकी रचनाओं में छान्दोग्य-सन्दर्भित 'सत्' की सत्यगत रूढ़िग्रस्तता और 'असत्' की असत्यगत नकारात्मक शास्त्रीयता का अभाव स्पष्ट दीखता है । उनकी रचना की विषय-वस्तु 'जीवन', 'उदात्त जीवन', वस्तुतः, नासदीय सूक्तगत 'सत्-असत्' (सतो बनधुमसति) की समन्विति से सन्दर्भित है ।

आज की समस्याओं की निदानात्मक आवश्यकता को जिस तरह श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा ने देखा है उसके अनुकूल ही उन्होंने अपने विचार भी अभिव्यक्त किये हैं । आज जीवन के किसी भी क्षेत्र में एकांगिकता या एकदेशीयता को कोई स्थान प्राप्य नहीं । हर अंग, हर देश को सार्व का अंग बनकर रहना है, एक वैश्विक, अर्थात् एक शरीर के सभी शारीरिक अवयवों की समन्विति के रूप में । श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा का यह सार्व कोई अन्य नहीं, वरन् समानता, सौहार्दता, और स्वतन्त्रता की भावना से परस्पर संयुक्त या समन्वित 'स्व' का सम्पूर्ण संसार है । ये रचनाएँ आर्षेय-आलोचन को आमन्त्रित करती हैं, आज की शास्त्रीय आलोचना (जहाँ नकारात्मकता ही प्रधान है) की नहीं । यहाँ वैचारिक अभिव्यक्ति को 'अमंगल-निवृत्ति' के दृष्टिकोण से परखना होगा । 'दर्शन' छन्दों में नहीं बँधता, वरन् रूपकों में अभिव्यक्ति होता है । वह (रूपक) मात्र प्रकृति या व्यक्ति ही हो, कोई जरूरी नहीं। श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा ने 'दर्शन' को, सृष्टि-ब्रह्म-सार्व और स्वयं जीवन के रूपक में बाँधकर, जीवन्तरूप में अभिव्यक्त किया है ।

यहाँ मैं हमारे पुत्र, श्रीपीयूष प्रियंवद, की कृति ''माँ ने कहा था'' की ओर आप सुहृद विद्वान् पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा । वहाँ प्रियंवदाजी ने, वस्तुतः, भारतीय आर्षेय दर्शना में व्याप्त शक्ति-प्राधान्य को लौकिकता के दायरे में लाकर जीवन को जीवनमय समझने-समझाने का जो सफल प्रयास किया है, वह मात्र अपने पुत्र पीयूष प्रियंवद के लिये ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण मानव-समाज के लिये है ।

प्रियंवदाजी की दृष्टि में दर्शन, साहित्य धर्म, विज्ञान सभी जीवन-सन्दर्भित हैं । और, जीवन को जानने के लिये वे औपनिषदिक ऋषियों की तरह ज्ञान और कर्म (सिद्धान्त और प्रयोग या व्यवहार) के समन्वय को अनिवार्य मानती हैं । इस तरह, उनकी दृष्टि में जीवन के लिये जीवन-सन्दर्भित सभी विषयों में एक सहज सर्वकल्याणकारी समन्विति अत्यावश्यक ही नहीं, वरन् नितान्ततः अनिवार्य है ।

प्रियंवदा जी की दृष्टि में अभिव्यक्तियाँ सहज प्राकृतिक नियमों के कूलों में रहकर ही जीवन्त और सर्वकल्याणकारी होती हैं । यहाँ वे आर्षेय वङ्मय के 'ऋत'

शब्द को अपना आदर्श मानती दीखती हैं। उनकी रचनाएँ, चाहे वह तथाकथित 'गद्य' हो या 'पद्य', स्पष्टतः एक ऐसी सहजता लिये हैं, जो वैचारिक गाम्भीर्य, उन्मुक्त अभिव्यक्ति और सहज प्रवहमान पठनयीता से कतई अलग नहीं । उनकी दृष्टि में वेदों की गरिमा वेदाङ्गों में नहीं, वरन् स्वयं वेदों में निहित है। वेदाङ्ग तो महज उनकी व्याख्या के साधन हैं।

'भामह' और 'मम्मट' भी जब आये तो वेद थे, जीवन था, जीवन-यापन की अपनी तत्कालीन व्यवस्था और व्याख्या थी, फिर भी वह अपनी सहजता में तत्कालीन व्याख्या और व्यवस्था से अनभिज्ञ, मात्र 'ऋत' से जुड़ा था। आज भी हम उसी ऋत के अनावरण के प्रयास में नई खोज करते हैं, सृष्टि-व्यवस्था की पुरानी व्याख्या को सम्पुष्ट या उसे नयी व्याख्या देने का प्रयास करते हैं। ऐसा करते समय निश्चय ही हम जीवन-सृष्टि को, उसके कल्याण को, उसकी अकल्याण-निवृत्ति को कभी नहीं भूलते। ऋषि-दर्शन या विचारणा में ऐसी ही संवेदनशील भावनाओं को प्रमुखता दी गयी है। इसे ही प्रियंवदा जी ने निम्नांकित ऋग्वेदीय मन्त्रोक्ति में देखे जाने का उल्लेख अन्यत्र अपने किसी आलेख में किया है।

एतोन्वद्य सुध्यो भवाम प्र दुच्छुना मिनवामा वरीयः।

वहाँ इस मन्त्र का अर्थ, श्रीअरविन्द के सन्दर्भ से किया है– "अब आ जाओ, आज हम विचार में पूर्ण हो जाएँ, कष्ट और असुविधा को नष्ट कर डालें, उच्चतर सुख अपनाएँ।

वस्तुतः, शब्द विचारों के संवाहक हैं, स्वयं विचार नहीं। सम्पादन शब्दों का होता है, विचारों का नहीं। विचार विचारक की नीजि सम्पत्ति होती है। विचार की पूर्णता सर्वकल्याण से सन्दर्भित विजानता में निहित होती है।

प्रियंवदाजी का मानना है कि आज का समय अपनी घोर व्यक्तिवादिता, और व्यक्ति की घोर वैषयिक संलिप्तता के कारण आतङ्कमय हो उठा है। ऐसे में दर्शन और साहित्य को, धर्म और विज्ञान को परस्पर समानता-सौहार्दता-स्वतन्त्रता के आधार पर जहाँ एक समन्विति में पथ-प्रदर्शक बनना है, वहाँ दार्शनिकों और साहित्यकारों को, धार्मिकों और वैज्ञानिकों को भी परस्पर सहमन्यता-सहमत्यता और सहभागिता के आधार पर उसी समानता-सौहार्द और स्वतन्त्रता के साथ एक होना होगा।

प्रियंवदाजी के विचारानुसार हमें यह ध्यान में रखना होगा कि 'शब्द' साधन होते हैं, साध्य नहीं। साध्य तो विचार होते हैं, जो अपने सात्त्विकरूप में सर्वकल्याणकारी और तामसीरूप में अकल्याणकारी सिद्ध होते हैं। और, सर्वकल्याण की प्राप्ति उन्हें विश्लेषित सत् और यत् की वास्तविक संयुति में परिलक्षित होती है।

❑

'मन-मानव' से आहृत साहित्यवाचस्पति डा० श्रीरंजन सूरिदेव के विचार–

भारतीय संस्कृति और साधना के क्षेत्र में मनन एवं मीमांसा के प्रामाणिक और विश्वसनीय हस्ताक्षरों में परमविदुषी प्रियंवदा सिन्हा का उल्लेखनीय स्थान है । इन्होंने अपनी एतद्विषयक उत्कृष्ट एवं महनीय कृतियों से भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का ततोऽधिक विस्तार अतिशय पाण्डित्यपूर्ण शैली में निर्मित किया है । (मन-मानव; पृ० v)

निबन्ध 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' स्पष्टतः गीता पर केन्द्रित है । निस्सन्देह, इस निबन्ध से आधुनिक विज्ञान-दर्शन के तहत गीता का प्रासंगिक पुनराख्यान सुलभ हुआ है । गीता पर उपस्थापित उसकी अनेक विध व्याख्याओं में यह एक ऐसी व्याख्या सम्मिलित हुई है, जिसकी अपनी रोचक और मौलिक अभिनवता है । गीता-चिन्तन के सम्बन्ध में लेखिका की भूमिका, अवश्य ही, एक मौलिक चिन्तक की है । (मन-मानव; पृ० v)

बहुश्रुत लेखिका ने आर्ष-परम्परा और विद्वत्परम्परा के शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया है, जिसका आक्षरिक साक्ष्य इनका 'आर्ष दर्शन' शीर्षक निबन्ध है, जिसमें इन्होंने पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों प्रकार की समन्वयात्मक चिन्तन-प्रक्रिया के द्वारा यह सिद्ध किया है कि निष्पक्षता के आधार पर निरपेक्ष सत्ता की गवेषणा आर्षदर्शन का मूल तत्त्व है, जिसकी उपलब्धि मनस्-द्रष्टृत्वशक्ति की प्राप्ति से ही सम्भव है । लेखिका का यह मन्तव्य ध्यातव्य है कि आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन निष्पक्षता, निरपेक्ष के प्रति अपनी असंशयात्मकता और सर्वकल्याणकारी दृष्टि के अभाव के कारण संशयात्मक स्थिति से ग्रस्त रहता है । आज के आतंकवाद की समस्या का व्यावहारिक समाधान सर्वभूतहितैषी आर्ष दृष्टि से ही सम्भव है । इसलिये, सम्प्रति विज्ञान और आर्ष दर्शन के बीच समवाय आवश्यक है । अदृष्ट क्रियाशक्ति को दृष्टरूप से देखना, फिर उसे सर्वकल्याणार्थ अभिव्यक्त करना ही आर्षदृष्टि की सर्वकालीन उपलब्धि है । इस दृष्टि का बहुमुख विकास आज की सर्वोपरि आवश्यकता है । भारतीय आर्ष दर्शन मूलतः चर्मचक्षु के बाह्य भौतिक दर्शन और मनश्चक्षु के आभ्यन्तर अध्यात्मदर्शन की समन्विति है । (वही, पृ०vi)

'विचारणा' और 'चिन्तना' ये दोनों ही निबन्ध अपने शीर्षकों को, अन्तर्वस्तु के विनियोग की दृष्टि से, अक्षरशः अन्वर्थ करते हैं... वस्तुतः, ये दोनों निबन्ध लेखिका की गम्भीर मनीषा एवं विलक्षण आन्वीक्षिकी का आश्चर्यकर निदर्शन उपस्थापित करते हैं । (वही)

'प्रमा' की शास्त्रीय परिभाषा है– तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमा अर्थात्, जो जैसा है, उसे वैसा ही समझना 'प्रमा' है । संक्षेप में कहें तो यथार्थ-दर्शन ही 'प्रमा'

है। इस शब्द की विवेचना में लेखिका का यह तर्क अविश्वसनीय नहीं कि प्रत्यक्ष जीवन का दर्शन ही, वस्तुतः, यथार्थ का दर्शन है। यथार्थ ऋषि-ज्ञान ही 'प्रमा' है। निस्सन्देह, यह निबन्ध इसलिये अतिशय महत्त्वपूर्ण है कि इसमें 'विज्ञानाध्यात्म' की दार्शनिक दृष्टि से 'प्रमा' का अध्ययन किया गया है। सच पूछिए तो 'प्रमा'-विषय पर इस प्रकार का विशद चिन्तन हिन्दी में पहली बार हुआ है। (वही, पृ० vi-vii)

अन्तःप्रज्ञावती लेखिका ने 'अभिव्यक्ति' की भी बहुकोणीय व्याख्या की है। उनके, इस सन्दर्भ में, प्रकथन का सार यही है कि 'दर्शन' और 'अभिव्यक्ति' अन्योन्याश्रयी होते हैं। इनका पारमार्थिक रूप जब सत् से सम्बद्ध होता है, तब यह जीवन-सन्दर्भित विचार-उच्चार-आचार के त्रिक की समन्विति का निरूपक हो जाता है। दर्शन और अभिव्यक्ति दोनों ही वाक्-रूप होने के कारण सर्वकल्याणकारी अर्थबोध के साथ ही अभिव्यक्त होकर पारमार्थिक हो जाते हैं। अर्थबोध के साथ ही शब्द की व्यवस्थिति साहित्य है, जो उस वैचारिक अभिव्यक्ति से सम्बद्ध है, जिसमें अर्थवत्ता सतत अनुस्यूत रहती है। सचमुच, कृतविद्य लेखिका द्वारा प्रस्तुत 'अभिव्यक्ति' पर अतिशय व्यापक, विस्तृत और शास्त्रसिक्त गहन चिन्तन भी पहली ही बार हिन्दी में सुलभ हुआ है। (वही, पृ०vii)

आर्ष परम्परा की दार्शनिक विषयवस्तु को वैज्ञानिक परिदृश्य में अपने विवेचन का लक्ष्य बनाना शास्त्रज्ञ लेखिका प्रियंवदा का मूल उद्देश्य है। इसलिये उन्होंने प्रकृत्या शास्त्रपूत दृष्टि से 'ईश्वर', 'ऋषि', 'नारी' और 'मानव' को भी अपने चिन्तन का आधार बनाया है।...इस कृति की धीमती लेखिका ने इस प्रसंग में जो विचार व्यक्त किया है, उससे इनकी स्वतन्त्र और मौलिक वितर्क-क्षमता का संकेत मिलता है। (वही)

भारतीय वैदिक एवं स्मार्त चिन्तकों की वैचारिकी के परिप्रेक्ष्य में 'ऋषि' की व्याख्या के क्रम में लेखिका की यह अवधारणा स्पष्ट होती है कि ऋषि विज्ञानी होने के साथ-साथ आध्यात्मिक द्रष्टा होते हैं। जीवन-दर्शन उनके कर्मक्षेत्र का विषय है। इसलिये, वे आज भी कार्य और कारण के अन्वेषक और द्रष्टा हैं। वे समस्या का निदान करते हैं, समस्या उत्पन्न नहीं करते। उनमें द्रष्टा और स्रष्टा होने की समान शक्तियाँ निहित हैं। (वही, पृ०vii-viii)

इस महत्कृति की अध्यात्मविद् लेखिका में पर्याप्त समृद्ध आन्वीक्षिकी है, तभी तो इन्होंने विचारणीय प्रत्येक प्रवृत्ति का दर्शन, व्याकरण, साहित्य और विज्ञान-सम्मत विश्लेषण के उपन्यास में प्रचुर और आशंसनीय सफलता आयत्त की है। अतएव, यह निर्विवाद है कि इनकी इस आध्यात्मिक कृति से भारतीय अध्यात्म-चिन्तन में एक नये आदर्श की उद्भावना हुई है, साथ ही एक नई पद्धति और नई दिशा भी उन्मीलित हुई है। (वही, पृ० ix)

❑

मन-मानव से आहृत स्वनामधन्य डा० देवेन्द्र नाथ तिवारी, आचार्य दर्शनशास्त्र ल०ना० मिथिला विश्वविद्यालय दरभंगा (अब बी०एच०यू० बनारस) के विचार–

'मन-मानव' (आर्ष दर्शन : एक अनुशीलन) श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा के चिंतनपरक लेखों का संग्रह है । इसमें प्रकाशित लेखों के अध्ययन से विदुषी लेखिका के विचारों की एकसूत्रता स्पष्टरूपेण गोचर होती है । (मन-मानव; पृ०x)

लेखिका ने भारतीय संस्कृति में समन्वित आगम-निगम के विचारों को आर्ष दर्शन का प्रतिनिधि माना है । जिस आर्ष दर्शन को उन्होंने प्रस्तुत पुस्तक में समाविष्ट किया है उसमें आगम-निगम परम्परा की समन्विति की स्पष्ट झलक मिलती है । (वही)

सार्व की एक क्रियारूप स्वरूपात्मक स्थिति की अवधारणा द्वारा भारतीय संस्कृति में निषेधात्मक दृष्टिकोण के स्थान पर विधानात्मक (Positive) दृष्टिकोण का समावेश हुआ है और आर्ष दृष्टिकोण इस भावात्मक दृष्टिकोण का प्रतिनिधि है– यह मानकर अपनी सार्व की अवधारणा में ज्ञान-क्रिया समन्वय, सब में आत्मरूपता की भावना और कुछ भी त्याज्य नहीं, की प्रस्तुति लेखिका ने प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है, वह सचमुच हमारे उपनिषद्, वेदान्त और आगम परम्परा की संस्कृति में ढाँचागत है, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती । (वही, पृ०xii)

'मन-मानव' की लेखिका ने जिस परतम की अवधारणा की है वह समग्र है । उसे ही उन्होंने ब्रह्म कहा है । शक्ति का धारक होने से वह शक्त्य और शक्ति के कारित्व–सृष्टि-कारित्व की हेतुता से वह शक्तिरूप में कहा जाता है । ...शक्ति के द्वारा शक्त्य समस्त अमूर्तामूर्त रूपों की सृष्टि का हेतु है, अतः अमूर्तामूर्त चेतन-जड मिथुन सृष्टि की अद्वैती व्याख्या के लिये आर्ष दर्शन को जड-चेतन तत्त्वों में से किसी एक के निषेध की आवश्यकता नहीं । समस्त सृष्टि ही शक्त्यात्मक है । (वही)

लेखिका की दृष्टि में 'समस्त सृष्टि शक्त्यात्मक है' –इस कथन का अत्यन्त गम्भीर अर्थ है । क्रिया-तत्त्व केन्द्रीयभूत है, मूलभूत है और, यह क्रियातत्त्व ही सिद्धासिद्ध भाव से नाम, आख्यात शब्द वाच्य होता है । क्रिया का ही विस्तार उपसर्ग, प्रत्यय आदिपूर्वक समस्त वाङ्मय के रूप में है और सिद्धासिद्ध की सम्पूर्ण व्यवस्था जगत् के रूप में । इस तरह लेखिका ने भारतीय परम्परा में जागतिक पदार्थों एवं भाषीय इकाईयों के बीच सम्बन्ध की अत्यन्त विवादास्पद स्थिति का संगत एवं आगम-सम्मत समाधान क्रियातत्त्व की केन्द्रीय अवधारणा के आधार पर किया है ।

'क्रिया' शक्ति का द्योतक है । जैसे क्रिया जीवन का धारक है वैसे ही व्यवहार, वाग्व्यवहार में भी आख्यात पद एवं तत्आख्य क्रिया ही समस्त अर्थों को धारण करती है । क्रियार्थ के अतिरिक्त वाक्यगत शेष पद पर उस क्रियार्थ को ही विशेषित या मर्यादित करते हैं, इसलिये क्रिया को वाक्यार्थ मानना सर्वथा उपयुक्त है। संसार में जो भी चीजें हैं वे या तो सिद्ध हैं या असिद्ध या प्रक्रियारूप । जो प्रक्रियारूप है वह भी क्रियारूप है और सिद्धरूप है वह क्रिया की ही सिद्धावस्था है । इस तरह लेखिका की शक्ति और शक्त्य की अवधारणा अत्यधिक दार्शनिक महत्त्व लिये हुए है । इस अवधारणा को लेखिका ने अपना मौलिक योगदान न मानकर आर्ष दर्शन की ही मौलिक स्थिति के रूप में स्वीकार किया है । वस्तुतः, आर्ष दर्शन को समझने, ठीक से समझने की एक कुंजी लेखिका ने हमें देने का प्रयास किया है ।

Macrocosm and microcosm में समानरूप से क्रियातत्त्व की मूलभूतता की आर्ष अवधारणा के औचित्य को लेखिका ने आइन्सटीन आदि आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत सापेक्षता सिद्धान्त और क्वार्क (quark) सिद्धान्त के आधार पर सभी सूक्ष्म एवं स्थूल को शक्त्यात्मक सिद्ध करने का प्रयास किया है । इस रूप में पुस्तक की समसामयिक उपयोगिता और बढ़ गयी है ।

'एक पूर्ण संस्कृत मानव' की एक स्पष्ट अवधारणा लेखिका के मस्तिष्क में है; जिसे उन्होंने धर्म, दर्शन, विचारण, चिन्तन, अभिव्यक्ति, प्रमा, ऋषि, मानव, आदिम दार्शनिक, नारी ईश्वर शीर्षक के अन्तर्गत विमर्शित विचारों के क्रम से परमार्थ में निवेशित किया है ।

मानव, मनुष्य की आर्ष अवधारणा में 'मन' शब्द की आधारभूत स्थिति को स्वीकार करते हुए लेखिका ने मनुष्य की संसारावस्था से लेकर सार्व की स्थिति की उपलब्धि तक मन की केन्द्रीय भूमिका की व्याख्या प्रस्तुत की है । संसारावस्था में मन विषयापेक्षी होता है, विषयों से ऊपर उठकर विषयों पर नियन्त्रण करता है । और बुद्धि को आत्मा से जोड़ता है । योग की स्थिति 'सार्व' की वह स्थिति है, जिससे मनुष्य सर्वज्ञता की उपलब्धि करता है । इसे भारतीय मनीषा ने जीवनमुक्त की अवधारणा के रूप में समझा है ।

लेखिका ने 'मनः' शब्द की विभिन्न निष्पत्तियों और शब्दकोशीय अर्थों के आधार पर अपने उपर्युक्त विचार के औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास किया है । अपने इस प्रयास में लेखिका कितनी सफल हैं ? इसका मूल्यांकन तो सुधी पाठक करेंगे ही; किन्तु यहाँ इतना कहना उचित प्रतीत होता है कि भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में संकल्पात्मकः मनः, अध्यवसायात्मिका बुद्धिः तथा उससे परे आत्मा की, भिन्न-भिन्न कार्यों के आधार पर, जो अवधारणा की गयी है उसमें तीनों को

एक-दूसरे से जुड़े होने की कोई स्पष्ट व्याख्या देखने को नहीं मिलती। श्री अरविन्द ने सच्चिदानन्द के क्रमिक विकास में इन्हें जुड़ा दिखाने का प्रयास किया है। यहाँ यह सुखद है कि लेखिका ने, 'मन' की आर्ष अवधारणा में भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की उक्त कठिनाई को, आर्ष दर्शन की अपनी अवधारणा में दूर किया है। उनकी इस अवधारणा में श्री अरविन्द के अध्यात्मवाद तथा मानवेन्द्र नाथ राय के मानववाद के मन के आत्म-स्तर से जुड़ाव की अवधारणाओं का एक सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है।

'मन' की उक्त अवधारणा की दृष्टि से लेखिका ने 'धर्म' को देखने का आह्वान किया है। उन्होने अन्य प्रसिद्ध निष्पत्तियों से अलग हटकर 'धृ+मन्' पूर्वक 'धर्म', को प्रश्रय दिया है और उसे ही आर्ष-सम्पोषित दृष्टि माना है। इस दृष्टि से धर्म को देखने पर अन्य निष्पत्तिपूर्वक धर्म की व्याख्याओं को भी स्थान मिल जाता है।

'धृ + मन्' के रूप में धर्म वैदिक 'ऋत' है; जीवन का स्रष्टा, धारक और उसे चलाते रहने वाला तत्त्व है। मनुष्य के मन, बुद्धि और आत्मरूप में क्रमशः धर्म की क्रियाशक्ति सूक्ष्म होती जाती है और अन्ततोगत्वा धर्म की मूर्त्तिमान् अवस्थिति सार्वरूप में अवधारित होती है, जिसकी प्राप्ति होने पर मनुष्य सब कुछ पा लेता है; और जिसके ज्ञात होने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है।

लेखिका विचारों की परिपक्वता का दावा तो नहीं करतीं किन्तु इतना कहना अत्युक्ति नहीं कि इन्हें आगम-निगम परम्पराओं का बोध तो है ही, साथ ही आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों की भी जानकारी है और इसलिये आर्ष दर्शन के कतिपय विचारों की प्रासंगिकता को बखूबी आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों के हिसाब से दिखाने में वे सक्षम हो सकी हैं।

लेखिका एक कवयित्री भी हैं; और आर्ष विचारों की संवाहिका कवयित्री के रूप में इनकी निष्ठा 'एकाकीपन मेरा' (सन् 2002 ई०), 'मानवी बनी मैं' (सन् 2003 ई०) तथा 'बिखरे मोती' (सन् 2004 ई०) शीर्षक काव्य-ग्रन्थों के प्रकाशन के साथ प्रतिष्ठित हो चुकी है। इनके काव्य-संग्रहों के विविध पक्षों के सम्बन्ध में बहुत-सारे प्रश्न उठते हैं। मेरी समझ से उन प्रश्नों के उठने-उठाने का कारण ढूँढ़ना आसान है।

काव्य-संग्रह के तत्त्वों, खासकर विषयवस्तु तथा क्षेत्र के सम्बन्ध में साहित्यकार या तो बहुत पीछे जाते हैं या बहुत आगे। कहने का तात्पर्य यह है कि वे काव्य के लिये प्राचीन साहित्यों से विषयवस्तु लेते हैं या अत्याधुनिक निराशा, मौत, उदासीनता, टूटन, घुटन जैसी अवधारणाओं (जिन्हें समकालीन एवं उत्तर आधुनिकतावाद

ने अपना विषय बनाया है) को प्रधानता से लेते हैं । कहीं-कहीं समसामयिक मनोवृत्तियों, समाज में घटनेवाली घटनाओं के संवेगात्मक उद्‌गार को अपनाकर काव्यों की रचनाएँ होती रही हैं । लेखिका प्रियंवदा सिन्हा ने 'मानव की समग्रता' को विषय करके उसकी दलित स्थिति से प्रयाण कराकर सार्व की प्रत्यभिज्ञा कराने में अपनी प्रतिभा को नियुक्त किया है । उनके काव्य का लक्ष्य पाठक को पूर्ण संस्कृत के रंग में रंगने की उत्प्रेरणा बन जाता है, जो काव्य के सम्बन्ध में परम्परागत समझ वाले अथवा अत्याधुनिक विचारों को महत्त्व देनेवाले साहित्यकारों को एकबारगी बेतुका लग सकता है । फिर भी जो चिंतन-धारा उनके काव्यों में बहती है उसके विषय, क्षेत्र, शैली, लक्ष्य आदि की व्याख्या को इस गद्यात्मक प्रस्तुति में सहजतः देखा जा सकता है । मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक को पढ़ने के बाद उनके काव्य-संग्रहों को भी अच्छी तरह समझा जा सकेगा ।



श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा की कृति 'आर्ष द्रष्टृत्व' से आहृत स्वनामधन्य डा० देवेन्द्र नाथ तिवारी के विचार–

'आर्ष दर्शन' ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत और व्यवहार द्वारा अनुभूत (tested) श्रेष्ठ एवं समादरणीय जीवन-पद्धति का दर्शन है । श्रेष्ठ और समादरणीय जीवन-पद्धति का अर्थ जीवन के दिव्यीकरण की सतत प्रक्रिया से है । इस प्रक्रिया में सिद्धान्त अपनी व्यावहारिकता से सम्पुष्ट होता है ।

शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष एवं कल्प इत्यादि वेदांगों, सूत्रों, भाष्यों, आयुर्वेद, स्मृतियों, पुराणों तक की, भिन्न-भिन्न प्रकार से मनीषियों ने लोकहितार्थ व्याख्या की है और उसका विस्तार किया है । उन वेदांगादिकृत प्रस्तुतियों में आर्ष दार्शनिकता एक ठोस रूप धारण करती है, और उसमें आर्षेय जीवन-दर्शन अपनी पूर्णता में अभिव्यक्त तथा एक सूत्र में गूँथा मणिमाल-सा दृष्टिगोचर होता है। उस एक सूत्रता को भारतीय दर्शनों पर विचार करनेवाले आधुनिक चिन्तकों और विचारकों ने मैक्समूलर, ब्लूमफिल्ड, बिल डूरन्ट आदि पाश्चात्यों की शैली से उपस्थापित करना उचित समझा; और उस तरह की विषय-प्रस्तुति एवं शैली को नवीन एवं वैज्ञानिक मानकर आर्ष दर्शन पर अनेकानेक ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिन्हें भारतीय भू-भाग में अपेक्षा से अधिक सम्मान मिला । किन्तु, पाश्चात्यों द्वारा उपस्थापित आर्ष दर्शन का चित्र लेकर भारतीय लेखकों ने जो कार्य किया है उनमें आर्ष दर्शन का मौलिक चित्र प्रायः नहीं उभरता और वे प्रयास वैसे लगते हैं, जैसे गोल छाया-चित्र को चौकोर फ्रेम में मढ़ा गया हो । उन सब प्रस्तुतियों में आर्ष द्रष्टृत्व की

एकसूत्रता तथा विषयों की समग्रता देखने को नहीं मिल पायी । वस्तुतः, जो नियम कण में है, वही ब्रह्माण्ड में भी है– इस दृष्टि से कण और ब्रह्माण्ड की व्याख्या में जो एक सूत्रता एवं समग्रता मिलती है, वह कण और ब्रह्माण्ड को अलग-अलग मानकर की गयी व्याख्याओं में नहीं मिल सकती । फिर, भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में जीवन का परमप्राप्तव्य मोक्ष समझा गया है; और मोक्ष को 'लोक से मुक्ति' या 'जीवन से मुक्ति' इस निषेधात्मक संन्यासपरक अर्थ में ही स्थापित करने का प्रयास हुआ है । ऐसी स्थिति में भारतीय ऋषियों के साक्षात्कृत भावों को भारती विद्या के अधीन विचार करती विदुषी लेखिका की प्रस्तुति आर्ष द्रष्टृत्व स्वागतेय है ।

आर्ष दर्शन का जो चित्र विदुषी लेखिका ने प्रस्तु किया है, इसमें सार्वभाव की प्राप्ति का परम लक्ष्य परमप्राप्तव्य है । यहाँ लोक भी लोकेतर और लोकेतर भी लोक, व्यष्टि भी समष्टि और समष्टि भी व्यष्टि भाव (sense of nonduality) में दृष्टमान् होते हैं । यह दृष्टि कण और ब्रह्माण्ड की एक सूत्रता पर आधारित है । इस दृष्टि के लिये सर्वकल्याणकारी सार्वरूप अर्थात् जीवन में शिव का अभ्युदय परम लक्ष्य है ।

इस परम लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में सत्य, ऋत, आत्म-अध्यात्म, ऋणत्रय, पुरुषार्थ, यज्ञ, यात्रा आदि भावों का सर्वोपरि महत्ता के इन प्रत्ययों की जो व्याख्या विदुषी लेखिका ने की है उस व्याख्या का आधार धर्म है । 'धृ+मन्' इस निष्पत्ति द्वारा लेखिका की व्याख्या में धर्म ऋत है, शक्ति है और समस्त चीजों की सृजना तथा उनके नियमन का हेतु ही नहीं, बल्कि सब में व्याप्त भी है; और इसलिये सब चीजों में एक प्रयोजनमूलक सम्बद्धता (teleological subordination), एकसूत्रता की व्याख्या भी सम्भव हो पाती है । सार्वभाव से सबों की प्रयोजनमूलक सम्बद्धता एवं एकसूत्रता की दृष्टि और भारती विद्या के सौन्दर्य-बोध की जो अवधारणा यहाँ उपस्थापित होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

इस अवधारणा में 'सत्+यत्' पूर्वक निष्पन्न 'सत्य' में 'यत्' शक्ति है और इस शक्ति के कारण ही 'सत्' शक्तिमान् या सत्तावान् है । इस तर्क के आधार पर विदुषी लेखिका ने भारतीय परम्परा में निगम और आगम दर्शन की संयुति की जो व्याख्या उपस्थापित की है वह कई अर्थों में आरम्भक प्रतीत होता है । कारण, पूर्ववर्ती विद्वानों ने आगम और निगम दर्शनों के विषय में परम की सत्ता और उसकी सर्जनात्मकता को लेकर भेद किया है और यह माना है कि वैदिक परम्परा, जिसका उत्कर्ष वेदान्त और विशेषकर शाङ्कर वेदान्त है, में परम या ब्रह्म को सच्चिदानन्द तो माना गया है; किन्तु उसे गतिशील, सर्जनाशील, या क्रियारूप (dynamic) न मानकर स्थितिशील, शान्त (static) माना है । वैसे, विद्वानों ने आगम परम्परा,

जिसका उत्कर्ष अभिनवगुप्त में होता है, में परम या शिव को सर्जनात्मक माना है। क्रिया को परतम के स्तर पर स्वीकार न करने के वेदान्तियों के तर्क से भिन्न, आगमों ने परतम को क्रिया या विमर्श स्वीकार किया है। किन्तु विदुषी लेखिका की आर्ष दर्शन की व्याख्या परम को सत् और यत् या ऋत अर्थात् शक्त और शक्ति भी स्वीकार करता है। वह मध्यस्थ द्रष्टा नहीं बल्कि स्वरूपतः ज्ञान भी है और क्रिया भी है। यहाँ क्रिया पूर्णता का द्योतक है, न कि अपूर्णता का।

आर्ष दर्शन का परम, जिसकी अवधारणा प्रस्तुत पुस्तक में विदुषी लेखिका ने उपस्थापित की है, सत् भी है और 'यत्' भी। ऋत और सत् पूर्वक ही समस्त सर्जना हो सकती है। लेखिका की उक्त अवधारणा का आधार निम्न उद्धृत मन्त्र है–
ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत्।

उपर्युक्त मन्त्र के अनुसार शक्ति प्रत्येक रूप में सर्जना कर सकती है। प्रत्येक रूप को धारण कर सकी है। 'परम', वस्तुतः, शक्तिरूप होने से ही सर्वरूपवाला होता है। फलतः आर्ष दृष्टि में चेतन-जड़ मन-मस्तिष्क, विचार-विस्तार सब में एक ही तत्त्व क्रियाशील सिद्ध होता है; और, इसी कारण बुद्धि (मस्तिष्क), जो भौतिकवादी व्याख्या में भौतिक तत्त्वों से उत्पन्न माना जाता है, में भी सार्वभाव के अभ्युदय की सम्भावना बनती है।

विदुषी लेखिका ने भौतिकवाद के प्रतिनिधि दार्शनिक के रूप में मानवेन्द्र नाथ राय के विचारों को उपस्थापित कर यह दिखाने का प्रयास किया है कि मानवेन्द्र का द्रष्टृत्व भी आर्षेय है और आर्ष दर्शन से हटकर उनका कोई भी मूल्यांकन पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता।

सार्व की दृष्टि, धर्म, ऋत, सत्य, शक्ति और शक्तिमान्, शक्ति और शक्त की संयुतिरूप में 'परम' आदि विषयों पर विदुषी लेखिका का चिन्तन भारतीय चिन्तन-परम्परा में एक नयी विचाराणा का आरम्भक है, जो ग्रन्थ को भारती विद्या के क्षेत्र में एक प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करता है।



खण्ड (ग) पत्राचार

डा0 दयाकृष्ण से

डा0 सेङ्गाकू मायदा से

डॉ0 दयाकृष्ण से पत्राचार

Dear Dr. Sachindra Nath Sinha,

Thanks for sending me the copy of the book **'Mana Mānava'** by Smt. Priyamvadā Sinhā and a copy of the Journal **Darshan Pīyūsh** which you are bringing out these days.

I have looked into the first chapter of the book dealing with the problem raised in the Gītā regarding the relation between Jñāna, Karma and Dharma, and have found it interesting. The writer seems very knowledgeable and has quoted from the original sources, displays an insight into the Indian thought regarding the issues concerned.

I look forward to see the other chapters and find what she has said. But one thing is clear that her consciousness is not centered in buddhi or reason and thus does not see the problem raised by the texts. For example, she seems to have discussed only the relation between Jñāna and Karma, but does not seem to be aware of the problem between Jñāna and Dharma. If dharma is to censor or control or decide what shall be considered as knwoledge, then the realtion of knowledge to truth becomes secondary to its relation to 'good'. She, of-course, does not seem to be concerned with the relation of **dharma** to **moksa** which has been there in the tradition.

I would like to thank you once again for sending me the book and the Journal.

With regards,
Yours sincerely,

Daya Krishna

From,

Shachindra Nath Sah
Priyamvadā Niwās
Chitraguptanagar
Kadirabad
Darbhanga - 846004
India

Reverend Dr. Daya Krishna.

I am really thankful to the almighty to have your thought-provoking letters. I am thankful to your generosity which took quick response to the receipt of the copy of **Mana-Mānva,** written by **Smt. Priyamvadā Sinhā**. I am thankful to you for raising questions regarding the conceptions of **Jñāna, Karma** and **Dharma**. I am sorry that I could not answer your letter in time. However, with the passage of time and the publication of **Ārṣa Drașțṛtva** (आर्ष द्रष्टृत्व), **Sat-asat** (सत्-असत्) and **Drașțā Paśyati Hi Kriyāḥ** (द्रष्या पश्यति हि क्रियाः) written by Smt. Priyamvadā Sinha that I find myself in a position to answer your letter and clarify the doubts raised by you on the writer's account.

The writer of the above mentioned books has dealt with the term Dharma in quite an elaborated and analytical way. She has examined the term on the following scores— अचारः परमो धर्मः (ācāraḥ parmo dharmaḥ); दमो धर्मः सनातनः (Damo dharmah sanātanaḥ); धारणात् धर्मः (dhāraṇāt dharmaḥ); धिन्वनात् धर्मः (dhinvanāt dharmaḥ).

According to Smt. Sinha today we go with the **ācāraḥ** (अचारः) form of **dharm** (धर्म) and recognize it on the basis of its characteristics enumèrated by the Smṛties. Manusmṛti accords with– आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च । (1.108 पूर्वांश) and enumerates its characteristics in its following verse– धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ (6.92)

And when we go with the derivation of the term we take 'धृञ्' as the root (धातु) and taking it to mean as धृञ् धारणे define the term **dharma** as धारणत् धर्मः; and explain it as : धारणाद् धर्ममित्यहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः । यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ (महा० शा० प०; 109.

11). Smt. Sinha finds the great Madhusudan Jha saying 'धर्मो हि वीर्यं ध्रियते हि धर्मः' । Manusmṛti when goes in brief it characterizes **dharma** as : वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ With the term प्रियमात्मनः Smt. Sinha finds the root धिन्व (dhinva) explained. The term धिन्व means to please to satisfy. But the Sanskrit dictionary takes the term **dharma** derived as धृ+मन् (dhṛ+man). This proves the term **dharma** to be the synonym to दम i.e. the restrainment of mind and senses. Here, Smt. Sinha finds the term **dharma** (धर्म) defined as दमो धर्मः सनातनः । In all of her discussions Smt. Sinha goes with this very notion of dharma and concludes that the Ārṣa Philosophy or the Ārṣa darśan goes with this very notion of dharma.

Smt. Sinhā quotes from the Mahābhārata— दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः । ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ दमात् तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते । दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते ॥ दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम् । विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥ दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम । दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम् ॥ प्रेत्य चात्र मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम् । दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते ॥ (शान्ति पर्व 160.7-11)

दममेव प्रशंसन्ति वृद्धाः श्रुतिसमाधयः । सर्वेषामेव वर्णानां ब्राह्मणस्य विशेषतः ॥ नादान्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपपद्यते । क्रिया तपश्च सत्यं च दमे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दम उच्यते । विपात्मा निर्भयो दान्तः पुरुषो निन्दन्ते महत् ॥ सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुद्ध्यते । सुखं लोके विपर्येति मनश्चास्य प्रसीदति ॥ तेजो दमेन ध्रियते तन्न तीक्ष्णोऽधिगच्छति ! अमित्रांश्च बहून् नित्यं पृथगात्मनि पश्यति ॥ (शा०प०; 220.2-6)

After discussing the conception of **Dharma** on the above-mentioned score, Smt. Priyamvadā Sinhā gets the two (ācārah and Damah) differentiated in the light of the following lines of the **Mahābhārata**–सदाचारो मतो धर्मः सन्तस्त्वाचारलक्षणाः । साध्यासाध्यं कथं शक्यं सदाचारो ह्यलक्षणाः ॥ दृश्यते हि धर्मरूपेणाधर्मं प्राकृतश्चरन् । धर्मं चाधर्मरूपेण कश्चिदप्राकृतश्चरन् ॥ पुनरस्य प्रमाणं हि निर्दिष्टं शास्त्रकोविदैः। वेदवादाश्चानुयुगं ह्रसन्तीतीह नः श्रुतम् ॥ अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे। अन्ये कलियुगे धर्मा यथाशक्ति कृता इव ॥ (शा०प०; 260.5-8)

Thinking over these lines mentioned by **Yudhisthira** in the **Mahābhārata** Smt. Sinha opts the meaning or definition of **Dharma** in

the terms of दमो धर्मः सनातनः and omits आचारः परमो धर्मः for her–philosophical discussion. She does not feel the necessity of opting आचारः परमो धर्मः as Yudhisthira himself finds confused and at last submits to it by saying– चिराभिपन्नः कविभिः पूर्वं धर्म उदाहृतः । तेनाचारेण पूर्वेण संस्था भवति शाश्वती । (वही, 20)

Yudhiṣthira was an emperor. He had to administrate the empire. And the public could be controlled or administered only through the controlling its **ācaraṇa** (आचरण). An administrator cannot control the mind of an individual. An individual can be controlled only through his **ācaraṇa** (आचरण). The mind of an individual is liable to be controlled only by oneself through the restrainment of senses (इन्द्रियाँ). Smt. Sinha finds her support in the following lines of the Mahābhārata– न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः । धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।। (महा०, शा०प० 59.14)

In the light of the discussions made above Smt. Sinha prefers the term **Dharma** (धर्म) to be used in the sense of दमो धर्मः सनातनः ।

In the above mentioned references the term **Niscitadarśinḥ** (निश्चितदर्शिनः) has been used for the term **Dārśanika** (दार्शनिक). And to Smt. Sinha the term **Dārśanika** (दार्शनिक) does not stand synonym to Philosopher. In Sanskrit **Draṣṭā, Niścitadarśinaḥ, Krāntadarśin,** (क्रान्तदर्शिन), **Ṛṣi** (ऋषि) are such terms which have been used for **Dārśanika** (दार्शनिक). The term **Ṛṣi** (ऋषि) has been defined by the Nirukta (निरुक्त) as **Sākṣātkṛt-dharmāṇa Ṛṣayo babhūvuḥ.** (साक्षात्कृत- धर्माण ऋषयो बभूवुः) । Smt. Sinha finds the meaning of the term **Sākṣātkṛit-dharmāṇa** (साक्षात्कृत-धर्माण) in the **Āyurveda** (आयुर्वेद)। The **caraka Saṃhita** (चरक संहिता) defines the term seer as **Draṣṭā** (द्रष्टा) in its following verse– निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः । चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः । (चरक संहिता 1.56)

Smt. Sinha concludes that it is the **Draṣṭā** of **Kriyaḥ** who acquires **Kriyāsiddhi** (क्रियासिद्धि). In other words only the seer and the knower of **Kriyā** can be an omniscient (क्रान्तदर्शिन **Krāntadarśin**). **Ṛṣis** of the Vedas are the **Krāntadarśin.** They have also been known as **Kavi** (कवि) and **Manīṣī** (मनीषी)

For Kavi (कवि), Smt. Sinha finds its explanation in the words of **Ācārya Bhattatauta,** the guru of Abhinavagupta. The statement is

–नानृषिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात् । विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम् ॥ स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः । दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढ़ा लोके कविश्रुतिः ॥ तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः । नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना ।

A Kavi (Poet) is he, who perceives the whole of life elements or all the essentials of life. The term genius includes both brilliancy (उन्मेष) and description and includes both vision (दर्शन) and representation (वर्णन). The commentator of Kāvyaprakāśaḥ (काव्यप्रकाशः) of Mammatācārya, Dr. Satyavrat Singh writes– जो कवि है वह ऋषि है । कवि को ऋषि इसीलिये कहा जाता है कि वह द्रष्टा हुआ करता है । कवि के द्रष्टा होने का जो तात्पर्य है वह है उसमें एक ऐसी प्रख्या, ऐसी प्रतिभा, ऐसी प्रज्ञा के होने का जो समस्त जीवन-तत्त्व का साक्षात्कार कर सकती है। ऋषि तो तत्त्व-दर्शन की शक्ति के कारण ऋषि है और कवि ऋषि होकर भी इसलिये कवि है; क्योंकि उसकी प्रख्या अथवा प्रतिभा नवनवोन्मेष सुन्दर सरस वस्तु-निर्माण में अभिव्यक्त हुआ करता है ।... प्रतिभा एक उन्मेष और उल्लेख भी है तथा साथ ही दर्शन और वर्णन भी ।

At this point the perceptibility (प्रख्या) or intellect (प्रज्ञा) comes to her (Smt. Sinha's) knowledge or understanding. Understanding or the perceptibility is the subject of **Mana** (मन). Here she finds **Mana** related both to knowledge (ज्ञान) and action (कर्म). She finds her confirmation in the following lines of **Manusmṛti** (मनुस्मृति)– एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् । यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ (मनु०; 2.92)

Manusmrti takes **Mana** (मन) both as **Jñānendriya** (ज्ञानेन्द्रिय) and **Karmendriya** (कर्मेन्द्रिय). **Manusmṛti** tells us that by restraining **Mana** all the senses are restrained. Restrained mind with restrained senses comes to define both Yajña (यज्ञ) and Yoga (योग). Both the terms have been defined as **Karmaśu Kausalam** (कर्मशु कौशलम्). To show this Smt. Sinhā quotes from Maharsi Bhārdvaja (महर्षि भारद्वाज)– यज्ञः कर्मशु कौशलम् समष्टिसम्बन्धान्महायज्ञः । and from the Geeta– योगः कर्मशु कौशलम् (गीता 2.50 अंश)।

The term **Kauśalam** (कौशलम्) stands for skill or cleverness. Skill is related to Jñāna and Karma both. The work done with skill has been declared in Upanisad as **Sukṛtam** (सुकृतम्). **Sukṛta** (सुकृत) represents the success of skill. And they say that nothing succeeds like

success. It is this success that makes one delightful or blissful. And it is the life of senses (शरीर) and mind (मन) in harmony that feels the touch of happiness or sorrow. The senses make the body; and the mind, in its manifestational form, makes the body go in action. When wisdom goes with work it results in good.

The combination of mind and body makes Yoga (योग) that finds the truth. And again, it is the combination of mind and body that makes a (यज्ञ) Yajña too. In both the cases work is done. The first on the Jñāna-score and the latter on the Karma-score. And it is the combination of Yoga (योग) i.e. Jñāna (ज्ञान) and Yajña (यज्ञ) i.e. Karma (कर्म) that makes human-life prosperous and good (शुभ).

Smt. Sinha finds confirmations of her thought everywhere in the **Vaidika** literature. The **Geeta** itself is the part of **Prasthānatrayī** (प्रस्थानत्रयी). As a matter of fact life leads a lively life in the collectivity of its distributive aspects. Man is both distributive (व्यष्टि) and collective (समष्टि) in nature. It does not go alone .

And for it Smt. Sihā finds her confirmation in the Ṛgveda. From **Puruṣa Sūkta** (पुरुष सूक्त) she has known the universal one and from the **Nāsadīya Sūkta** the individual one.

Here Smt. Sinha finds out the Law of caustion working in every bit and everywhere in the universe. From **Nāsadīya Sūkta** (नासदीय सूक्त) she comes to know that the cause of a whole (पूर्ण) is also a whole in itself; and that the ultimate cause is always there, even in the stage of the all destructed i.e. in the **Mahāpralaya** (महाप्रलय). The universe has not been constructed by the sweet will of any **Loketar Sraṣṭā** (लोकेतर स्रष्टा) and that too out of nothing. The universe is said to have evolved from one and only one, which is **advaita** (अद्वैत), **nirvikar** (निर्विकार) and **Avyakt** (अव्यक्त) in its nature.

Nāsadīya Sūkta describes it thus in its verse– न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत्प्रकेतः । आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥ तम आसीत्तमसा गूलहमग्रेऽकेतं सलिलं सर्वमा इदम् । तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥ कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ (ऋ० 10.12.9.2 से 4)

To Smt. Sinhā Ṛṣi is **tattva draṣtā**; **Kavi** (कवि) is both **draṣtā** (seer) and expounder; and **Manīṣī** is he, who does work with restrained mind and senses. Thus to Smt. Sinha **Kavayo manīṣā** (कवयो मनीषा) terms stand for a researcher, a scientist, and a **dārśanik** (दार्शनिक या द्रष्टा) in true sense. **Draṣtā** (द्रष्टा) is the seer of **Kriya** (action) i.e. the **Paramārthasatya** (परमार्थसत्य) i.e. the Ultimate truth.

The above-mentioned verse means to say that even during the **Mahāpralaya** there existed one that was live on its own existential cause. (आनीदवातं स्वधया तदेकं) । **Svadha** (स्वधा) stands for the material food elements to be sacrificed or offered in the **Yajñāgni** (यज्ञाग्नि) i.e. **havi** (हवि) for the **Pitara** (पितर).

The term **tadekam** (तदेकं) stands for the causal existence i.e. the Ultimate from which the univers evolved. It was dormant or action-free; because the **Kārakatva** (कारकत्व) ingrediant remains converted or transformed into the **Kriyātva** (क्रियात्व) one during **Mahāpralaya.** With circumstances becoming favourable for material evolution that **tadekam** (तदेकं) goes into transformational and evolutionary processes to evolve into the universe.

Today the scientists talk or pure energy and go for a research in transforming energic energy into material energy. They guess and think that it may be something in the Boson particle that causes the formation of materiality. Whatever it may, it is somehow clear that it is energic energy which gets transformed into material energy and gets the process of material evolution started. Matter has been defined as storage of energy.

The **Ṛgveda** names this pure energic energy as **tat** (तत्); and the favourable circumstances or the urging or stimulating cause for the evolutionary process as **Kāma** (काम), which gets the **tat** (तत्) transformationally differentiated into **sat-asat**. The **Ṛgveda** identifies them as bandhu (बन्धु). **Kāma** (काम) has been defined there as **sisṛkṣā** (सिसृक्षा).

Here Smt. Sinha examines the term **bandhu** (बन्धु) etymologically. This term is derived as **बन्ध्+उ.** This means that the **bandhus** (बन्धु) remain together in their mutual bonding. Thus it goes

to prove that **Sat** (सत्) and **asat** (असत्) in their annihilated form give rise to **tat** (तत्) i.e. an eternal entity. It remains in its pure energic form till its will for manifestation i.e. **Sisṛkṣā** (सिसृक्षा) makes it transformed into active ingredients of **sat** (सत्) and **asat** (असत्) representing cause of materiality and action respectively. The former is the tools into the hands of the latter. The former has been named as **Kāritva** (कारित्व) and the latter as **Kriyātva.** Both are the forms or manifestation of **Kriyā** i.e. pure energy. The two coordinately united in the presence of **Kāma** (काम) results into **Kāraka** (कारक) or Doer. Smt. Sinha sees it in the formulation of तत्→क्रिया+कारित्व=अर्थ या कारक । She finds its support yet in another form शक्ति +शक्त = शक्तिमान् । [Tat–(sisṛkṣā) Kriyā +Kāritva = Artha; śakti +śakta =śaktimān] [Tat–(sisṛkṣā) Kriyā +Kāritva = Artha]

Smt. Sinhā finds here both the seeds and the explanation of the law of causation. The causal part has two ingredients that of **Kriyā** and **Kāritva. Arth** (अर्थ) comes as the result. It is the manifestatinoal result, which proves to be the first work of the Doer i.e. the first causal work of the material universe.

In the above mentiond equation **śaktimān** (शक्तिमान्) is known as **Svayambhū** (स्वयंभू) because it is the manifestation of the **śakti** (शक्ति) itself. This very **śaktimān** when goes for further manifestational works He is known as **Natarāja** (नटराज) and the manifested ones are known as the result of the **Nartan** of **Natarāja** in **śaivism.** In **śākta** (शाक्त) the **śiva** is the manifestation of **śakti** (शक्ति) itself.

Smt. Priyamṿadā Sinhā thus concludes in her observations that the universe is the manifestation of an **advaita** (अद्वैत) and there remains no question of any **Dvaita** (द्वैत) ones.

Smt. Sinhā finds the ultimate cause of the universe in **Mana** (मन) with its confirmation in the verse of the **Ṛgveda** saying– कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् (10.129.4 पूर्वांश). She concludes that the **Mana** being the composition of **sat-asat** is sole cause of **jñāna** (ज्ञान) and **karma** (कर्म). And **Mana** (मन) being the root of the universe, is in itself the knower and doer of the whole of the universe and the universals.

And on the **Dharma** and **Karma**-scores Smt. Priyamṿadā Sinhā again goes with etymology. The terms **Dharma** and **Karma** have been derived as धृ+मन् and कृ+मनिन् respectively. For Smt. Sinha धृ धारणे relates to **man** (मन्); the senses are the manifestations of **mana** itself; and धारण stands for restrainment. Thus as a result Smt. Sinhā concludes that where **Dharma** is related both to **Jñāna** (ज्ञान) and **Karma** (कर्म) it also relates to the harmonious work of body and mind. Without **Dharma** neither **Jñana** or **Karma** could be gathered or achieved, nor the mind and body could do good work.

Reverend Sir ! आचारः परमो धर्मः does not seem susceptible to philosophical conceptions till **Damo Dharmaḥ Sanātanaḥ** itself does not come into its vogue. The Mahābhārata accepts – दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम् । And etymologically **Dharma** (धृ+मन्) stands for the restrainment of mind and senses, i.e. **Dama** (दम). With ten senses the body becomes the habitat of the mind too; and, both of them remain harmoniously related to each other with nerves and its system. It can be seen, too, in the conception of **Vāk-Prāṇa Mithuna**, enunciated by the **Chāndogya Upaniṣad** (1.1.5) opines Smt. Sinhā.

In **ācārika Dharma** (आचारिक धर्म) **Nīti** (नीति) becomes important. **Nīti** restricts or controls **ācāra** (आचार). It can be controlled by the **Dharma guru**, by the community or by the king. It may be remembered that with the failure of the **dharma-vyavasthā** (धर्म व्यवस्था; महा० शा० प० 59.14) the kingship was introduced; and with the inception of kingship, freedom of thought was restricted and Rule of Law was introduced.

Under such circumstances with the passage of time **Dama** (दम) became ignored and **ācāra** (आचार) became the subject of **Sampradāya** (सम्प्रदाय). **Sampradāya** has ben defined as – सम्यक् प्रदीयत इति सम्प्रदायः । And, **Sampradāya** (संप्रदाय) concerns tradition, traditional doctrine or knowledge, traditional handing down of instructions etc. In such a stage **Dharma** (धर्म) forgets the meaning of **dhṛ+man** (धृ+मन्) and acquires the traditional form of religious teachings. Traditions are variable. Manusmṛti says– अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे । अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः । तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते । द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे । (मनु० 1.85-86)

Now if **Dars'an** has to maintain its definition of **दृश्यते अनेन इति दर्शनम्** or **दृश्यते यथार्थतया वस्तु पदार्थज्ञानमिति दर्शनम्** it will have to adopt the definition related to **damo dharmaḥ sanātanaḥ**. (दमो धर्मः सनातनः)

As far as **Buddhi** (बुद्धि) or reason is concerned Smt. Sinhā has dealt it with quite a distinct manner. She has taken **Buddhi** (बुद्धि) as the **Mahattatva** (महत्तत्व) and treated as **mati,** which in its turn has been derived as **Man + Ktin** (मन्+क्तिन्) etymologically. This proves that **Buddhi** itself is none else than a form of **Mana** (मन). She gets her confirmation in the follwoing definition of **Antaḥkaraṇa** (अन्तःकरण) given by **Vedāntasāra** (वेदान्तसार)– **मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम् । संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी ॥**

As a matter of fact **antaḥkaraṇa** (अन्तःकरण) is the seat of doubt, thought, feeling and memory. It is synonym to mind or conscience. All the four ingredients of the **antaḥkaraṇa** are the manifestations of mana (मन) itself but differ in their works. With seeing the above-mentioned definition Smt. Sinha finds the explanation of the term **Niscitadars'inaḥ** (निश्चितदर्शिनः). A **Niscitadars'in** is such a seer who sees the subject with objective eyes, where **mana** (मन) raises and deals with doubts (संशय); **Buddhi** deals with the doubts and reaches some sort of resolution or ascertainment or determination. **Buddhi** or **Mati** i.e. reason deals the problems to reach with positive conclusions. **Ahaṃkār** is that form of **mana** (मन), which deals with the senses of **Karma** (कर्म) i.e. **Karmendriya** (कर्मेन्द्रिय), and concerns **garva** (गर्व Pride). And **Citta** (चित्त) is that sort of **mana** (मन) which deals with **Smaraṇa** (memory स्मरण).

In the chapter in question **Dharmakṣetre Kurukṣetre** Smt. Sinha has dealt with **Dharma** (धर्म) in its (Dhṛ+man) form where **धृ धारणे** relates to and harmonizes with **mana** (मन); and **mana** (मन) relates both to **Kuru Kṣetra** (कुरुक्षेत्र); and **dharmakṣetra** (धर्मक्षेत्र). It is worth noting the first line of the chapter of the book Man-Mānava i.e. **Dharma Kṣetre KuruKṣetre** goes the following way– **गीता का प्रारम्भ होता है धर्मक्षेत्रे और कुरुक्षेत्रे जैसे पदों से; और अन्त होता है योगेश्वरः कृष्णो और पार्थो धनुर्धरः के औपस्थितिक परिणामस्वरूप प्राप्य श्री, विजय, विभूति और ध्रुव नीति के दर्शन में । (मन-मानव; पृ०3)**

Smt. Sinhā in this chapter has dealt the term **dharma** with its etymological form of meaning; and not in terms of **ācāra** (आचार). In her mind **ācāra** (आचार) cannot be defined as **dharma**. If it (ācāra) is to be related to **dharma** (धर्म) in any way, it has to be thought of through **damo dharmaḥ sanātanaḥ-way** itself. **Dharma** then proves to be the determinant of **nīti** (नीति) and **nīti** in its turn causes **ācāra** (आचार) to be followed.

Smt. Sinhā has discussed the harmonious relationship between jñāna (ज्ञान) and Karma (कर्म) and found them administered through śastras (शास्त्र). She writes– शास्त्र, वस्तुतः, धर्मक्षेत्र के रूप में स्वीकृत है। शास्त्रानुसार कर्म करने का क्षेत्र कुरुक्षेत्र है । शास्त्र सत्य का निरूपण करते हैं; और, सत्य को ही धर्म कहा गया है । सत्य की प्राप्ति औचक नहीं होती। मनः प्रेरित मानव अपनी जागृति में जब तप, ज्ञान, यज्ञ और दान की धर्म-समष्टि को अपनाता है, तभी उसे धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र में मोक्षानन्द की परम प्राप्ति होती है । जब भी धर्म का समष्टिरूप टूटता है, वह अधर्म का रूप लेने लता है ।

For Smt. Sinhā **Divya Caksu** (दिव्य चक्षु) is nothing else than the **Kriyā Caksu** (क्रियाचक्षु). **Kriyā** (क्रिया) remains unseen or remains imperceptible to the general individual, or the unrestrained senses. According to Smt. Sinhā he who restrains his mind and senses can see or perceive the **Kriyā** (क्रिया). In reference to this she quotes from Āyurveda द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः । And this **draṣtā** is non-else than the **Niścitadarśinaḥ** of Indian Philosophy of **Ārṣa age.** As a matter of fact, to Smt. Sinhā the seers or **Ṛṣis** are the seers of **Kriyā**. In other words to know **Kriyā** is to gather **Jñāna** and to use the known **Kriyā** in finding out the **Parmārth Satya** is **Karma. Dharma** (dhṛ+man) helps to work on both the scores. The Geeta itself writes– ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः । तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् । (5.16)

Smt. Sinhā finds the **tat** (तत्) of तदज्ञानं (in the above mentioned verse) and that of तदेकं (Ṛgveda) all the same. **Tat** is the root of the universe. The **Ṛgvdea** and the **Geeta,** both take **tat** (तत्) as **Kūtastha** (कूटस्थ). The Geeta takes कूटस्थ as Pure (विकाररहित) which stands at the summit in its geneological table.

The Geeta mentions– कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् । अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ (वही, 26)

Further it mentions– यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः । विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ (वही, 28)

Further it writes– ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः । युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ (वही, 6.8)

And when Arjuna tells Lord Kirishna that the mind is very unsteady, turbulent, tenacious and powerful; therfore, I consider it as difficult to control as the wind, He answers– The mind is restless no doubt, and difficult to curb, Arujuna; but it can be brought under control by repeated practice and by the exercise of dispassion, O son of Kunti. (34,35)

The verse is– असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् । अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ (वही, 6.35)

This makes us clear that **dharma** (धर्म) in the eyes of **Darśana** (दर्शन) or Philosophy is defined as दमो धर्मः सनातनः and not as आचारः परमो धर्मः ।

To Smt. Sinhā it is **dharma**, which causes **Yoga** (योग) and **Yajñā** (यज्ञ). **Yoga** (योग) is to bring mind and body in harmony at work to know the **Paramārtha Satya** and **Yajña** is to translate the **Paramārtha Satya** and bring the same into its utility in favour of **Sārva** (सार्व). Work done in favour of **Sārva** (सार्व) has been named as **niṣkāma karma** (निष्काम कर्म) in the **Geeta.**

In her works Smt. Priyaṃvadā Sinha explains **mana** (मन) working both on the knower and doer sides. As a knower one has to see his subject; and as a doer one has to know the caue of the subject. A seer has to see the subject formally and materially. A doer has to know the causal ingredients of the subject or work. Both combined together fulfils the criteria of being a **dārśanika. Darśan** has been defined as दृश्यते यथार्थतया वस्तु पदार्थज्ञानमिति दर्शनम् ।

A **dārśanika** has to restrain his mind and senses to see the subject at the **Kriyā** or the causal level. The restrained senses in their harmony can see the subject according to their respective criterion. The restrained mind gathers and reacts in accordance with the sectional ingrediants of the **antaḥkaraṇa** (अन्तःकरण).

The **Ṛgveda** deals with **Brahma,** and for it the **Brahma** denotes all those things which are growing or increasing in nature or manifestation. Etymologically the term **Brahma** has been derived as बृंह्+मनिन्. **Mana** (मन) at its work is all manifestational.

The efficacy and the efficiency or the capacity of doing works of a body lies in the working of harmonial relation between its constituents. The five senses concerned with knowledge are known as **grāhakendriya** (ग्राहकेन्द्रिय) or receptors. With the receipt of information there starts the analytical work by **buddhi** or **mati** (मति= मन्+क्तिन्), **ātmā** (आत्मा=अत्+मनिन्) and **Brahma** (ब्रह्म= बृंह+मनिन्). At the stage of **Brahma** (ब्रह्म) ultimate truth **(Paramārtha satya)** i.e. the causal truth is discovered. At the **ātman** (आत्मन्) stage the universal (सार्व) truth and at the stage of **mati** or the **buddhi** or the reasoning stage scientific truth is ascertained and at the stage of senses the formal truth is discovered or found or examined. And it is with the help of the very **dharma** (धर्म=धृ+मन्) that all these truths are examined and ascertained to be reltated to the ultimate nonduality and seen. To Smt. Sinha the **Ṛṣis** of the **Vaidika** (वैदिक) age were the real men of letters. They saw, they thought, and they expressed the ultimate truth. And, they as the seer saw that nonduality in everyone and everywhere about which the **Ṛgveda** has mentioned– आनीदवातं स्वधया तदेकं ।

And that तदेकं is non-perishable even in the **Mahāpralaya.** It is pure i.e. **Kūtasthaḥ** (कूटस्थ:). It is the energicity of the energy itself. In the **Mahāpralaya** it lives on its own existential and worth working ingredient. At the time of evoluton it wills, evolves, transforms, combines, coordinates and manifests. It is the **Kriyā** (क्रिया) or the pure energy that evolves into material universe. The mater is defined, in Physics, as storage of energy or as the stored energy. When differentiated into work, power and enery, - **energy** proves to be the capacity of a body for doing work, be it mechanical or otherwise; work is said to be done by or against a force when its point of application moves in or opposite to the direction of the force; **force** is the energy, which acts through one body to another; **body** is matter which carries force i.e. acting form of energy; and **power** is the activity of an agent, which again is matter in action or energy-transformational source (it

may be a dynamo or an engine). Thus the power becomes or is proved to be the activity of an agent; and is defined as the rate at which the agent does the work.

As power is the rate of doing work, it involves a time-unit, but work does not involve time. It (work) is involved with force. Force is directed-energy and involves body. A body is a portion of matter limited in every direction and has definite volume, shape and is an occupier of some definite space.

A body when goes with divisions and subdivisions it takes the form of particles and move to make a fundamental one. The Physicists of today see many of them and are trying to search a pure one i.e. the fundamental one. But the **Ṛṣis** of the **Vaidika** age were able to see the purest state of energy. They could explain the evolutionary process too of the material world or universe in the light of Laws of energy, known as **Ṛta** (ऋत) to them. The whole of universe was energic to them. It (energy) was indestructible but transformable. It acted, reacted in a lawful manner. It caused the material evolution. Today the Physicists are trying to discover the cause and process of material transformation of energy. They see some sort of cause of materiality in the Boson particle.

The above descriptions lead us to a formulation like– अर्थ-क्रियाकारित्व । This has been elaborated as अर्थ = क्रिया+कारित्व । Here, अर्थ (artha) stands for result or work; **Kriyā** (क्रिया) stands for energic energy; and **Kāritva** (कारित्व) stands for material form of energy. Material energy is the energy in potential form which when goes to work, changes into kinetic energy. Kinetic energy is an energy of motion and the potential energy is the energy of stability. As a matter of fact it is energy which acts as force, works as power and results into body.

Ṛṣayo mantradraṣṭārah (ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः) or **Sākṣātkṛt-dharmāṇa Ṛṣayo babhūvuḥ** (साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो बभूवुः), such sayings make it clear that the seers of **devatās** (देवता) are the seers of **Kriya purusa**. And the **Devatā** of the **sūkta** of the vedas represent the **Kāryanir vāhaka śakti**, as **Maharsi Arvindo** has depicted in his

book **Veda Rahasya** (वेद रहस्य). This explains that work is done by the **Kriyā (sakti)** with the help of **Kriyā** (Kāṛitva form) and result into **Kāryakāri Kriyā.** Smt. Sinha calls them the **Kriyāpuruṣa** (क्रियापुरुष).

In naming **Kriyāpuruṣa** she identifies the **Kāryanirvāhaka śakti** respesenting **Prakṛti-Puruṣa** combination or the **śakti-śakta** combination, which in its turn is named as **Saktimān** and is identified as **Arddhanārīśvara** (अर्द्धनारीश्वर). This leads Smt. Sinha back to **Ṛgvaidika** or **Smārta** (स्मार्त) Version of **asat-sat** combination. **Manusmṛti** writes – तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते । प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया । (1.74 एवं 75 का पूर्वांश)

This clarifies the situation of **Mana** (मन). **Mana** (मन) being **Ubhayendriya** (उभयेन्द्रिय) works ḅoth ways i.e. both as **Jñānendriya** (ज्ञानेन्द्रिय) and **Karmendriya** (कर्मेन्द्रिय). Under such circumstances **Mana** (मन) in its restrained state of workmanship coordinates both **Karma** and **Jñāna**. The restrained mind and senses represents or defines **Dharma**. Thus **Dharma** proves to be the only **Purusārtha** (पुरुषार्थ) of the **Kriyāpuruṣa** (क्रियापुरुष) And, this very **dharm** earns both the **jñāna** and **Karma** for the **Puruṣa. Īśāvāsya Upanisad** (ईशावास्य उपनिषद्) writes विद्या चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ (ईशा० 11)

Here **vidyā** (विद्या) represents **Jñāna-Vijñāna** and **avidyā** (अविद्या) goes with **Kriyā vijñāna** (क्रियाविज्ञान). It is by knowing the **jñāna-vijñāna** that one knows the immortality of **Kriyā śakti,** and by knowing the **Kriyā Vijñāna** one knows that materiality is transformable. The **Geeta** concludes in its follwoing verse – न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ and वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि । तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ (गीता 2.20 एवं 22)

Dear Sir ! it is important to note that Smt. Sinhā in her research, which remained incomplete and unsubmitted on the **Mānavavāda** of Tagore, Roy and Radhakrishnan, has found the Vaidika **mānava** to whom she has attributed the name **मन-मानव (Mana-Mānava)**. And,

this very **Mana-Mānava** has always stirred the caves in the body of a man and that of the Himalayas, or the universe.

Smt. Sinhā has tried to pick up the resonance from the **Ṛgvaidika Sahasraśīrṣā** (सहस्रशीर्षा) and **Aupaniṣadika Puruṣa** resounding within her heart. She notes from the **Ṛgveda**– चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ (1.164.45) और इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय । शिरस्ततस्योर्वराभादिद म उपोदरे । (ऋ० 8.91.5)

Here the caves of the body and mind have been described from which the Vāka-Prāṇa mithun (वाक्-प्राण मिथुन) resonates and produces sound, gesture, motion, movement, action, effort or behaviour. Here the **Ṛgveda** identifies three caves in the body— **śiro guha** (शिरो गुहा), **Uro guha** (उरो गुहा), and **Udar guha** (उदर गुहा). (The commentary of swami Dayanand)

Smt. Sinha, in her writing, mentions about yet another guha (गुहा) i.e. **Pādaguha** (पादगुहा). She also talks of one **śvovasīya mana** (श्वोवसीय मन) a name used to differentiate the two mana (दो मनों) one which has been mentioned as the first cause of the evolutionary process in which the universe evolved; and the second that which is used as the synonym of mind these days.

As a matter of fact the **Vaidika Ṛṣis** knew the energy and its Law-abiding nature. They knew its transformibility too. They knew that the energy in its workability is liable to transformation into material energy. It is the matter-form of energy that evolves into material universe. They could think of transformational ability of the energy resulting into both the creation and destruction of material bodies. They could understand that the destruction of matter is nothing but the transformation of matter into energy.

Under such circumstances they could very well understand the inevitabiltiy of the existence of pure form of energy. This seems obvious when we note the **Ṛṣis** conceiving the three forms of **Agni –Agni, Vidyut** and **Vāyu.** We also find them to say that the sun, the electricity or the vidut (विद्युत्) and the fire are the sources of the same **Agni-Tattva.** They knew the five fundamental material forms and their

respective cause or causes. They named them as **Bhūta** (भूत) i.e. the existential material forms. They knew their respective energic causes too. They named them **Tanmātrā** (तन्मात्रा). Matter and energy are the same at the energy level, but differ on the working level. They knew that matter is the means and energy is the cause. The means and the cause combined make a force to get work done. The generating source transforms energy into power to get work done into space-time measurement.

The **Vaidika Ṛṣis** knew that matter is the handling need of energy and energy is the working need of the matter. They remain together; because the very eixtence of the material bodies need both, in their combined form. The scientists have identified body and matter. They see the body as a working matter. We have already seen the definition of the term **body**.

The **Vaidika Ṛṣis** are the seers of the scientific processes of the evolutionary universe. They have dealt with almost all the sciences with which the living or the physical world is concerned. They saw the cause of the universe in one and only one and named it **mana** (मन), which could transform and combine to produce or evolve into another working and manifestational work.

Darśan, as already dfined, has thus eyes in the form of **Dharma** **(dhṛ+man)**; and **dharma** (धर्म) is scientific observational process of finding out the ultimate truth. It is not mere a logical way of doubting and answering, but determining the ultimate truth (परमार्थसत्य) both in theoretical and practical way, hence the synonyms **Sākṣātkaraṇa** (साक्षात्करण), **Darśan** (दर्शन), **niścitadarśan** (निश्चितदर्शन), **krānta darśan** (क्रान्तदर्शन) etc. The **Ṛṣis** are the seers and knowers of life in its completeness.

As a matter of fact the research in worldly matters when leads one to the research in causal aspect one feels it necessary to know the minutest of the materiality. It is this aspect of one's research which has made the Physicist of today to have the knowledge of quarks. Remaining dissatisfied even after the research of quarks the scientists are now talking of that pure energy, which reamins nonfunctional i.e. without its

working counterpart i.e. **Kāritva**. Smt. Sinhā wishes— may the scientist find the truth and confirm the existene of **tadekam** (तदेकं) of the **Ṛgveda.**

To conclude, Smt. Sinha believes that it is the tradition of differing views that makes the discussions an unending process. or it is the material gains for the so-called authorities that forbid them to go to the non-material i.e. energic world, for their research. Lack of restrainment of mind and senses make the thinking unconcentrated and deviated. Unrestrained senses go with their respective ways; and, the individuality comes into force. The ultimate is forgotten. The summum cause ends into the working entity; formless gets working form; the abstract or **amūrta** (अमूर्त) is given form (मूर्त) in embodiment; **apāṇipāda** (अपाणिपाद) gets the entity of **Sahasraśīrṣā-Sahasrākṣa-sahasrapāda** (सहस्रशीर्षा-सहस्राक्ष-सहस्रपाद); tradition of restrainment of mind and senses is turned to the **ācāra** (आचार) or conduct that has to be handed over by the tradition; **Varṇa** becomes caste or **Jāti** (जाति); traditions give rise to **jāti** (जाति) or **Sampradāya** (सम्प्रदाय); society becomes community; man becomes individual; **ātmā** (आत्मा) goes to be identified with individuality; mana (मन) loses its control over the senses and finds itself become the slave of the senses or is ended in nothingness.

Under such circumstances the cause of evolution becomes the God or the creator or the controller of all, and the king becomes His representative on this earth; **jñāna** become the subject of the **Brāhmaṇa** (ब्राह्मण); **Brāhmaṇa** (ब्राह्मण) becomes the maker and executer of **Dharma** even though he does not have the knowledge of **Brahma** (ब्रह्म). The king becomes the saviour of **dharma; Dharma** becomes traditional **ācāra** (आचार) and traditional **ācāra** becomes the law. Now **Mana** (मन) is cut off from **manana** (मननं) or meditaion; meditation becomes a part of **yoga-kriyā** (योग-क्रिया).

As it has already been said that the **Ṛṣis** of the Vaidika period believed that the world or the universe was caused by a non-dual force, which is perpetual i.e. non-destructibe i.e. **avinasya** or **nitya** (अविनश्य या नित्य), **nirvikār** (निर्विकार), **nirguṇa** (निर्गुण), i.e. pure, non-functional energy. In the real world this pure form of force is not available. The

sciences deal with their respective subjects as a body or **Karya** (कार्य). This made them believe that there is no difference between **śakti** (शक्ति) and **śakta** (शक्त); and that **S'akti** (शक्ति) and **śaktimān** (शक्तिमान्) are the same. But the **Ṛṣis** found that **Saktimān** is carrier of **śakti** and is itself the working **(Kāryakāri)** manifestation of śakti. It is śakta (शक्त) that goes into formal changes into **Kriya's** evolutionary manifestation. They named, as already described, **śakta** (शक्त) as **Sat** (सत्) and **sakti** (शक्ति) as **asat** (असत्).

Ṛṣis identified the **Brahma** as **Raso vai saḥ** (रसो वै सः) **Rasa** (रस) is the carrier of Saḥ (सः). Rasaḥ (रसः) represents **śakta** (शक्त) or **sat** (सत्) and **saḥ** (सः) represents **Bala** (बल) or **śakti** (शक्ति) or **asat** (असत्).

Now, **Brahma** (ब्रह्म) in its derivational form i.e. **बृंह्+मनिन्** proves itself the summum working manifestation of mana. Under such circumstances the mana (मन) in itself gets defined as **Raso vai saḥ** (रसो वै सः) or the combination of **sat-asat** (सत्-असत्). **Manusmṛti** accepts it in its saying– **प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम्** ॥ (मनु० 1. 74). And the **Pratibuddhaḥ** (प्रतिबुद्धः) of this verse has been defined by the **Manusmṛti** (मनुस्मृति) itself in its saying– **यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् । तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते** । (मनु० 1.11)

The two, above-mentioned, verses clarifies the conception of **'like begets like'**, a conception of the evolutioinary theory of today. This also explains the term **turīya** (तुरीय) used in the **mantra** (मन्त्र) saying **चत्वारि वाक् परिमिता... तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति** ॥ (ऋ० 1.164.45)

The term **turiya** (तुरीय) denotes the term fourth. According to the verses of the **Manusmṛti** (as mentimed above), the first is the **Kāraṇa Brahma** (कारण ब्रह्म) and the fourth i.e. the **Turīya** (तुरीय) is the **kārya Brahma** (कार्यब्रह्म). **Like begets like.** Dr. D.N. Tiwari (now the Head of the Philosophy and Dharma faculty B.H.U.) has rightly said that the both are the fourth or the turiya (तुरीय) to each other, but the two differ in terms of cause and the effect. In evolutionary process both prove to be the cause of each other, as the creaction and the annihilation both prove to be the part of evolution.

स पुरुषः (मनु० 1.11), known as Brahma, is the cause of मनः सदसदात्मकम् (मनु० 1.74). In evolutionary state the former causes the latter and during the **Mahāpralaya** the latter causes the former. The term **turīya** (तुरीय) stands for the term **jyeṣtha** (ज्येष्ठ) too. Indra (इन्द्र) has been given both **turīya** and **jyeṣth** place amongst **Devas** or the **Kriyātmaka** (क्रियात्मक) or actional forces or functional forces. They say– अग्निर्रुद्रो वरुण इन्द्र इतीन्द्रतुरीयाश्चत्वारोऽमी ऐन्द्राग्नदेवाः । (तैत्तिरीय ब्राह्मण) । इन्द्रो ज्येष्ठानाम् । (तैत्तिरीय ब्राह्मण) ।

There is a question- How work is done ? We have already seen the definition of work. All the constituents of work are but force; application of force, a point of application of force, the direction of acting force, space needed for displacement. The force involved in geting work done has to be carried. The force and the carrier combined together acts as a force. The point of application is again a carrier of force in a non-functioning stage. The acting or the applied force strikes the points of application and carries the same away from its place where it existed. The former in its functional form stimulates the latter to move or work. The former becomes **Kārak** (कारक) whose **Kriyā** (क्रिया) in its action sets the latter in action. This proves the **Kāraka** (कारक) in itself is the combination of **kriyā** (क्रिया) and **Kāritva** (कारित्व). If **Kriyā** (energy) has to become functional or come into action it must have some means to make it expressive in action. And for this it converts itself into **Kāritva** (कारित्व) or materiality and gets harmonized together to become the carrier and the carried. Carrier and carried both prove to be energy at work. **Devatas** (देवता) prove to be such a working form of energy. In a body they are the generating agent of power to get the power go at work.

In such a condition **Indra** (इन्द्र) or other **Devatas** become or prove to become the **Kāryanirvāhaka śakti**. They are non-destructible.

With **Indra** all the **Devatas** reside in **Mana** (मन). We can say that **mana** (मन) represents itself as **Deva-form**. It handles the senses according to the need of the situation when restrained. **Mana** (मन) proves to be **Brahma. Mana** is composite of **Rasa** (रस) and **Bala** (बल). The acting **Bala** (बल) flows with **Rasa** (रस) to act. This **Bala** has been depicted by the **Ṛgveda** as मनसो रेतः (Ṛgveda; 10.129). The

stimulation is caused in **Rasa** (रस) by **Bala** (बल) to get itself acting. In its restrainment it acts upon the point of restrained senses. If the senses are not restrained the force applied goes in vain.

The **Nirukta** accepts that **Mana** (मन) as **Bala** (बल) acts as **Kāma** (काम) or a will i.e. a stimulant. अपि वा सा काम देवता स्यात् ।

The Ṛgveda puts it thus कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। They said it and rightly said– मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

Under such circumstances **Mana** (मन) in its restrainment or **dhṛti** (धृति) proves to become **Dharma** and acts as a controller of senses to give meaning to their respective works, be it of **jñāna** (ज्ञान) or **Karna** (कर्म). In philosophy **ācār** (आचार) has no place in relation to jñāna (ज्ञान) or karm (कर्म). Ācār comes after the Nīti is determined by **Dharma** (धर्म).

The texts are clear. **Dharma,** in philosophy rules out such a God who is beyond **Mana** or universe or is an outsider creator of the universe. Intermingling with आचारः परमो धर्मः Philosophy or **Darśan** has already lost its summum position of **Draṣṭā**. (द्रष्टा)

When dealing with Philosophy one must not forget the Law of Causation. Dharma of ācāra-brand dealing with the God forgets the law of causation and puts itself in the hands of **Rahasya** (रहस्य) i.e. mysticism, communalism, superstitions and blind faith. Smt. Sinhā opines, it is here that a man makes another man his slave. She quotes from the Mahābhārata— पाणिमन्तो बलवन्तो धनवन्तो न संशयः । मनुष्या मानुषैरेव दासत्वमुपपादिताः ॥ (आर्ष द्रष्टृत्व/165; महाभारत, शा०प० 180–34)

She also quotes from the **Atharva veda** (अर्थव वेद 9.5.15)– मैं यह नहीं जान पाया कि मैं परब्रह्म-रूप कारण हूँ अथवा उसका कार्य द्वैत हूँ। मैं इस द्वैताद्वैत की सन्देह-ग्रन्थियों से बँधकर उसी के मध्य घूमता हूँ । अतः सब इन्द्रियों से मुख्य बुद्धि के द्वारा, कारण हूँ या कार्य, यह जानकर वाणी के भान का उपभोग करूँ । (मन-मानव; पृ० 290)

Again she quotes from the same source– आत्मा अमरणधर्मा है, वह मर्त्य मन के साथ गर्भ से प्रकट होता है । ('मर्त्य' शब्द से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शरीर का अभिप्राय लिया है ।) आत्मा ब्रह्म में मिलकर तद्रूप हो जाता है । मन उनके पास नहीं पहुँच पाता । वह आत्मा के कार्य को देखता है, परन्तु कारण को नहीं देख पाता । (वही)

As a matter of fact unrestrained mind (अधृत मन) becomes the toy in the hands of the senses. It forgets reasoning. It itself remains engaged as **indriya** (इन्द्रिय). It works like other senses but lacks in reasoning. It doubts, but do not judge. It remains in doubts and conflicts but does not come out with reasoning and certainty. It does work but does not succeed with success. It does work but fails to fetch delightness out of the work done; beause it (the work) fails to be adjudged as the good (शुभ) to all.

As Smt. Sinha opines, it is the shifting conception from **Nirguṇa-Saguṇa** (निर्गुण-सगुण) combination to the separation of **Niruguṇa** (निर्गुण) and **Saguṇa** (सगुण) conception of the summum cause that has mattered. Smt. Sinha vividly sees this shifting in thought that from the **Ṛgveda** to that of the **Chāndogya Upaniṣad**. She points out the shifting of the Ṛgvaidika saying of **Sato bandhumasati** (सतो बन्धुमसति) to the saying of **Taittirīyopaniṣad** as **asadva idamagra āsīt. Tato vai Sadajāyata.** [असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । (2.7)]; and further to the saying of **Chāndogya Upaniṣad** that **Kutastu Khalu Somyaivaṃsyāditi hovāca Kathamasataḥ Sajjāyeteti. Sattveva somyedamagra āsidekamevādvitiyam.** (6.2.2) (कुतस्तु खलु सोम्यैवंस्यादिति हो वाच । कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।)

In **Ṛgvda sat** (सत्) and **asat** (असत्) are **bandhu** (बन्धु) or the the kins; in **Taittiriyopaniṣad** the **sat** (सत्) is made the produce of **asat** (असत्); and in the Chāndogya Upaniṣad **asat** (असत्) has been proved (though wrongly) non-existent one and the **sat** (सत्) has been proved as the nondual existent. With the inception of the Chāndogya Upaniṣad's conception of existent-nonexistent the **Saguṇavāda** (सगुणवाद) became the matter of prime acceptance. Though **Nirguṇavāda** has been accepted by the Islama as its philosophy, it has been subordinated to Dharma of ācārika concepton like any other religions which are in vogue these days all over the world.

The life was important to the Vaidika Ṛṣis. They lived their life in a philosophical way and physician's manner. They knew the life and saw its living process in live action.

They were the knowers and exponent practitioners of **Āyurveda** (आयुर्वेद) By knowing **ātmā** (आत्मा) through **dharma (dhṛ+man)** they

could treat the body and mind thoroughly. They knew and saw the universality of the **ātmā** and considered the life in its universality. They examined the individual, in its universality and the universals in their individualities. They knew whatever is working is the **Kāraka** (कारक) no doubt, but in itself it is the tranformation of Kriyā; and that Kriyā is eternal, non-destructible. It causes the formation and evolution of material world where mind and body work in there communion and harmony. It is the nervous system, as a whole, working in thinking and getting work done with the help of organs and limbs i.e. the senses of **jñāna** and **Karma** (कर्म), in their harmony is known as **Mana** (मन). The organics of mind and body remain synchronical and synthetical in its work.

The sciences study the body and its working-systems, be it that of individual or social. They don't go beyond body and its working system. They do not want to waste their time in the description of causal aspects of the body or mind.

Smt. Sinha has discussed it with an example from grammarian's act. The grammarians believe in the presence of three forms of **Vāk** (वाक्) or **Vāṇī** (वाणी) i.e. voice. They include **Paśyanti** (पश्यन्ती), **Madhyamā** (मध्यमा) and **Vaikharī** (वैखरी). They exclude **Parā** (परा) form of Vāk, but amalgamate the same with **Paśyantī** and **Vaikharī** both. For **Parā** (परा) they consider it the subject of non-vaiyākaraṇa (अवैयाकरण) to work at. They consider the **Madhyamā** (मध्यमा) as **madhyama** (मध्यम), as it is placed between **Paśyantī** (पश्यन्ती) and **Vaikharī** (वैखरी) But in the eyes of **Ṛgvaidika Ṛsi Parā** is the first and the foremost form of **Vāk** (वाक्) and it is seen by the **Yogis** (योगी) in their **nirvikalpa samādhi** (निर्विकल्प समाधि); and that **Madhymā** lies not in the middle of **Paśyantī** and **Vaikharī** but inhabits in the **Ānāhat cakra** (अनाहत चक्र) which lies in the middle amongst seven **cakraṣ** (चक्रों) described in **Yoga-Kriyā** (योग-क्रिया). The seven **cakraṣ** (चक्र) are– **Mūlādhāra** (मूलाधार), **Svādhisthān** (स्वाधिष्ठान), **Maṇipur** (मणिपुर), **Anāhat** (अनाहत), **Viśuddhi** (विशुद्धि), **Ājñā** (आज्ञा) and **Sahasrāra** (सहस्रार).

Anāhata Cakra (अनाहत चक्र) is the place of **Madhyamā** and it is **Hṛdayasthānī** (हृदयस्थानी) which is also the seat of **ātmā** (आत्मा). They say **Vāk** (वाक्) gets meaning (अर्थ) here in the **Madhyamā**

(मध्यमा). Smt. Sinhā makes it clear that it is ātmā (आत्मा), which makes the **Vāk** (वाक्) meaningful, both in the cases of knowing and doing. And the **Yoga** (योग)and **Yajña** (यज्ञ) are the subjects of restrained or subbued mind and senses which gets **dharma** defined in its turn.

The **Geetā** makes it clear in its following verse– असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति में मतिः । वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ (6.36) **Yoga** iṣ difficult of achievemnet by one whose mind is not subdued by him; however, who has the mind under control, and is ceaselessly striving, it can be easily attained through practice. Such is my conviction.

Here Smt. Sinha finds the clear indication that **ācāra** (आचार) is determined by **dharma** (dhṛ+man).

The **Geetā** writes at other place thus— The Yogi, who has fully conquered his mind and mastered his senses, whose heart is pure, and who has identified himself with the self of all beings i.e. God, remains untainted, even though performing action. (5.7). The verse is – योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः । सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते । The **Geetā** also writes– वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ He whose senses are under his control, is known to have a stable mind. (2.61 2nd part)

The **Geetā** says it in clear terms that those whose wisdom has been carried away by Māyā, and are of demonic nature, such foolish and vile men of evil deeds, do not adore me (7.15)

The **Geetā** enumerates four types of devotees. It speaks thus- चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ (7.16)

According to the Geetā those four types of devotees are : the seeker after worldly possessions, the afflicted, the seeker for knwoledge, and the man of wisdom, And, no doubt, the man of wisdom is extremely dear to the Lord Krishna. The synonyms of the word wise are noted as learned, sagacious and skilful. Wisdom contains both sagacity and skilfulness. And they are none else than restrained minded and sense-contained ones.

The Lord says– बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् । बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ (7.10)

Here Krishna says that he is the eternal seed of all beings. He is the intelligence of the intelligent and the glory of the glorious too. Here he accepts himself as **Tat ekam** (तत् एकम्) of the **Ṛgveda.**

Again, the **Geetā** says in clear terms that God determines neither the doership nor the doing of men, nor even their contact with the fruit of action; but it is **Svabhāva** (स्वभाव) alone that does all this (5.14).

The Lord says later in the **Geetā**– अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते । भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् । अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ (गीता 8.3 एवं 4)

The **Param Brahma** (परम ब्रह्म) is indestructible. The term Brahma, as derived i.e. in the form बृंह्+मनिन्, is the seed of the material universe and all the beings (7.10). In its supreme form **Brahma** (ब्रह्म) remains in the form of **Tat** (तत्), which according to **Ṛgveda** is described as आनीदवातं स्वधया तदेकं and remains indestructible even during **Mahāpralaya.** It lives on the existential constituent i.e. materiality of its own. It is indestructible, i.e. not transformable. At the **brahma** (ब्रह्म) stage it becomes growing or increasing or manifestational.

As the term goes, **Brahma** (ब्रह्म) is the infinite form of working **mana** (मन). At the supreme or **Param** (परम) stage it is **man** (मन्) only, not in growing or functioning stage. At the **Brahma** or eternal seed-stage it becomes transformational. **Ṛgveda** depicts this, as mentioned earlier, कामस्तदग्रे; मनसो रेतः; सतो बन्धुमसति । The cause of the manifestational work of mana lies in **sat-asat** complementation. It forms the **Svabhāva** (स्वभाव) or innate dispositon of the **Brahma.** This **Svabhāva** (स्वभाव) i.e. the **sat-asat** form of innate disposition forms the **adhyātma** (अध्यात्म) form of the **Brahma.** In respect to the material universe, this **Brahma** proves to be the eternal seed of it.

Here **Sat** (सत्) represents the materiality and **asat** (असत्) represents the energicity or actional form. Both are energic in nature and evolved from the pure form of energy repreented by **Tat** (तत्). **Sat-asat** (सत्-असत्) are the kins because of their evolvement from the **Tat. Kāma** (काम) is the will to evolve or to manifest (सिसृक्षा) The

Manusmṛti identifies this combination of **Sat-asat** as a **Puruṣa** (पुरुष) or **Brahma** (ब्रह्म) (1.11). According to **Manusmṛti** (मनुस्मृति) this **Brahma** creates or evolves into **Mana** (मन) which too is the combination of **sat-asat** (सत्-असत्) and this latter **Mana** (मन) gets going with creation or evolution. (1.74&75).

This make it clear that **Mana** (मन) is everywhere in the active creation or universe. **Mana** (मन), thus, is expressed in the body-mind combination i.e. an entity which grows with its endless manifestations. The mind is respresentd by **asat** (असत्) and the body by **sat** (सत्). **Mana** (मन), the internal organization (so to say nervous system) remains harmonized with the body i.e. the outer organization of the senses i.e. the **Jñānendriya** (senses of knowledge ज्ञानेन्द्रिय) and the **Karmendriya** (senses of work - कर्मेन्द्रिय). The body of an individual is a working entity in the world, amongst which man (मनुष्य) is the best evolved one. In man **Mana** (मन) is evolved in such a functional way of mind-body combination that his working becomes easy. **Aitareyopaniṣad** (ऐतरेयोपनिषद्) accepts it the best evolved in these words– **पुरुषो वाव सुकृतम्** । (1.2.3)

In **Ārṣa Darśana** every working entity or the working individual is the harmonized self of mind and body. Even the atom goes with subdivisions and finally gets its eternal entity of Tat (तत्) i.e. the purest form of **śakti** i.e. **Kriyātva** (क्रियात्व) or **asat** (असत्) or **Avyakta** (अव्यक्त), the minutest (सूक्ष्मतम) but the eternal, the endless, the unlimited, the **nirguna** (devoid of properties) and **nirvikara** (immutable, unchangeable). It is the subject of **Mahāpralaya.** With the will of manifestations it goes to evolutionary processes. The **Tat** is the **Man** (मन्) i.e. **Avaykta** (अव्यक्त) i.e. **Asat** (असत्).

The indestructible **Tat** (तत्) of the **Ṛgveda** goes the energic way. It abides with its own laws. The **Ṛṣis** name it. **Ṛta** (ऋत) i.e. Law of Nature, and now-a-day Law of Energy.

The term **nature** stands for innate character, or essential qualities of physical phenomena or natural disposition. This term also stands synonym to **Svabhāva** (स्वभाव) i.e. innate character. As a matter of fact the terms **Svabhāva** (स्वभाव) or **Prakṛti** (प्रकृति nature) stands for the situation in which **Kriyā** (क्रिया) takes its own course of action.

This remains as **Sahaja** (सहज) or **Sahajāta** (सहजात) with whole of the material universe.

When the **Geetā** uses the terms **Svabhāva** (स्वभाव) or **Sahajaḥ** (सहज:) it means the **Puruṣa** (पुरुष) or the **Kriyā-puruṣa** (क्रिया पुरुष) or the **Adhyātma Devatā** (अध्यात्म देवता) or the **Īśvar** (ईश्वर). Smt. Sinha quotes from the Geeta.

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते । (8.3 पूर्वांश); प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । (3.27 पूर्वांश); स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा। कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ (18.60); ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । (18.61 पूर्वांश); सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् । (18.48 पूर्वांश); स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ (18.46 उत्तरांश); श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ (18.47)

The Geeta in one of its verse (18.46) relates **Svakarmaṇā** (स्वकर्मणा) with **Manavaḥ** (मानव:) It also talks of **Svadharma** (स्वधर्म) of the man or **mānava** (18.47). These make Smt. Sinhā confirmed that **dharma** of man or **mānava** is to restrain his **mana** (mind-मन) and **indriya** (इन्द्रिय Senses); and that **ācāra** (आचार) is the conduct determined, as the verse (18.47) says, by this very restrained mind and senses. Smt. Sinhā finds the definition of conduct (आचार **ācāra**) there in the terms of the Geeta– **'स्वभावनियतं कर्म'** ।

It is **Svabhāvaniyataṃ Karma** (स्वभावनियतं कर्म) which has been taken into account in the verse (18.46) by saying **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।**

Smt. Sinha, quoting the lines **न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः । न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते** ॥ (5.14) from the **Geeta**, questions— if the God neither determines the doership (कर्तृत्वं) nor the doings (कर्माणि) of men, nor even relates them with the fruit of their actions, how can they attain the supreme peace and the eternal abode ?

And, to her the answer of the question comes from the following lines of the same source– **ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः । तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्** ॥ (5.16)

In this answer it has been said that only the true knowledge, which shines like the sun, reveals the supreme. And here comes Smt.

Sinha's conclusion that **dharma** (धर्म) in philosophy of life has to be defined as **Damo dharmaḥ sanātanaḥ** (दमो धर्मः सनातनः) and not as **ācāraḥ parmo dharmaḥ srutyukta smārta eva ca** (आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च । मनु० 1.108)

In philosophy, to gather knowledge, one has to subdue his mind and senses and then find the causal truth of the object or the subject in question; and from the ultimate truth one has to see and show the relation between the cause and the effect.

The effect and the cause seem to have separate entity, but that is not so. The **Ārṣa** Philosophy of life or the creation or the **sṛṣti** (सृष्टि) or the world or the universe does believe in the complete i.e. **Pūrṇa** (पूर्ण). It sees the cause and the effect in their completeness. It sees them in never-ending terms. It shows that both are the the same in their nature, only their forms differ. The cause is energic in action and the effect or work is material in form. Matter is transformable into energy and so energy is into matter. Of course, at present we don't know how; but it is a matter of time only, when the question will be answered.

Smt. Sinha considers **Dharma** as the means to gather the knowledge of the summum cause of the creation i.e. the ultimate truth of the creation, both by way of gathering **Jñāna** (ज्ञान) and acquiring the skill in **Karma** (कर्म). To restrain mind or **mana** (मन) and the senses does not need any particular way of performance of conduct or ācaraṇa enunciated by a particular **Guru** (गुरु) or **Sampradāya** (संप्रदाय). It is quite a personal problem.

One has to know the subject in question. And knowing a subject needs to know all the sciences that deal with its existence and utility. Smt. Sinha quoting M. Guyau's saying in her essay **Rājadharma** (राजधर्म)– **Religion is the outcome of an effort to explain all things– physical, metaphysical and moral– by analogies drawn from human society; imaginatively and symbolically considered. In short, it is a universal sociological hypothesis, mystical in form.** And She adds the comment of Manvendra too– **More correctly it is an intellectual hypothesis. Instinctively believing that everything is caused.** (आर्ष द्रष्टृत्व, पृ० 209-210)

Regarding belief and thought Smt. Sinha quotes M.N. Roy– **Belief and thought are not identical functions of the human brain. Thinking is a rational process.** (वही)

She quotes again from M.N. Roy– **Human will is a part of nature; it also grows out of the rational order. Man's desire and endeavours in pursuance thereof, are also determined; therefore, revolution take place of necessity.** (वही, पृ० 245)

As a matter of fact man is a thinking being, and he can be so as an indiviudal. The brain is a means of producton, and produces the most revolutionary commodity (M.N. Roy)

Smt. Sinha quotes from M.N. Roy– **religion differs eesentially little from science, which also proposes to explain the mysteries of nature.** (आर्ष द्रष्टृत्व, पृ० 221)

About psyche Smt. Sinhā quotes M.N. Roy (वही, पृ० 211)– **The psyche is said to be the repository of residues antidating homo sapiens. The psyche, hower, is not a mystic entity serving as the link between the mortal man and the immortal world-spirit. It is the subconscious part of mind– a biological hertiage, the storehouse of experiences of the primitive man as well of his vertebrate animal ancestors. The psyche is not a mystic entity, because as the subject of the science of psychology, it can be reduced to physico-chemical constitutents, with which philosophy can build the bridge accross the gulf between Physics and Psychology. The psyche, in other words, is the umbelical chord which binds man with all his spiritual attribute to Mother Nature— physical world. All metaphysical concepts and ethical values, conceived and created by homo sapiens, are physically determined, the psyche is a daughter of the Mother Earth** (ibid- 211).

Smt. Sinhā finds a vivid explanation of ātmā as **mana** (मन) **from Aitareya Upaniṣad** (3.1.1to3) The **upaniṣad** asks who this Ātmā is ? and answers– **यदेतद्धृदयं मनश्चैतत् । संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ।** (वही, 3.1.2)

As a matter of fact body representing senses has to be subdued and guided by **Mana** (मन) as a **Sārathi** (a charioteer) controls the

horses yoked in the chariot. The **Kathopanisad** speaks this relationship between mind and body i.e. senses in its following verses (1.3.3) — **आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण : ॥ यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ (श्लोक 3 से 5)**

Smt. Sinhā finds the same relationship between mind and body depicted by the **Geeta** in its following verse– **कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ (गीता 13.20)**

Here the **Prakṛti** (प्रकृति) represents the mind (मन) or the cause of action and the **Puruṣa** (पुरुष) represents the functional body i.e. body-mind-combine.

The Geeta says– The senses are said to be greater than the body; but greater than the senses is the mind. Greater than the mind is the intellect; and what is greater than the intellect is he, the self. Thus, Arjuna, knowing the self which is higher than the intellect and subduing the mind by reason, kill this enemy in the form of desire that is hard to overcome.

The Sanskrita (संस्कृत) version speaks thus– **इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना । जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदनम्॥** (गीता 3.42 एवं 43) **And for this the Geeta advises– You must first control your senses. (तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ । गी० 3.41 पूर्वांश)**

The Geeta differentiates between **Karma-Saṃnyāsa** (कर्मसंन्यास) and **Karmayoga** (कर्मयोग) (गीता- 5.2) but equates **asaṃyatātmā** (असंयतात्मा=असंयत आत्मा) (गीता- 6.36) and **asaṃnyasta Saṃkalpa** (असंन्यस्त संकल्प) (गीता- 6.2) In the eyes of the Geeta **Karmayoga** (कर्मयोग) stands for **niṣkāma karma** (निष्काम कर्म). For Smt. Sinhā this **niṣkāma karma** (निष्काम कर्म) relates to **Sārva** (सार्व) and **Paramārtha** (परमार्थ) and not to the individual one. Unrelated to any individual but to the **Sārva** (all) the **Karma** (कर्म) does not bind the doer i.e. the individual with **Karmaphal** (कर्मफल); because there the

Karmaphal (कर्मफल) goes to be related to the **Sārva** (सार्व) or the general.

The **Geeta** declares– जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः । शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ (6.7)

And it confirms it by saying– काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः । सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ (गीता– 18.2)

The **dhṛti** (धृति) or the restrainment or subduement of the mind and the senses has to be supported and incited by the **Sahaja Karma** (सहज कर्म) of the **mana** (मन) or **antaḥkaraṇa** (अन्तःकरण) and that too as discussed in the **Vedanta Sāra** (वेदान्तसार) by saying– मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम् । संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी ॥

The **Geeta** has named this type of **dhṛti** (धृति) or restrainment of mind and senses as **sāttvikī** (सात्त्विकी) (Geeta 18.33)

And, at the end of the dialogue betwen Shree Krishṇa and Arjuna the **Geeta** spells– नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ (गीता 18.73)

Here the terms नष्टो मोहः denotes the ending of doubts and delusions, finding inference of certainty, ending of egotism or vanity, and attainment of memory– all together. This makes Smt. Sinha conclude as to why Shree Krishṇa spoke– बहूंनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन । तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ (गीता, 4.5)

To her conclusion, Shree Krishna representing the **Kāraṇa Brahma** (कारण ब्रह्म) is bound to know the **Kārya Brahma Arjuna** and others; but **Arjuna,** representing **Kārya Bramha** (कार्यब्रह्म) does not remember the real entity of **Kāraṇa Brahma** (कारण ब्रह्म) i.e. **Shree Krishṇa.** For knowing this entity of **Shree Krishna** Arjuna had to have the **Kriyā dṛṣti** (क्रियादृष्टि) which is offered to him by the **Kriyā puruṣa** (क्रियापुरुष) himself. And only after knowing **Shree Krishṇa** Arjuna could know himself. Now he comes to know that he is not a doer but the means of doing; that he is the body which cannot go at work without **Mana** (मन), the enternal power, i.e. **Shree Krishna;** that he and the Lord together make a workable entity, alone they separately cannot go in action; that Shree Krishna representing **Kriyā**

(क्रिया) needs a medium or means i.e. **Kāritva** (कारित्व) or **Kārkatva** (कारकत्व) to get work done. **Kriyā** (क्रिया) and **Kāritva** (कारित्व) together make a working entity. As a **sārathi** (a charioteer) to Arjuna Shree Krishṇa leads him to a victory or to joy of a victory in the **Dharmakṣetra** (धर्मक्षेत्र) of **Kurukṣetra** (कुरुक्षेत्र). Shree Krishṇa tells Arjuna– **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ इति तेज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया । विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥** (गी० 18.61 to 63)

Here the term Moksa (मोक्ष) has been defined in terms of **परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।**

The **Kriyāpuruṣa** (क्रियापुरुष) gives freedom of choice of going with the senses or the **Kārakatva** (कारकत्व) side or to the **Kriyā**-side (क्रिया-पक्ष) to **Kāryapuruṣa** (कार्यपुरुष), but at the same time advises too– **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥** (18.65)

All the terms like **सहजं कर्म, स्वभावनियतं कर्म, स्वधर्म, परधर्म** (सब 18.47 एवं 48); **स्वकर्म** (श्लो० 45), neithter represent the conduct or ācāra prescribed by any community or a society, or a Guru, nor it identifies with the term **Dharma** (धर्म) in philosophical sense. **Ācāra**, as a matter of fact, is determined by the management according to their requirements. Of course subduement of mind and senses is the most important and perhaps the only ingredient of such **ācāra** (आचार) that may make them a **dhārmika** (धार्मिक), but not **dharma** (धर्म). Restrainment of mind and senses is always forgotten; because a society or a community does not, rather canot go with the restrainment of mind and senses.

Again **Sadācāra** (सदाचार) or **Dharmācar** (धर्माचार) too cannot be named as **dharma** (धर्म) because there the **acara** becomes related to **dharma** (धर्म) or **sat** (सत्) which in their turn go to become qualifying to or qualified by each of their counterparts. There the terms **sat** (सत्) and **dharma** (धर्म) are the adjectives to **acara** (आचार). **Yudhisthir** (युधिष्ठिर) in the **Mahābhārata**. refutes **Sadācara** to be taken as **dharma**.

Dharma (धर्म) is related to **mana** (मन) and not to **ācāra** (आचार). And **mana** (मन) is related to **jñānendriya** (ज्ञानेन्द्रिय) and **Karmendriya** (कर्मेन्द्रिय) both. In this way its subduement makes senses work in their harmonious concentration and give such results as to prove good (शुभ) to all.

As a matter of fact **ācāra** (आचर) can be traditional but **dharma** (धर्म) cannot be. **Dharma** (dharma) is eternal; because it is the subject of mana (मन) itself. The **Ṛgved** considers **Mana** (मन) as the working-form of **Tat** (तत्). In its working form it modifies itself to **Kārakatva** form of materiality and **Kriyā-form** of energicity. The **Kārakatva** form becomes the means of form and results into mnifestational means of work.

Thus the **Puruṣārtha Catuṣtaya** (पुरुषार्थ चतुष्टय) proclaims **Dharma** (धर्म), **artha** (अर्थ), **Kāma** (काम) and **Mokṣa** as its four ingredients. Here **dharma** (धर्म) does not represent **ācāra** (आचार) but represents **damo dharmah sanātanaḥ** (दमो धर्मः सनातनः); **arth** (अर्थ) goes to represent the 'result' both on the **Jñāna** (ज्ञान) and **Karm** (कर्म) scores; **Kāma** (काम) does not go to remain as desire but becomes **Saṃnyasta Saṃkalp** (संन्यसत संकल्प) i.e. **niṣkāma Karma;** (निष्काम कर्म) and **Mokṣa** (मोक्ष) goes to become the joyous fulfilment of **Saṃnyasta Saṃkalp** (संन्यस्त संकल्प)

Mokṣa (मोक्ष) does not remain in any manner the embracement of death. It is joyous not ruinous. It is joyous continuity of life. It is the seeing of the ultimate truth or communicating with the ultimate truth or the communioning with the ultimate **Satta** (सत्ता) i.e. being.

When Shree Krishṇa says सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता 18.66) He does say about the leaving of **ācārika dharma** (आचारिक धर्म) and to adopt the subduement of mind and senses for seeing the **Kriyāpuruṣa** i.e. the ultimate truth, that **Shree Krihṇa** himslef is.

As a matter of fact a Seer sees the **Kriyā** (क्रिया) and the seer of **Kriyā** becomes the seer of the relationship between cause and effect. Knowing the causal aspects the seer goes the universal way of seeing objective reality, which in its turn makes the seer **niṣkāma karmā** (निष्काम कर्मा). For him nothing remains personal. His interest goes for

the universal good. The Geeta names such seers or persons as **Samadarśinaḥ** (समदर्शिनः; 5.18)

It is the subduement of mind and senses or **Dama** (दम) that causes immediate knowledge of **Kriyā** i.e. the ultimate truth through immediate perception. The **Āyurved** rightly says– निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः । चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः । (चरक संहिता; 1.56)

To define and explain life the Āyurved says– सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् । लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम् । वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥ खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसङ्ग्रहः । सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम् ॥ सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः । प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते ॥ समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः । स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः ॥ यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् । समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः ॥ संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्। कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते ॥ इत्युक्तं कारणं कार्यं धातुसाम्यमिहोच्यते। धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम् ॥ कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च । द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसङ्ग्रहः ॥ शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः । तथा सुखानां, योगस्तु सुखानां कारणं समः॥

To Smt. Sinhā the **Ṛṣis** (ऋषि) were the real **Dārśanika** (दार्शनिक). They were Philosopher-Scientists and literators too. They were known as **Niścitadarśin** (निश्चितदर्शिन्) or **Krāntadarśin** (क्रान्तदर्शिन्). They expressed the reality of what they saw or percepted. They saw and knew the life and found the same everywhere in the form of energic manifestations. To them every bit of the material or energic universe was cetana (चेतन) because of its energic behaviour.

They saw the energy both in its pure or non-functional and functional forms. **Kriyā** (क्रिया) was summum to them and **Kāritva** (कारित्व) was its (Kriya's) own manifestation. The two in their combination followed the Laws of Energy. They named the pure one as **tat** (तत्) and the working components as **Kāma** (काम), **Sat** (सत्) and **asat** (असत्). They took the first working entity as **mana** (मन). This working entity is known as **Puruṣa** (पुरुष). The components mentioned above as **sat, asat** and **Kāma** are the cause or the **Prakṛti** (प्रकृति). The **puruṣa** is **Cetana** (चेतन). According to **Āyurveda**

(आयुर्वेद) this **Puruṣa** (पुरुष) is the combination of **Sattva** (सत्त्व), **ātmā** (आत्मा) and **śarīra** (शरीर). **Ātmā** is said to be the cause of **cetanā** (चेतना).

Ātmā (आत्मा) is capable (समर्थ) and pervading (व्यापक). The senses (इन्द्रियाँ) are the means of expression of **Kāryakāri Kriyāśakti** (कार्यकारी क्रियाशक्ति) i.e. **Mana** (मन). And this very **Manopuruṣa** (मनोपुरुष) is the subject of the **Āyurveda.** This **Manopuruṣa** is the **ātmā. Mana,** in the form both of ātmā and mind, and **Sarīra** i.e. mind and body, together make an individual in the Āyurveda. The senses coming in contact with **ātmā** make a sense of eternal life. Lack of this sense makes the matter **acetan** (अचेतन).

As a matter of fact Robots of today are doing jobs of a man but the feeling factor is found lacking there. Scientists are trying to give them the feelings of a cetan. Pure energy or the energicity, being the summum cause of creation; may make it possible one day in the future.

As a matter of fact perceptive senses cause knowledge in a process of scientific thinking. This very scientific thinking is caused by the subduement of mind and senses, known as **Dama** or **Dharma (dhṛ+man).** It is this very **Dama** that in the form of **dharma** gives the senses a composite harmonium form. It is this **dharma** which causes **Mati** (man+ktin मन् +क्तिन्) or **buddhi** go after reasonability or reasoning; **ātmā** (अत्+मनिन्) to go for generaltiy or universality; and **Brahma** (बृंह्+मनिन्) to go for the perfection. And perfection is the joint venture of knowing and doing i.e. **jñāna** (ज्ञान) and **Karma** (कर्म)

Āyurvdea has made distinction between **mana (sattva)** and **ātmā.** It takes **mana** the composite of senses and **śarīra** as the harmonial doing means of senses. **Ātmā** is **draṣṭā** of the **Kriyā** and **Karma** of the body i.e. the senses. It is for this reason that **āyurveda** conceives that the **mana** (मन) and the **body** (शरीर) are worth affection by diseases not ātmā.

The diseases are curable. **Āyurveda** declares **प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः । मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥** (1.58)

Whenever **ātmā** (आत्मा) is said to be **nirvikara** (निर्विकार immutable) and **paraḥ** (निर्विकारः परस्त्वात्मा) it means it is indifferent

or passive and alien. Here the exclusion of worldly material has been consdiered for defining **ātmā** or **Brahma.** But on the other hand inclusion of worldly materials makes **ātmā** or **Brahma** pervaded into it. It does not prove to be alien. Here **ātmā** proves neither to be alien nor to be **Paraḥ** (पर:). So proves the terms **Brahma** and **ātmā** in their derivational forms. i.e. बृंह्+मनिन् and अत्+मनिन् respectively. Being related to **Jñāna** and **Karma**-senses **mana** does not become exclucively related either to the senses of **Jnana** or **Karma**, but remains related to both the forms of senses. It is for this reason that it harmonizes both the **Jñāna** and the **Karma** -senses and allows them to work together in proper harmony.

When the **Geeta** talks of **Guṇakarmavibhāgśaḥ** (गुणकर्मविभागश:; 4.13) it relates to **Guṇa** versus **Karma. Guṇa** (गुण) is the subject of **Jñāna** (ज्ञान) -senses and the **Karma** is the subject of **Karma-senses.** The two in their harmony give the harmonical result of **jñāna** and **karma.** Here comes the conception of the theory and practice. And, having the **mana** (मन) as their basal cause the two remain harmonized with each other. **Jnana** (ज्ञान) makes the **Karma** (कर्म) a good success and the **Karma** (कर्म) makes the **Jñāna** ascertained with practical experience. The knowledge, thus, becomes the subject of **antaḥkaraṇa** i.e. **mana** (मन), **buddhi** (बुद्धि), **ahaṃkāra** (अहंकार) and **citta** (चित्त). They all together analyse harmoniously the subject in question in the light of their memory of ultimate truth. In other words the formal truth of the subject is examined or scrutinized in the light of real truth. To conclude it is the subdued **mana** (मन) and the senses that work in the form of **antaḥkaraṇa** i.e. the harmonical congregation of **mana, buddhi, ahaṃkār** and **citta** that finds the ultimate truth.

If **ātmā** (आत्मा) is the **draṣṭā** (द्रष्या) i.e. seer of **Kriyāḥ** (क्रिया:), the **draṣta** itself is none-the-less **Kriyā.** And this proves that **Kriyā** itself is seen by **Kriyā**, i.e. **Kriyā paśyati hi kriyāḥ** (क्रिया पश्यति हि क्रिया:). And thus it also proves that **jñāna** and **karma** both are the subjects of **ātmā.** And **dharma** of (**dhṛ**+**man**) form and not of **ācāraḥ** form of **dharma,** plays its role as **kriyā dṛṣti** (क्रियादृष्टि). **Mokṣa** (मोक्ष) proves nothing but the joy of success in finding or seeing the ultimate truth i.e. the **Paramārthasatya** (परमार्थसत्य). And that **Paramārthasatya**

is not an imaginary one but the universal certainty. The knowledge of this very certainty that causes **mokṣa** from the bindings or bondage of the **Karmaphala** (कर्मफल). A **Karma** (कर्म) done in the interest of one and one individual may or may not serve the universal purpose. If not, it will bind or make the doer responsible for the **Karma-phal** (कर्मफल). If it serves the universal purpose the doer remains free from the bondage of the said **Karmaphala** (कर्मफल). It is not **ācāra** but the **dama** (दम) or the subduement of mind and body (or senses) that leads one to the ultimate truth. It is the purity of **mana** (मन) i.e. mind and body together and not the body alone that counts on that score. Purity of body along with the purity of **mana** (मन) gives one much strength to lead a truthful and good (शुभ) life in the world.

Ātmā (आत्मा) and **Brahma** (ब्रह्म) are the terms to denote **sārva** (सार्व) and not the individual. They stand for **Indra** (इन्द्र), **Vayu** (वायु), **Agni** (अग्नि), **mana** (मन), **dhrti** (धरती), **dharma** (धर्म), **Kīrti** (कीर्ति), **Yaś** (यश), **śri** (श्री), **śarira** (शरीर) and **śarīrī** (शरीरी).

The **Kārikā** (कारिका) quoted by Smt. Sinha from **Āyurveda** stands thus– ब्रह्मेन्द्रवाय्वग्निमनो धृतीनां धर्मस्य कीर्तेर्यशसः श्रियश्च । तथा शरीरस्य शरीरिणश्च स्याद् द्वादशस्विङ्गित आत्मशब्दः ॥ (चरक संहिता)

And in her essays Smt. Sinha concludes that it is mana (मन) that causes both the **Brahmas—Jīva brahma** (जीवब्रह्म) and **śabdabrahma** (शब्द ब्रह्म) and the two together coordinately and harmoniously causes the material universe and remains diffused or pervaded within it. And, it is the **man** (मनुष्य) who expresses it in the best possible way in knowing and doing by way of **dharma (dhṛ+man)**. **Dharma** is the eyes of the ultimte i.e. the seer, the knower and the doer. This has been expressed or termed as **Vicāraṇa** (Thinking विचारण); **Uccārana** (उच्चाराण Speaking or expressing) and **ācaraṇa** (आचरण conduct). **Ācaraṇa** (आचरण) or **ācāra** (आचार) is not **dharma** (धर्म) in itself but the maeans of expression of the **jñāna** (ज्ञान) and **Karma** (कर्म), gathered by **dhṛt mana** (धृत मन) i.e. **dharma. Dharma** is the subject of **mana** (मन) and that works in the manner that those twelve forms as mentioned above in the **kārika** cited above do in their turn. **Brahma** (ब्रह्म), **Ātmā** (आत्मा), **Indra** (इन्द्र), **Mana** (मन), **Sarīra** (शरीर), **Sarīrī** (शरीरी) all are the representation of a knower, doer and

the means of expressing; **dhṛti** (धृति) and **dharma** (धर्म) causes them to know the way to go; **kīrti** (कीर्ति) goes the way of **Karma** (कर्म=कृ+मनिन्) and the result comes in the form of **Yaśa** (यश) and **śri** (श्री). The **Geetā** talks of this – यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः । तत्र श्री र्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ (गीता 18.78)

The importance of **Ārsa Darśan** lies in giving scientific explanations to the evolutionary and functional material universe in its energic way. It has rightly been said in **sanskrit– Draśtā Paśyati hi Kriyah.** (द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः). **Dharma (dhṛ+man)** makes to see and makes to do good to all. अद्रोहः सर्व भूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ (महाभारत)

I think that, the works of **Smt. Priyamvadā Sinhā** have their importance in letting the people know how the present crises of life in the universal way may be remedied. The sects i.e. the **Sampradāya** (सम्प्रदाय) will have to adopt time-honoured way of life of the vedas which is philosophical in seeing, scientific in thinking or enquirying, and good to all in living.

Every piece of work of Smt. Sinha is worth reading. Her evaluations of **Ārṣa darśan** are based in knowing **Pūrṇamadaḥ Pūrnamidaṃ** (पूर्णमदः पूर्णमिदं) and **Neti Neti** (नेति नेति) in their **'inclusive of all-form'** and not in their **exclusion-form. Neti** (नेति) means to **Smt. Sinha** in terms of यह ही नहीं **(not only this, others also are to be included).**

As a matter of fact materiality is the modified form and the carrier of energy itself. The working units are the energic materiality and the energy within the matter is worth working energicity. Energicity and the materiality combined harmonically and in modified way make the universe live and worth living too. Smt. Sinha rightly quotes from **Iśavāsyopaniṣad** (ईशावस्योपनिषद्)–कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (श्लोक-2)

And the same **Upaniṣad** writes that the whole of universe is pervaded with **Iśa** (ईशा) i.e. the supreme governing power. **The Jagat** (जगत्) has to be enjoyed charitably. The verse is— ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥ (श्लोक-1)

The term त्यक्तेन does not mean quitting, abondoning, leaving, renouncing, resigning, dismissing or surrendering. It means to live in limited needs; because needs are unlimited and fulfilment of needs makes a man greedy. The term गृध: stands for **greed**. Greed for wealth does not prove good for health. Health is wealth; but wealth does not prove to be wealth till it gets enjoyment in charity.

The presence of Iśā (ईशा) everywhere makes a man see the need of all getting fulfulled. The needs of every individual have to be fulfilled, but that is not possible; because the needs of everyone are unlimited. Unlimited needs are not fulfilled due to lack of supply or production of the commodity.

The **Geeta** writes that **Iśā** (ईशा) or the God abides in the heart of every individual. The heart again is the abode of **ātmā** or the **Brahma** and **Madhyamā vāk** (मध्यमा वाक्) too. The **Brahma** too is differentiated into **Jīvabrahma** and **śabdabrahma.** This makes it clear that it is **mana** (मन) where the **jīva** i.e. **Prāṇa** and **śabda** i.e. **Vāk** live enjoined and helping each other to promote the living life of the living world.

The **Geetā** also says that God determines neither the doership nor the doing of men, nor he causes their contact with the fruit of actions; but it is nature alone that does all this. So it is nature which has to solve the intricacies of life by knowing the causal aspects of those intricacies and those of the life itself. Without knowing the intricacies of life and the cause of the intricacies to be solved one cannot find the solution of the same. It is here that the subduement of mind and senses or **dharma** (धर्म) comes to our rescue. The **Geeta** depicts it thus– ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया । विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ (गीता 18.61 ओर 62)

It means– God abides in the heart of all creatures, causing them to revolve according to their **Karma** by His illusive power (māyā) as though mounted on a machine. Take refuge in Him alone with all your being, Arjuna. By His mere grace you will attain supreme peace

an the eternal abode.

As a matter of fact it is the subduement of mind and the senses that causes **jñāna** and **karma**, together, stand at the helmn of life affairs or the creational affairs.

Honourable Sir ! the letter has become a bit lengthy, but the subject you have raised needed to be explained at length. Hope you will find yet another exponent of Action (क्रिया) in Smt. Priyamvadā Sinhā I myself have heard you explaining in assertion the importance of action in one of your presidential speech of a symposium during the Interim World Philosophical Congress 2006.

Thanking you.

To,

Dr.Dya Krishna **Yours**

Jaipur **Shachindra Nath Sinha**

●

पूज्यवर डॉ० दयाकृष्ण

सादर प्रणाम !

'मन-मानव' के बाद 'आर्ष द्रष्टृत्व' नामक श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा की एक अन्य कृति आपको सादर भेंट करता हुआ मैं सन्तोष का अनुभव कर रहा हूँ। इस पुस्तक के साथ ही पुत्र प्रियंवद की कृति, 'माँ ने कहा था' (द्वितीय संस्करण), की भी दो प्रतियाँ आपको सादर भेंट स्वरूप भेज रहा हूँ। इन्हें स्वीकार कर अनुगृहीत करेंगे।

हाँ, 'मन-मानव' की प्राप्ति के बाद आपके द्वारा लिखे पत्र का उत्तर नहीं दे सका था, इसका मुझे क्षोभ है। मैं इस अपराध के लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

पिछले दिनों (दिनांक 23-24 अगस्त 2006) 'बिहार दर्शन परिषद् का द्विदिवसीय, 32वाँ अधिवेशन सुंदरवती महिला महाविद्यालय, भागलपुर परिसर में सम्पन्न हुआ। यहाँ 24.8.06 को बिहार दर्शन परिषद् के तत्त्वावधान में 'पीयूष-प्रियंवदा भारती विद्या व्याख्यानमाला' का प्रारम्भ हुआ। इस व्याख्यानमाला का पहला व्याख्यान डॉ० देवेन्द्रनाथ तिवारी, आचार्य ल०ना०मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा द्वारा दिया गया। इस योजना के अन्तर्गत हर वर्ष 'भारती विद्या' पर एक व्याख्यान होना है। इस अधिवेशन में मैं स्वयं भी उपस्थित था।

यहाँ मुझे अनुभव हुआ कि आज का दर्शन वादों (isms) के चंगुल में फंसता जा रहा है। इस पाश्चात्य प्रवृत्ति की अधीनता और वादों के अनसुलझे विवाद के कारण ही सम्भवतः आज दर्शनशास्त्र छात्रों को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पा रहा।

इस अधिवेशन का प्रारम्भ और समापन प्राचार्या निशा राय, सुन्दरवती महिला महाविद्यालय, भागलपुर द्वारा किये गये वेद-मंत्रों के पाठ से हुआ। इसके बाद कुछ वयोवृद्ध आचार्यों को छोड़, किन्हीं अन्य के द्वारा वेद की चर्चा शायद ही की गई। उपनिषदों का प्रसंग भी कम ही आया।

अधिवेशन में (Applied Philosophy) की बातें भी उठीं। लगा जैसे 'दर्शन' जीवन से अलग किसी लोकोत्तरीय वस्तु के अध्ययन की विद्या है। हम सम्भवतः भूल चुके हैं कि भारतीय दर्शन व्यावहारिक अर्थात् पारमार्थिक जीवन से ही सन्दर्भित रहा है। स्पष्ट है, आज के युवक पाश्चात्य जीवन-दर्शन की शैली में रहना ज्यादा पसन्द करते हैं। यहाँ ही मुझे प्रियंवदाजी की कृतियों की प्रासंगिकता

देखने को मिली। उनकी पुरुषार्थ चातुष्टय की अवधारणा मेरे समक्ष उजागर होने लगी– 'शक्तिमान्' रूप 'कारक' अपने व्यक्तित्वरूप 'कारित्व' क्रियाशक्ति से समन्वित होकर ही अद्वैत होता है। वस्तुतः वह (कारक) क्रिया और कारित्व की ही समन्विति है। इस तरह 'कारक' स्वयं अर्थ, कार्य का परिणामरूप है। इस कारक को देखने-समझने की आँख ही 'धर्म' अर्थात् धृत मन (धृ+मन्) है। धृ मन 'दम' पद द्वारा परिभाषित और व्याख्यायित होता है। **'दमो धर्मः सनातनः'**। 'धर्म' ऋषि-दृष्टि है। **द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः।**

'धृ + मन्' रूप धर्म, वस्तुतः, वह प्रत्यक्षक है, जो स्थान-भेद के कारण उत्तरोत्तर स्थूल से सूक्ष्मतम का प्रत्यक्ष-द्रष्टा या मीमांसक सिद्ध होता है। धर्म (धृ+मन्) की ही कड़ी में मति (मन् + क्तिन्) और ब्रह्म (बृंह्+मनिन्) हैं। ब्रह्म रूप परतम द्रष्टा स्वयं में जहाँ क्रिया-कारित्व की समन्विति और इस तरह अर्थरूप है, वहाँ क्रिया तथा कारित्व से वह अभेदित भी होता है। फलतः वह 'अद्वैत' अपने क्रियारूप के कारण जीव और शब्द रूपों में भी अभेदित ही है। ऐसी स्थिति में 'धर्म' के लिए (Metaphysics) और (Epistemology) भी अभेदित ही रह जाते हैं।

'पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष' की चौकड़ी, वस्तुतः, समन्वयार्थक है। 'धर्म' दम है; 'अर्थ' शिव है; 'काम' संकल्प है'; और मोक्ष सबकी समन्विति सच्चिादानन्द की प्राप्ति है। 'शिव' स्वयं में सच्चिदानन्द (सत्-चित्-आनन्द) हैं। मोक्ष इसी सच्चिदानन्द में आत्मसातित होना है। ज्ञान और तत्त्व को एकीभाव में देखना ही परमार्थ है और उसी की प्राप्ति मोक्ष है। धर्म का धारकरूप, वस्तुतः, 'मन' का धारक है और इस तरह वह अभ्युदय तथा निःश्रेयस् का कारक है, नियामक है। इस तरह 'धर्म' साम्प्रदायिक आचार नहीं; 'अर्थ' धन नहीं; 'काम' वासना नहीं; और 'मोक्ष' मृत्यु नहीं। **'धनात् धर्मः'** अर्थशास्त्रीय अर्थ-व्यापार के लिए सत्य हो सकता है; **'आचारः परमो धर्मः'** राजकीय सत्ता के लिए सत्य हो सकता है; किन्तु दर्शन के लिए तो **'दमो धर्मः सनातनः'** ही सच्चा धर्म है। इतना ही नहीं। अगर हम ध्यान दें तो पायेंगे कि आर्ष अवधारणा का 'सत्', वस्तुतः, सत्य (सच) का निरूपक नहीं और न ही 'असत्' असत्य (झूठ) है। आर्ष दर्शन में सत्-असत्, भाव-अभाव, मूर्त्त-अमूर्त्त, व्यक्त-अव्यक्त आदि क्रिया-कारित्वरूप पद-युग्म के ही निरूपक हैं। इनमें असत्, भाव, अमूर्त्त, अव्यक्त आदि पद क्रियारूप शक्ति के निरूपक है, और अभाव, मूर्त्त, सत् और व्यक्त कारित्वरूप के निरूपक हैं। इन्हें क्रमशः शक्ति और शक्त के रूप में देखते हुए उनकी समन्विति, शक्तिमान्रूप को भी अर्थरूप में देखा-समझा जा सकता है। 'शक्तिमान्रूप' अर्थ ही परमार्थ है। परमार्थ, वस्तुतः, परमरूप है। 'स्व' को व्यक्ति, 'पर' को सार्व और 'स्व', 'पर' तथा 'अन्य' की संयुति को परम कहते हैं। 'स्व' और 'पर' को 'परममय' अर्थात् परमार्थमय होना ही मोक्ष की प्राप्ति है।

प्रियंवदाजी की दृष्टि में 'धर्म' (धृ+मन्) में साम्प्रदायिकता का कोई स्थान नहीं। वह (धर्म) स्वयं ज्ञान का कारण और ज्ञान का व्याख्याता या मीमांसक है। वह 'अर्थ'रूप शिव को देखता और 'काम'रूप संकल्प को धारण करता हुआ 'मोक्ष'रूप परमानन्द को प्राप्त करने का साधन बनता है।

'धर्म' (धृ+मन्) में कट्टता नहीं होती, अन्धविश्वास नहीं होता, मात्र विवेक होता है; प्रज्ञा होती है, अनुभव और प्रत्यक्षण होता है। जहाँ ये सब होते हैं, वहाँ शुभ ही शुभ होता है, अशुभ नहीं। गीता का निष्काम वैसा ही शुभ है और इसी के सहारे हर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है। राजा जनक इनके श्रेष्ठतम उदाहरण हैं।

प्रियंवदाजी की दृष्टि में 'धर्म' अपने-आपमें अपने आपकी व्याख्या है। धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे पदयुग्म में धर्म और कर्म एक ही 'क्षेत्र' में समवेतित होते हैं अर्थात् एक ही क्षेत्र धर्म और कर्म दोनों का निवास-स्थल है। फलतः क्षेत्रज्ञ श्रीकृष्ण निष्काम कर्म को ही धर्मरूप से उपदेशित करते हैं और उसे ही वे 'विजय' तथा 'विभूतिरूप मोक्षप्राप्ति का साधन मानते हैं। इस तरह, निश्चय ही गीता का धर्म साम्प्रदायिक धर्म न होकर 'स्व' का अर्थात् 'दर्शन' का धर्म, अर्थात् 'धृ+मन्'रूप धर्म सिद्ध होता है है। तभी तो श्रीकृष्ण अपने उद्घोष में सीधे 'मोक्षयिस्यामि' का व्यवहार करते हैं, मोक्ष को परिभाषित नहीं करते।

पूज्यवर ! आज आवश्यकता है भारती विद्या की मौलिकता को सझने और वैश्विक स्तर पर उसके जीवन दर्शन को लागू करने की। इस क्षेत्र में आप और आप जैसे अनुभवशील ज्ञानवृद्ध दार्शनिकों के विचारों का अपना महत्त्व है और आगे भी रहेगा। इस सन्दर्भ में अलग से पत्राचार करना चाहूँगा या फिर आपसे आपकी सुविधानुसार आपके ही निवास स्थल पर मिलकर विमर्श करना चाहूँगा। डर है दर्शन की नई पौध पुरातन की गरिमा से अलग होते ही बिखर न जाये।

प्रियंवदा निवास
चित्रगुप्तनगर, कादिराबाद
दरभंगा-846004
(भारत)

शचीन्द्र नाथ सिन्हा
28/8/2006

●

Dear Dr. Sachindra Nath Sinha,

Thanks for your letter dated 28th August, 2006 along with the two volumes of writing of Priyamvadā Sinhā and the other entitled **'Maa Ne Kahā Thā'.**

Your feelings after attending two days session of the Bihar Darshan Parishad are fully justified. But unfortunately what you did not like; is the heart of what 'Darśana' has been in India, *'Darśana'* in the sense of philosophical schools that developed in this country and which are known as Nyāya, Vaiśeṣika, Sāṃkhya, Yoga, Mimāṃsā, Vedānta, Mādhyamika, Yogācāra, Sautrāntika, Vaibhāṣika school of Buddhism and the anekāntavāda of the Jains. All these schools have a long history of discusson between them. In fact, without a pūrva-pakṣa there can be no such thing as 'darśana' in Indian tradition. Even the school of Vedānta was divided between the Advaitin and Non-Advaitins who *argued* about the exact meaning of the Upaniṣad, Brahmasutra and the Gīta.

Surprisingly, the non-advaitins were themselves divided into those that followed Yamunācarya, Rāmānujācarya, Nimbārkācārya, Mādhvācārya and Vallabhācārya and all these schools argued not only against the advaitins but against one another also.

The terms *vāda* in the *Nyāyasūtra* is distinguished from Jalpa and vitandā, and is considered good.

There, of course in the other great philosophical tradition of India which most people consider as 'real' philosophy and that is what people generally mean by the term when they use it. This thinking wants to bye-pass all the rational-intellectual debate, discussion and argumentation and regards it as irrelevant to the 'real' business of 'living' a good, meaningful, spritual life.

But, even here there are real problems, specially if one cares for the tradition. The *artha* of the *Arthaśastra* and the *Kāma* of the *Kāmaśastra* are not exactly what the common Indian will consider as

the real meaning of these terms when they are used in the context of the puruṣartha; nor would the term *dharma* mean what is meant by it in the *Mimāṃsa sūtra* or even th *Dharma sūtra,* the *Gṛhya sūtra* and the *Smṛti* and *Vyavahāra* (legal) texts of India.

Not only this, the conflict between *dharma* and *mokṣa* is writ large in the Indian tradition and none is known to have reconciled the centrality of the Gṛhastha *āsrama* for the seeking of mokṣa in the Indian tradition. Both the Buddhists and the Jains accepted young people into the sangh and did not require that they go through the 'householder's life' before becoming monk. S'aṃkara himself violated the traditon and initiated the same practice in the vedic tradition also.

Not only this, the debate between *Jñāna* and *Karma* is writ large in the Indian tradition and the debate between Jaimini and Bādarāyaṇa in the Brahmasūtra is revealing in this connection. So also is the discussion about the śūdra having a right to the perfomance of the vedic sacrfice and the *Brahmvidyā* in the *Mimā msā sūtra* and the *Brahma sūtra* respectively.

The theory of puruṣārtha was not meant for all human beings, but only for a certain class which excluded even women as there was a *Sannyāsa* for them. Even the right to participate in the Vedic sacrifice was disputed, even though the final position of the Mimāṃsā sūtra is that they have a certain right, but it is not fully so.

I think what you have written about dharma and puruṣartha is important and needs to be articulated further in the light of what the tradition has said about these things. There is little point in superimposing on the tradition what one wants to say in the context of the contemporary situation. Perhaps it would be best to divide Indian tradtion into the one represented by the *Ācāryas* and the other represented by the Sants and the Bhakts who really belong to the common people as they had sprung from them. **They were not interested in philosophy and most of us intutively feel in tune with what they represented and would like to listen to what they said.**

Indian thinkers in recent past have tried to do this. The Vedānta of Vivekananda is not the Vedanta of Samkara and Ramanuja. And, what Gandhi was doing was certainly not in the classical Indian 'orthodox' tradition represented by the orthodox pandits who were against temple entry or the age of marriage for women or untouchability and other such things and opposed Gandhi on all these matters.

I would look into the books you have sent to me and see what they have said in the matter.

With regards.

Your sincerely.

Daya Krishna



Reverend Dr. Daya Krishna.

Now, when the volumes of **Sat-Asat** and **Draṣṭā Paśyati Hi Kriyaḥ** by Smt. Priyamvadā Sinhā have been published, and I find myself in a position to redress the doubts that you have raised regarding **'Dharma'** in your first letter and about the clarity of the position of **Ārṣa Darśan** amongst those philosophical schools that you have mentioned in your second letter to get me introduced in brief.

The first letter has been answered separately and the relation in-between **jñāna, karma, dharma** and **mokṣa** has been discussed and doubts redressed, in the light of discussions made by Smt. Sinha. Now in this letter I will try to express and clarifiy the position of Ārsa Darśana or Vaidika Darśana amongst the other schools of Indian Philosophy in the light of Smt. Sinha's works.

Smt. Priyaṃvadā Sinhā, in her bid to find out the meaning of **Mānavavāda** or **Mānava** or **Mānavatā** or **Mānavatāvāda**, went to the Sanskrit scriptures. This was because she could not find her satisfaction in the definitions of the terms mentioned above in contemporary writings.

To her, the English terms **'man'** (मैन) or **human** or **humanism** or **humanitarianism** does not prove their propriety of synonymity with their Sanskrit synonyms. Man as the synonym of **manuṣya** or **Mānava** does not find itself explained by **Manorapatyam.** (मनोरपत्यम्) i.e. the sons or offspring of **Manu.** The term **man** (मैन) in English denotes the son of Adam and Eve. In Sanskrit even the term **Manu** is said to have been derived as **man+u** (मन्+उ) where **'man'** (मन्) **dhātu** or root denotes the thinking capacity and **u** (उ) denotes the good or **śivatva** (शिवत्व) factor which leads the **man** (मन्) into its action for **good,** both, in thinking and doing. Man (मन्) relates both to Karm (Kṛ+manin) and jñāna through dharma (dhṛ+man) i.e. subduement of mind and senses. As a matter of fact **man** (मन्) has been taken as the root of the evolutionary universe in **Ārsa darśana** emphasises Smt. Sinha in her writings.

The **Nāsadīya Sūkta** (नासदीय सूक्त) of the **Ṛgveda** (ऋग्वेद) describes that during the **Mahāpralaya** there was nothing except one that lived on his own means or nature. The **Mantra** (मन्त्र) puts it this way– आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास । (ऋ० 10.129)

Ralph T.H. Griffith translates it into English thus : *"That One Thing, breathless, breathed by its own nature, apost from it was nothing".*

A Mantra later the **Ṛgveda** says : कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्यां कवयो मनीषा । (ऋ० 10.129.4)

Griffith translates it thus : *"Thereafter rose Desire in the beginning. Desire, the primal seed and germs of Spirit.*

Sages who searched with their heart's thought discovered the existent's kinship in the non-existent.

The terms **sat** and **asta** in the Mantra mentioned above or elsewhere, have been taken to represent 'existent' and 'non-existent' respectively by the commentators. According to Smt. Sinhā, it is here the lot has committed the blunder. The Chāndogya Upaniṣad argues that the kinship between existent and non-existent cannot be possible. She quotes the lines from the **Chāndogya upanisad** (छान्दोग्य उपनिषद्)– कुतस्तु खलु सोम्यैवंस्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।। (छा०उप० 6.22)

Here the **Upaniṣad** (उपनिषद्) equates **Sat** (सत्) to **Sattva** (सत्+तु+एव=सत्त्वेव) or emphasises on the eixstence of **Sat** only. Here Smt. Sinhā argues that the Sat (सत्) as it is written, is in itself incomplete whereas the term **Sattva** [Sato bhāve sat+tvat] (सतो भावे सत् + त्वत्) representing **existent** is complete.

As a matter of fact the kinship between **sat** and **asat** is proved in terms of visibility and invisibility or distinctivity and indistinctivity. The Sanskrit term for them is **Vyakta** (व्यक्त) and **avyakta** (अव्यक्त), or **kāritiva** (कारित्व) and **kriyātva** (क्रियात्व), or **śakta** (शक्त) and **śakti** (शक्ति), or materiality and energicity respectively.

The **Taittirīyopaniṣad** mentions it thus असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै संदजायत । It was **asat** first then evolved **sat** from it.

The **Ṛsis** were the seer of **Kriyā** i.e. energy. In other words they were perceptive to energy and believed in the law of causation. The **Chāndogya Upaniṣad** mentions : स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच । (छा० उप० 8.7.1)

It means that those who gathers the knowledge of **Ātmā** (आत्मा), knows everything and gets all that he desires. One who knows the cause knows the effect.

The **Ṛsis** knew the energy and its laws. They knew the law of conservation of energy. They knew the law of transformation of energy, to which they termed as **Ṛta** (ऋत). The **tat** (तत्) of आनीदवातं स्वधया तदेकं form proves itself to be in the state of annihilation of **sat** (सत्) and **asat** (असत्) that existed before the **Mahāpralaya** (महाप्रलय) ensued.

Here the Indian philosophy differs from its western counterpart. The Indian one believed in some sort of an eternal existence from which the universe evolved. It believed that this sort of existence must be indestructible and parmanent. It must be complete and worth its manifestations. It must be **advaita** (अद्वैत), i.e. nondual. The **Ṛṣis** of the Vedas believed that the universe must have a cause. They found out the law of causation and described the same into **Mantras** (मन्त्र) or verse. Being philosopher-Scientists or Scientist-philosophers they could know and explain science and philosophy with the hlep of each other. Science, for them, was the procedural investigation of matter i.e. material energy.

At that early age of the **Vedas,** the **Ṛṣis** could know that matter is nothing else than a form of energy. They knew that the energic energy manifests itself into material energy. In other words, to them the material universe was basically energic. They knew the fact of convertibility of energy into matter and matter into energy.

Being energic in form, the whole of universe was **Cetanamaya** (चेतनमय) to the **Ṛṣis. Cetan** (चेतन) is the term for such of energy

which had both the capabilities of knowing and doing works. They termed such a causal energy as **Mana** (मन). The **Ṛgveda** deals with **Mana āvartanam** (मन आवर्तनम्) in the form of **Devatā** (ऋ० 10.58) This **Man** (मन्), as the term **āvartanam** (आवर्तनम्) goes, is rotational. In **khand pralaya** (खण्ड प्रलय) **Mana** (मन) does not disintegrate. In **Mahāpralaya** its **sat-asat** forms are annihilated by each other. In this process the **Sat**-component of **Mana,** i.e. materiality is transformed into **asat** i.e. energicity. This very stage has been termed as **tat** (तत्). This very **tat** goes in action during evolutionary creation.

There comes then two classes of philosophy. The first goes with the notion of the **Ṛgveda,** where the **sat-asat**-combine form of energy has been accepted as the causal energy of the material universe. **Taittiriyopaniṣad** confirms it thus– असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । (2.7). Here **sat** and **asat** are related as the product and the producer. **Asat** has been taken as the producer of **Sat.**

The second one comes into existence with the conception conceived by **Chāndogya Upniṣad.** How **sat** can be derived from or produced by **asat** ?

Yes, the two differed; and the difference went just opposed. The **Ṛgveda** recognises the **sat-asat** in their energic form; on the other hand **Chāndogya Upanisad** went with the materiality of existential form. It omitted the non-existential **asat** terming it as **asatya** (असत्य)

When **Chāndogya Upanisad** asks कुतस्तु खलु सोम्यैवंस्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति । It overlooks all the basics of scientific enquiry including etymology.

The term **Sattva** (सत्त्व=सत्+त्वत्) thus, goes to represent **Satta** or **Satya.** On the other hand **sat** (सत्) proves etymologically only a constituent of **Sattva** (सत्त्व्), **Satya** (सत्य) **Satta** (सत्ता=सत् +तल्+टाप्). It is to be noted that **Sat** represents materiality in the energic form. Matter has been defined as storage of energy.

This difference in the thinking of the **Ṛgveda** and the **Chāndogya Upaniṣad** made a lot of difference on the Philosophical

level. The philosophy of the **Ṛgveda** or the vedas gave importance to the **Kriyā śakti,** whereas the philosophy of the **Chāndogya Upaniṣad** transferred the importance to the **Kāraka śakti** (कारक शक्ति). The cause being kept aloof, the effect becomes unexplainable and mysterious on the one hand, and on the other the **Kāraka** in its **arth** (अर्थ) -form is said to be the cause of its own. How ? The question remains unexplained. The Summum cause becomes mysterious. With this the absolute too becomes unexplainable.

In the material universe there remains no absolute, because every piece of the material universe is a piece of material work. It has the form of a **Kārak. Kriyā** (क्रिया), remaining unseen, becomes the **māyā** (माया) of the summum **Kāraka** (कारक). To ask the cause of this Summum **Kāraka** (the doer) is forbidden; because at that stage of the summum, asking for its cause is to commit **anavasthā doṣa** (अनवस्था दोष) In western philosophy Hegel preferred to go with the dialectical way of analysis than to go with the law of causation for this very reason.

Here comes the question whether **Ṛsi** could see the **Kriyā ?** **'Yes'. Draṣṭā Paśyati hi Kriyaḥ** (द्रष्टा पश्यति हि क्रिया:) confirms it in positive. What caused this conception to be discarded ? Yes, this question has been answered in the **Mahābhārata** (महाभारत) which says that it was the identity of the individual in a social set up that mattered. An individual failed to cope up with the social justice. It failed to understand why it should give up its personal comforts, for the general ? There must be some very-very grave situation when the dissatisfaction made the individual choose the path of revolt.

This revolt was smoothly waved off with the conception of kingship and kingdom. The **Mahābhārata** says- न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः । धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥ पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत । खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत् ॥ Further it has been said विप्लुते नरलोके वै ब्रह्म चैव ननाश ह। नाशाच्च ब्रह्मणो राजन् धर्मो नाशमथागमत् ॥ (शा०पर्व, महा० 59.14,15 एवं 21, वही 21)

The conception of kingship left no secret to itself. It made **Dharma** (धर्म) the tool in the hands of the king. With **Dharma** the **Artha** and **kāma** too became subordinate to the king.

The king was the supreme as he was made either the representative of the God, the supreme or the God himself. **Dharma** and **Danda** (दण्ड) too were made subordinate to the king. The **Mahābhārata** says : ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम् । यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः ॥ त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा। चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थः पृथग्गुणः ॥ मोक्षस्यास्ति त्रिवर्गोऽन्यः प्रोक्तः सत्त्वं रजस्तमः । स्थानं वृद्धिः क्षयश्चैव त्रिवर्गश्चैव दण्डजः ॥ आत्मा देशश्च कालश्चाप्युपायाः कृत्यमेव च । सहायाः कारणं चैव षड्वर्गो नीतिजः स्मृतः ॥ त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ । दण्डीनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः ॥ अमात्यरक्षा प्रणिधी राजपुत्रस्य लक्षणम् । चारश्च विविधोपायः प्रणिधेयः पृथग्विधः ॥ साम भेदः प्रदानं च ततो दण्डश्च पार्थिव । उपेक्षा पञ्चमी चात्र कात्स्र्न्येन समुदाहृता ॥ (शा०प० 59.29 से 35)

The above mentioned lines make it clear that there were no kings there in the remote past. The public (प्रजा) lived in their mutual understanding. The mutual understanding helped their needs be satisfied mutually. It also helped to forgiveness and forgetness in general. The reasoning must have been at the helm of all affairs. Allurement, greed, wish, malice were not to affect the reasoning. They all (the public) used to protect one another. Later this stage of reasoning went weakening and got affected by allurement, greed, wish and malice. They (the individuals) went to fulfil their greed. They went into the hands of libido to be played by it. They ate what was forbidden, they spoke what was not to be spoken. There was anarchy everywhere.

And it was the high time when the kingship was introduced. The **Brahmā** put forth the conception of **Trivargas** (त्रिवर्ग) of three categories. The first was that of the **dharma, artha,** and **kama**. The second was that of **sattva, raja** and **tama;** and the third of **position** (स्थान) **progress** (वृद्धि) and **destruction** (क्षय). The second group of trivarga was that of **mokṣa** (मोक्ष) and the third that of **Daṃda** (दण्ड).

These had to be observed with keeping in mind the acting factors of ātmā, place (देश), time (काल), means (उपाय) or purpose and their

supportives. These are to be taken into consideration by the king under the prudent counsel of the councellors or the **amātyas** (अमात्य). And for this, guidelines were to be determined and prescribed. These very guidelines are known as **Nīti** (नीति).

The **Nīti,** thus determined, must be virtuous, and for this it must be based on **Vidyā** (विद्या) i.e. **Jñāna** (ज्ञान). For this the **Mahābhārata** prescribed the **Tryaee** (The three Vedas), **Ānvikṣikī** (Philosophy), **Vārtā** (Profession) and **damḍa-nīti** (दण्ड नीति) i.e. **Nyāya** (Judgment). The **Mahābhārata** goes further to describe the ethics that was to be mastered by a king to make his policy for governing his kingdom. Here came the **Rājadharma** (राजधर्म) in its existence.

In the **Mahābhārata Rājadharma** has been described quite extensively. It has described **dharma** in two prominent forms - **Ācārah parmo dharmaḥ** and **damo dharmaḥ sanatanaḥ.** But for **ācāraḥ parmo dharmaḥ.** (आचारः परमो धर्मः) Yudhisthir raises objection - सदाचारो मतो धर्मः सन्तस्त्वाचारलक्षणः । साध्यासाध्यं कथं शक्यं सदाचारो ह्यलक्षणः ॥ (शा० प० 260.05)

Yudhisthir again points out - कामादन्येच्छया चान्ये कारणैरपरैस्तथा। असन्तोऽपि वृथाचारं भजन्ते बहवोऽपर ॥ (वही, 15)

The **Ācāra,** being variable according to **yuga** (युग), cannot be said permanent. Yudhisthir concludes - चिराभिपन्नः कविभिः पूर्वं धर्म उदाहृतः । तेनाचारेण पूर्वेण संस्था भवति शाश्वती ॥ (वही 20)

The **dharma** which the **Kavibhiḥ** (कविभिः) i.e. wisemen have taken into consideration for their **ācāra** may be considered to be the examples of **dharma;** because such an **ācāra** remains based on the conclusion of subdued mind and senses i.e. **Dharma.**

Now we come to examine, the term **dharma** (धर्म) which has been defined as दमो धर्मः सनातनः (Damo dharmaḥ sanātanaḥ.) The **Mahābhārata** says through **Bhīṣma** (भीष्म) : धर्मस्य विधयो नैके ये वै प्रोक्ता महर्षिभिः । स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम् ॥ दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः । ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ दमात् तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते । दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते ॥

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम् । विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥ (शा०प० 160.6 से 9)

And about **Brāhmaṇa** (ब्राह्मण) the **Mahābhārata** says through **Tulādhāra** (तुलाधार) : सत्ययज्ञा दमयज्ञा अर्थलुब्धार्थतृप्तयः । उत्पन्नत्यागिनः सर्वे जना आसन्नमत्सराः ॥ क्षेत्रक्षेत्रज्ञतत्त्वज्ञाः स्वयज्ञपरिनिष्ठिताः । ब्राह्मं वेदमधीयन्तस्तोषयन्त्यपरानपि ॥ अखिलं दैवतं सर्वं ब्रह्म ब्रह्मणि संश्रितम् । तुष्यन्ति तृप्यतो देवास्तृप्तास्तृप्तस्य जांजले ॥ (शा०प० 263.18-20)

The **Mahābhārata** identifies **Brāhamaṇa** (ब्राह्मण) here in its saying through Bhṛgu (भृगु)– न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् । ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥ (शा०प० 188.10)

Again writes the **Mahābhārata**– दममेव प्रशंसन्ति वृद्धाः श्रुतिसमाधयः। सर्वेषामेव वर्णानां ब्राह्मणस्य विशेषतः ॥ नादान्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपपद्यते । क्रिया तपश्च सत्यं च दमे सर्वं प्रतिष्ठितम् । (शा०प०; 220.2)

Out of the references mentioned above we find a term **Niścitdarśinaḥ** (निश्चितदर्शिनः). This term has been used for the **Ṛṣis** or **Draṣṭā** or the **dārśanika** (दार्शनिक) of the **Vaidika** (वैदिक) age and before. After the **vaidika** age came the **Tark-Ṛsi** (तर्क ऋषि). Yet after then came the **Tārkika** (तार्किक). The **Tārkika** makes us believe in the principle of uncertainty. When we denote an uncertainty with an uncertain figure the result will be uncertain. Certainty needs to be seen with **Kriyādṛṣti** (क्रियादृष्टि); because it is **kriyā** that is certain (निश्चित); and it is that which goes at work of manifestation by combining with its own **kāritva** (कारित्व) form.

Knowing any two of the three (i.e. **kriyā, kāritva and kārya**) the third is easily known and explained. There remains no question of uncertainty. The **vaidika** scientist or Philosopher could see the **kriyā. Draṣṭā paśyati hi kriyāḥ.** They were the scientist, Philosopher and a literator i.e. three-in-one. They saw; they thought, they knew and they expressed in **Vāk.** It (the **vāk**) is the **śabda Brahma,** that serves to explain the **Jīva Brahma.** The individual man in action denotes the **kārya Brahma.** Its speech or **vāk** too is **kārya brahma** which in its

turn is known as **śabda Brahma.** चत्वारि वाक् परिमिता...तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति and पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः serve the examples.

The thinking, the speaking and the doing are the subjects of **guṇakarm** (गुणकर्म). As a matter of fact the term **guṇakarm** represents the **Sattva** (सत्त्व) i.e. **Mana** (मन्न) i.e. **Manas-śakti** (मनस् शक्ति). In **Ayurveda** (आयुर्वेद) **Sattva** represents **Mana** (मन) or (मनस्). सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् । लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ (च०सं० 1.46)

The three together make life or **Puruṣa. Mana** (मन) represents the **Kāryakāri Kriyā śakti** i.e. **Kriyā-Purusa** or **śaktimān.** This has been explained by the **Āyurved** as **Pumānścetanam** (पुमांश्चेतनम्) i.e. **Cetana Puruṣa** or **Kriyā Puruṣa** and as **Mana-Mānava** by Smt. Priyaṃvadā Sinha; and, **Caraka** (चरक) puts it thus- स पुमांश्चतेनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम् । वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥ (च०सू० 1/19)

Āyuraveda has distinguished **Mana** and **Ātmā** as two separate entity. According to it **Atmā** is attached to knowledge only, while **Mana** is supposed to have dual role of causing knowledge and deed i.e. **Jñāna** and **Karma. Mana,** being the combination of **Sat-asat,** i.e., **Kāritva** and **Kriyā** is **Kāraka** (कारक) in energic form. It makes **Antaḥkaraṇa** (अन्तःकरण). **Vedāntasāra** (वेदान्तसार) has rightly defined it as : मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम् । संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी ॥

When we talk of **Buddhi** (बुद्धि) we propose to have certainty in our conclusion which is the first proviso of science. The synonym of **buddhi** in Sanskrit is **Mati** (मति=मन्+क्तिन्). The Scientific enquiry is completed at the stage of **Mati** or the **Buddhi.**

The **Vedāntasāra** in its above mentioned lines shows how the **Mana,** the basic cause of the universe, acts. **Mana** relates to **Darśan** (दर्शन), i.e. seeing and doubts; **Buddhi** or **Mati** to **Niścayan** (निश्चयन) or ascertainment; **ahaṃkāra** or **pride** to governance or performance; and **citta** (चित्त) or intellect to the study and memory. **Mana** on the knowledge side works as **Indriya, Mati** (मन्+क्तिन), **Ātmā** (आत्मा =

अत्+मनिन) and **Brahma** (ब्रह्म= बृहं+मनिन्). In **Mahāpralaya** this **Brahma** abstains from work and goes in its causal stage. In other words, the component of **Kāritva** constituent is transformed into **Kriyātva** (असत्) and takes the form of **Tat** (तत्) of the **Ṛgveda.**

We have talked about the **Sattva** (सत्त्व) as **Mana.** And we have also talked about the **Trivarga of Dharma, Artha and Kāma;** and that of **Moksa** (मोक्ष) as **Sattva, Raja** (रज) and **Tama** (तम). At the **Trivarga-stage Mokṣa** has been considered separately. The **Mokṣa** has been treated as **Apavarga** (अपवर्ग). **Apavarga** (अपवर्ग) has its English synomym in liberation; completion, emancipation, final beatitude (परमानन्द) etc. It has its Hindi Synonym in **Purti** (पूर्ति) i.e. completion of any work (कार्य की सम्पन्नता)

However, **Mokṣa** (मोक्ष) has been given a separate entity from **Dharma, Arth** and **Kāma.** The terms used in **trivargas** were never new, but the old in a new meaning. The social change occurs in the new perspectives and the terms too begin to be used in the new perspective.

This is confirmed by the question which the **Chāndogya Upaniṣad** poses before us– "How **sat** (सत्) can be derived from **asat** (असत्) ?" Here the meaning of the terms **sat** and **asat** have been taken as **satya** (सत्य) and **asatya** (असत्य) respectively. The terms **sat-asat** (सत्-असत्) have been posed as **bandhu** (बन्धु) by the **Ṛgveda** (ऋग्वेद). Their kinship make them complementary to each other.

In the **Ṛgveda sat-asat** (सत्-असत्) have been considered to have evolved from that very one, which has been described there as **आनीदवातं स्वधया तदेकं.** This very **तदेकं** (तत्+एकम्) has been taken as the **mana** (मन) by the **Ṛgveda** as it confirms it by saying– **कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्यां कवयो मनीषा ॥** The **sat-asat** differentiation takes place with the will (Sisṛkṣa - सिसृक्षा) for manifestations by the **Tat** (तत्). The differentiation poses readiness for material evolution of the universe. At this stage **Sat** (सत्) goes for the material manifestation in harmony with **asat.** The material form of energy is the stored form of potential energy on one hand and on the other the action or the kinetic form of energy is the

actional form of energy. It is the kinetic form of energy which causes the potential form of energy get work done. Thus the working process is the joint efort of potential and kinetic form the energies.

In this way **sat** (सत्) makes the potential form of energy and the **asat** (असत्) makes the kinetic one.

The energy does not produce energy, but transforms itself or is transformed according to the working needs. Energy has been defined as the capacity of doing work and work as is said to have been done by the application of force on a point to get it moved. Energy at work is exhibitted in the forms of force and power. The carrier of energy is matter i.e. the body, which in itself is a form of stored energy.

This explains the working material world as the play-ground of energy itself. The **śaivism** (शैव) opts to express it as the gesticulation (नर्तन) of **Natarāja** (नटराज i.e. Shiva).

Leaving **Ārṣa Darśana** or **Vaidika** Philosophy aside, all the other philosophies of the world do not keep the three - **Sat** (सत्), **asat** (असत्) and **kāma** (काम) mentioned in the above mentioned hymns of the **Ṛgveda,** in their mind, whenever they go to discuss the philosophy of life. In other words, there the cause of work is considered without taking **Kāma** (काम) - i.e. the combining forces into account. Hegel deals with dialectics - where he goes with being, non-being and becoming or Thesis, Anti-thesis and Synthesis. But the **Ārṣa Darśana** goes with **Pūrva Pakṣa** (पूर्व पक्ष), **Uttar Pakṣa** (उत्तर पक्ष), **Saṃyojaka** (संयोजक)and **Saṃdhi** (संधि). The **Ka ma** of the **Ṛgveda** has been represented by the **Saṃyojaka** (संयोजक) in the **Taittirīyopaniṣad.**

This explains that there are three causal components in the causal part of any work or effect to be resulted. **Ṛgveda** explains it in the context with the development of **Vak** (वाक्) in these lines– **चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि बिदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥** (ऋ०; 1.164.45) Ralph T.H. Griffith translates this Mantra in the following words :- **Speech hath been measured out in four divisions, the Brahmaṇs who have understanding know them. Three kept in close concealment**

cause no motion; of speech, men speak only the fourth division.

As it has already been said the three components of the Vāk (वाक्) remain concealed as they are inexpressible. These are the causal aspects of Vāk. The causal components being energic in their forms remain unseen by the eyes. They are perceptive to the **ब्राह्मणः ये मनीषिणः।** The term **Brahmaṇaḥ** (ब्राह्मणः) stands for the knower of **Brahma** i.e. he who knows the **Parmārthasatya** (परमार्थसत्य), i.e. the ultimate truth; or the **mana** (मन) which is perceptive to all sorts of energies. This sort of perception has been explained literally as **अर्थ क्रिंयाकारित्व**, where **artha** (अर्थ) is the result or effect and **Kriyā** (क्रिया) and **Kāritva** are the causal energic forms.

Hegel, the dialectician, when considers the combination of **Being** and **Non-being** he gets **Becoming** as the result. **Becoming** denotes the incomplete. Shaṃkar when takes the universe or world as **Mithyā** (मिथ्या) i.e. deceitful, he goes with this very notion. On the other hand the **Ārṣa darśan** goes with the complete. There neither the **Being** of Hegel is **Bhāva** (भाव) nor the **Non-Being** is **Abhāva** (अभाव). There in the **Ārṣa Darśana Bhāva** stands for **Kriyā** (क्रिया) and **Abhāva** (अभाव) stands for **Kāritva** (कारित्व). When the two combine, the result is not **Becoming** but the complete. They take the causal components as the **Kāraṇa Brahma** (कारण ब्रह्म) and the result as the **Kārya Brahma (Brahma)**. Both the **Brahma** are complete. The **Kārya Brahma** goes transformed into **Kāraṇa Brahma** at the stage of Mahāpralaya (महाप्रलय). At this stage of Mahāpralaya (महाप्रलय) there remains nothing but the energic energy and no material energy for any material manifestation.

Hegel failed to recognise energy and its forms i.e. the energic and material forms. In **Ārṣa Darśana sat** (सत्) stands for materiality and **asat** for the energicity. The two combined evolves into the working material world.

Keeping **Ārsa Darśana** aside, the other ones take **Brahma** (ब्रह्म) as an outsider of the universe who creates the universe out of nothing. The cause of such a creator cannot be discovered. To ask

about this cause proves its instability. In **Ārṣa Darśana** the universe is caused due to the transformational and evolutonary processes of energy. They call it **Tat** (तत्) i.e. the pure energy. The **Ṛgveda** puts it in these words आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास । तम आसीत्तमसा गूलहमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वं मा इदम् । तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥ (ऋ० 10.129.2 (अंश) एवं 3)

Mr. Griffith translates this portion thus :- "That one thing, breathless, breathed by its own nature; apart from it was nothing whatsover. Darkness there was; at first concealed in darkness, this all was indiscriminated chaos. All that existed then was void and formless; by the great power of warmth was born that Unit."

The terms **salilam** (सलिलं), **apraketam** (अप्रकेतं), **apihitam** (अपिहितम्), **yat** (यत्), **tat** (तत्), **tapasaḥ** (तपसः), **ajāyata** (अजायत) and **Ekam** (एकम्) are the words of importance there in the hymn. These words clearly explains in what condition the pure energy was there in the **Mahāpralaya** stage and how they evolved in one working Unit, from which the universe grew or evolved.

In the **Mahāpralaya** there was nothing but the darkness dipped into darkness. The pure energy could emit no light. It was formless (अप्रकेतम्). i.e., not in working stage. The **Kārkatva** (कारकत्व) was not there, it was only Kriyātva (क्रियात्व). This stage of energy has been compared here with that water-like condition. i.e. **salilam** (सलिलं). It was not actually **Salilam** (सलिलं). It was water-like fluid having surface tension but no flow. It was warmth that gave it the **Kārkatva** (कारकत्व) of flow, the flow of watery nature. It was this very stage of energic energy which has been depicted as **apāṇipāda** (अपाणिपाद्) (श्वेताश्वतर उपनिषद् 3.19)

However, with the passing time the Ṛgvaidika conception of **Satobandhumasati** (सतोबन्धुमसति) changed during the time of **Taittiriyopaniṣad** (तैत्तिरीयोपनिषद्) when it said **Asadvā idamagra āsīt. Tato vai sadajāyata.** (असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत ।) Meaning thereby, the **sat** (सत्) and **asat** (असत्) of the **Ṛgveda** did not remain **bandhu** (बन्धु) in the eyes of **Taittiriyopaniṣad**. According to it **asat**

became the generating cause of **sat** (सत्). This again went into a change during the time of **Chāndogya Upanisad**. When it asked the impertinent question— How **sat** (सत्) could be produced by **asat** (असत्) ? (कुतुस्तु खलु सोम्यैवंस्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति ।). The **Chāndogya Upanisad** declared that it is **Sat** (सत्), and only **sat** (सत्) that existed all through. Thereafter **sat** (सत्) was declared to be **Satya** (सत्य) i.e. that which existed. And **asat** (असत्) was discarded with the delcaration that it did not exist.

The same treatment were given to **Bhāva-abhāva** (भाव-अभाव). Hegel has taken them as being and nonbeing respectively. As a matter of fact **Bhāva** (भाव) denoted **Kriyā** (क्रिया) and **abhāva** (अभाव) denoted **Kāritva** (कारित्व). But now they have begun to denote existent and non-existent respectively.

The terms **Dharma, Arth, Kāma, Moksa, Sat, Asat** are the terms of the olden philosophy of life. **Dharma** in its derivational form i.e. **dhṛ +man** (धृ+मन्) means the subduement of mind and the sense. **Mana** stood for the capacity of doing work of a body; the body was identified with the workable form of energy and was considered the combination of **Kriyā** and **Kāritva** or **asat-sat. Kāritva** or **Kārkatva** (कारकत्व) is the energic means with which **Kriyātva** (क्रियात्व) gets its manifestations completed giving material entity to the universe. The energy is indestructible but transformable. The energy in its pure form is **Kriyātva** i.e. energic energy (शक्ति) only. It neither perishes nor destructed. It transforms itself into **Kārkatva** (śakta) and goes for manifestational work according to its position, configuration or motion i.e. circumstances.

The sat, denotes materiality of the body and the **asat** the energicity. Energy works in electrical way and reacts in ionic forms. They knew that every bit of the universe or body has electrical charges within it. The science of today confirms its presence in electron form of an atom.

The terms used in the vedas have their scientific values. They must be seen in the same perspective. The Philosophy of the vedas

does not ignore the meaning and utility of life. It takes the most developed living-body, the 'man' in person, as its subject and proves that every bit of the material universe has an energic entity, some active, some dormant. It obeys the universal law of energy. The olden term for it is **Ṛta** (ऋत)

With the inception of the philosophy of **trivarg** (त्रिवर्ग) the scientific term **Dharma** meaning **Dama** (दम) went to mean the ethical **Ācāra** (नीतिगत आचार). With the inception of **trivarga** the conception of the king and the kingdom came into existence, and determination of ethics went into the hands of the king.

Ācāra (आचार) forgot considering the universal law of causation. The kingship gave no support to the observation of the laws of causation by the individual; because it was the individualism that had overruled the law of caustion in favour of individual's sensual satisfaction. The **Dharma** was made the guideline to the king only. The general mass or the public was convinced that the king is himeslef the God and his orders are to be obeyed as dharma.

To avoid anarchy Rule of king's law was introduced in a strict way. The philosophy of punishment was provided to the kingship so that he could ruthlessly suppress the anarchism. And for this the ancient **Rule of Dharma** (Dhṛ+man) had to be overruled and the **law of causation** had to be ignored. And these two could be achieved only when the real cause of the universe i.e. presence of the indistinct causal energy is ignored and be made the characteristic or **māyā** of the distinct one. Matter and energy being the same in their nature with one distinguishing character of distinctness and indistinctness or configuration, were given seprate identity during the rule of kingship. When the energy is taken as the tiny matter it proves its worth as a force or power.

Force is the form of energy which causes work to be done and power is the force which gets work done in the perspective of time. Be the mechanical, or the heat or the sound, the light, or the magnetism, the electricity or the raditation, it is materiality in them that proves them the

working form of energic power.

It is the materiality of material energy that faces the changes, both in forms and characteristics, according to the circumstances i.e. the position, configuration and motion. Intermolecular space of matter determines the position, configuration and motion of a material body. Whenever material body is disturbed by any of the energic forms, as mentioned above, it changes its form and characteristics.

It is energic energy (**asat**) that causes change into material energy (**sat**). When the **Nirukta** mentions **Bhāva** (भाव), it is certain that **Bhāva** i.e. **avyakat** (अव्यक्त) is none else than **Kriyā**.

तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति– तद्यम उभे, भावप्रधाने भवतः । भावप्रधानमाख्यातम्, सत्त्वप्रधानानि नामानि ।

At the completion of the work, **kriyā** becomes free and the work which gets name and form (नामरूप) is liberated to go after further manifestational work. To obtain a desired result proves to make a success. And **nothing succeeds like success** causes **ānanda** i.e. pleasure or joy. or **Moksa** (मोक्ष). **Moksa** (मोक्ष→मोक्ष्+छञ्; मोक्ष्=स्वतन्त्र करना) is liberetion, but not that liberation which has been prescribed for the **saṃnyāsin** (सन्यासी). **Moksa** is not death. It is the joyful success which is found in the completion of work. In this connection Smt. Sinha has cited the formulation - **Kriyā +kāritva = Arth** (the result or **kāraka**); or **śakti +śakta = śaktimān** (cause of **Sṛṣti**) and equated with **Asat+Sat = Sattā** where **Asat** represent **kriyā** or **śakti** and **Sat** represents the **kāritva** or **śakta.** The same rule is entertained in **Bhāva** (क्रिया) + **Abhāva** (कारित्व) = भूति (Existence). **Asat,** represents **Avyakta** (अव्यक्त) or the **kriyātva** (क्रियात्व). **Bhāva** too represents **Asat.**

With the rise of kingship specialization and individuality received importance on the one hand and on the other the general or the universal received a set back. This made the general life tough and onerous. The produce went from the place of production i.e. village to the places of the rulers and the ruling staff. The agricultural land went into the hands of the **Sāhukār** (साहूकार) or the **Jamindārs** (जमींदार). The tillers went poor and poorer gradually. The general education became forbidden.

The **kṣatriyas** and the **Vais'yas** took no interest in their studies of the vedas, to which they were allowed, and the **s'ūdras** were forbidden even to hear the words of the vedas.

The **Puruṣa** of the **Puruṣa Sūkta,** who represents the universe in a working **Puruṣa** -form, is quite integrated in its organic function. The mind and mouth sees, knows and speaks the subtle truth and leads the organs to translate the same truth in action or **ācaraṇa** (आचरण). The eyes sees the truth, the mind knows the truth, the mouth speaks the truth, the hands safeguard the truth, the thighs give stability to truth and the feet propagate the truth.

But how the Subtle truth can be found out ? By **Dharma** (धर्म), the answer comes out. The **Dharma** is not **ācāra** but the **Dama,** which controls the **ācāra** for the good. दमों धर्मः सनातनः When **mana** and all the senses (indriyas इन्द्रियाँ) are controlled the whole of body becomes the searcher and the seer of the **Parmārthasatya** i.e. the subtle truth. The seer of the subtle truth is the seer of **kriyā.** Thus the subtle truth is proved to be **kriyā.** Whoever knows the **kriyā** knows every thing and gets everything that he wills or desires to have. To know the **kriyā** is to know the cause. By knowing cause one knows the work. Law of causation ascertains the truth by way of reasoning, speaking and practising.

Smt. Sinhā finds her support in **गुणानामर्थवृत्तयः,** where **Guṇa** (गुण) stands for **sattva, Raja, Tam; Nāma** (Name) stands for **Ṛk, yaju, sāma; Artha** stands for **Bhūḥ, Bhuvaḥ, Svaḥ;** and **Vṛtta** stands for **jāgrat, svapna** (स्वप्न), and **susupti** (सुसुप्ति). Thus **Arth** proves to be an expression or **Vyāhṛti** (व्याहृति) or product, or an effect to its cause. The product is **kārya** (कार्य), which is **triguṇātmaka** (त्रिगुणात्मक). And **Mokṣa** is nothing but the liberation from incompleteness and fetching completeness for further manifestation to maintain further continuity. Here Smt. Sinha finds the genetical explanation of **Triguṇa** (त्रिगुण) of the effect which it receives from its causal components– i.e. **Kriyā** (क्रिया) **Kāritva** (कारित्व) and **saṃyojaka** (संयोजक), i.e. **Kāma** (काम). It is the completeness that counts for manifestation. Here the

triguṇa (त्रिगुण) of the respective causal components i.e. **Kriyā, Kāritva** and **Kāma** are counted. A manifestational unit must have these three **guṇa** for manifesting itself inot so many.

The **Ṛṣis** were the scientists, observers, the medical practitioners and literator or writer. They knew the life, they saved the life and they lived the life. In their sagacity they lived a life of a sage. They never lived in pomp-and-show; and they lived a contended, happy and mentally prosperous life. Dr. Devendra Nath Tiwari, Professor of Philosophy, B.H.U. had rightly answered to a query "Whether the **Ṛṣis** were not selfish when they used to ask the raingod to give water to their own piece of land only ?" Dr. Tiwari's, reply was– the **Ṛṣi's** knowledge was so profound that he could cause rain at the very piece of land of his choice."

When the **Ṛgveda** says— **चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥** it points to the **Ṛṣi's** wisdom. **Vidvān** (विद्वान्) stands for **Vidyāvān** (विद्यावान्); **Manīsi** (मनीषि) stands for those who can see through **mana**, and **Brāhmaṇs** (ब्राह्मण) are those who know the **Brahma** (ब्रह्म). **Vāk** (वाक्) too has been treaṭed as **Brahma.** It explains the **Jeeva Brahm** (जीव ब्रह्म).

The life can be lived with life and can be known by the living persona only. Smt. Sinhā explains this with quotations like— **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः; द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः; आत्मा आत्मना आत्मानं जानाति; अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते; प्राणेन्द्रियमनोमयम्; गुणानामर्थवृत्तयः ।**

Thus **Dharma** is not simply an **acara** or conduct. **Dharma** is the cause of ascertainment of **ācāra** to be conducted. **Dharma** is not the means to earn **artha** i.e. property or wealth. The **arth** (अर्थ), as a matter of fact, is the meaning or the result which is caused by the combination of **Kriyā** (**śakti**) and **Kāritva** (**śakta**) i.e. the causal components of the **kārya,** or the effect. Smt. Sinhā has seen the examples in the formation of chemical compound in which two or more reactants react together to from two or more products. The products are caused by the causal components present in the reactants. The

desired products are obtained only when one knows the characteristics or the Guṇakarma of the cause and the effect both. And, that is known or seen only with the hlep of subdued mind and the sense i.e. with the concentration of mind and senses in the light of āntaḥkaraṇika (आन्त:करणिक) truth in fullness.

The five senses of knowledge are the means to see with the help of reasoning eyes of **mana** (मन); and the five senses of **karma** are to afford expreience. The former group of senses are the means to see the object by way of hearing the sound, experiencing by touch, by seeing the form, by tasting the **rasa** (रस) i.e. the materiality of the subjects and by smelling the odour of the subject in question. In the laboratory classes of chemistry we go with the same processes to know or verify the physical properties of matter and then go for knowing the chemical behaviour through practical processes.

The **yajña** to the **Ṛsis** are the same as practical classes of the the laboratories to the students. With these lines Smt. Sinhā quotes the following lines from the **Bhagawat** (sk. 12) शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् । अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यसमुद्रवत् ॥– and says— it is very difficult to explain life but not impossible. To explain life one must know the terms which can explain it. No doubt this too is very difficult, but can be known with great difficulty. Life can be explained by life only. The **Vāk** is caused by **Prāna** i.e. life. Smt. Sinhā quotes from **Yogaśikhopaniṣad.**

प्राणेन च स्वराख्येन प्रथिता वैखरी पुनः । शाखापल्लवरूपेण ताल्वादिस्थानघट्टनात् ॥ अकारादिक्षरकारान्तान्यक्षराणि समीरयेत् । अक्षरेभ्यः पदानि स्युः पदेभ्यो वाक्यसम्भवः ॥ सर्वे वाक्यात्मका मन्त्रा वेदशास्त्राणि कृत्स्नशः । पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि ॥

Again the **Vāk** and **Prāṇa** make a couple says **Chāndogya Upniṣad**– वागेवर्क् प्राण सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः । तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्चर्क् च साम च ॥

The above mentioned line सर्वे वाक्यात्मका ...विविधा अपि makes quite clear that the **śāstras** must reach identical conclusions amongst them. The energy never goes aimlessly in its action. It has its own law

or laws to act. The import of all sciences or śāstras are identical in the their summum. The identity makes **śastras** authentic and reliable. **Vācaspati Misra** writes भेदो लोकसिद्धत्वादनूद्यते, अभदेस्तु तदपवादेन प्रतिपादनमर्हति ।

Now to the difference they say that it is merely due to authority-difference (अधिकारी भेद). For this quotes Smt. Sinha अधिकारिविभेदेन शास्त्राण्ययुक्तान्यशेषतः ।

Now the question arises as to why **Smt. Priyamvadā Sinhā** chose to go with the **Ārsa Darśan** ? Every **Darśan** has its own school of thinking and discussions, be it of any **Ācārya's** (आचार्य) traditions or that of **Santa** (सन्त) or **Bhakta** (भक्त) or any other school of thinking. All of them say that they have the root in the vedas. But Smt. Sinhā opines otherwise. She finds none of them dealing with the philosophy of **Sat-asat-combine.** All of them go with the saying of the **Chāndogya Unpaniṣad**– कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

All of them start with **Kārak** (कारक). All of them have failed to explain the cause of the Summum i.e. the **svayambhū.**

As a matter of fact, all of them start their philosophy from the **ācār**– point of view. None goes for finding the **parmārthasatya.** Now whatever the **Bhaktas** and the **Ācāryas** have to say is yet another form of **ācāraḥ parmo dharmaḥ.**

In ācāraḥ parmo dharmḥ Dama (दम) **becomes secondary.** And with it **jñāna** (ज्ञान) is overlooked and forgotten. It goes to such an extent that in the later period the **kṣatriyas** and the **Vaisyas** too left the study or **svādhyāya** (स्वाध्याय) of the vedas. This made them to become dependent on their tradition and go the traditional way of **ācāra.** Tradition, again is nothing but the **ācāraḥ promo dharmḥ.**

The Philosophy today goes the ism-way i.e. the traditional or sectarian way. It has nothing to explain philosophically in way of **Damo dharmaḥ sanātanaḥ.** Even the Ācāryas do the same.

The term **Ācārya** has been defined by the **Manusmṛti** thus : उपनीय्र तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेत् द्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।। (मनु० 2.140)

Ācaryas too go with the **ācāraḥ parmo dharmaḥ.** They do not take **Dam** (दम) as **dharma.** Again, **Svādhyāya** is a must in the Vaidika traditon. But the main point is that the Vedas too have been considered as **Dharmagrantha** (धर्मग्रन्थ) of the Hindus and have thus been left to the **Dharmācāryas** to get explained the same in the **Ācārah permo dharmah** - way. Smt. Sinhā asks us to go with the vedas, and get them studied both as the book of Philosophy and science. It gives the base for global or the universal philosophy i.e. the science of life. Its subject of discussion is the whole of universe, the whole of life. The vedas do not deal with the life only in a subjective or only in an objective way but go with the studies of life in a subjective-objective combine-way, which in its turn is known as **Adhyātma darśan.** The **Geeta** takes it as अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्मुच्यते; and अध्यात्म विद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥

They consider the whole of life and that too from all subjective-objective combine point of views. The **Ṛṣis** see and conclude as **Niścitdarśinah** (निश्चितदर्शिनः). They do not lurk in doubts. They don't go astray with presumption or apprehension; they go for argumentation to find out the **Parmārthasatya** (परमार्थसत्य) or the ultimate truth. They know that the life does not live in doubts. Energy never goes at work with doubts. It goes with its own law, which the **Ṛṣis** could see. The life is **Mana** (मन) in action i.e. it is the combination of **Asat** and **Sat.** In the **mahāpralaya** it remains as **Asat** i.e. as **avyakta** (अव्यक्त) because the materiality i.e. **Sat** remains transformed into **asat,** to cause the creativity of **kriyātva** to go in dormancy. At this stage **'tat'** i.e. **'Asat'** remains in **avyaktāvasthā** (अव्यक्तावस्था). According to the **Nsādīya sūkta, Sat** (सत्) is consumed as **Svadhā** or **havi** (स्वधा या हवि) to enlive **asat. Asat** and **Sat** are **bandhu** because they evolve from **tat. Tat** (तत्) is the eternal cause of the material universe and is known as **nirguṇa Braham** or the causal Brahma. When at work it gets transformed into **sat-asat** combination i.e. **Svayambhū siva** or **Nataraja** to go for the evolution of the universe.

As a matter of fact **śakti** is the causal entity and **śaktimān** the working effect. The causal ones are known as **Prakṛti** and the effect as **Puruṣa. Puruṣa** is **śakti-śakta** combine. **Puruṣo vāva sukṛtam** says the **upaniṣad;** because it goes for working and evolving into its own manifestations.

Matter is storge of energy and energy is tiny matter. It is the pure energy that matters; because it does not transform further into another minute form. It is eternal and indestructible. This is the **Kāraṇa Brahma** (कारणब्रह्म). And **Svayambhū** (स्वयम्भू) as mentioned, above is the **kārya Brahma.** Both are complete. Both are liable to manifest, the first in energic way and the other in material way.

According to **Ārsa Darśana** the conception of **Mānava** is evident in energic **Puruṣa** form, which does only not the seeing, but does the thinking, reasoning, judging, and getting the judged ones translated into work through organs and limbs also. They seem to be two and are distinguished between energic and material ones, but are actually the same i.e. energicity at their core. In other words they both are of energic entity.

The former is known as energic **Kriyā-Puruṣa** and the other the material **kriyā-Puruṣa.** Every bit of the material univere is a **Puruṣa** in its own right; because they all are in the harmonical unions of **Kriyā** and **kāritva** where **kriyā** is the capcity of doing and **kāritva** is the means of getting work done. They together have been identified as **apāṇipāda** (अपाणिपाद); **Sarvataḥ pāṇipāda** (सर्वत: पाणिपाद); **Sahasra śīrṣa, Sahasrākṣa, Sahasrapāda,** (सहस्रशीर्षा-सहस्राक्ष-सहस्रपाद) individually.

A man, thus, is the active form of **Mana** (मन) i.e. the **Kriyāśakti** which is indestructible but transformable. By transforming itself it may go to dormaney or activity as the situation or circumstances require. It changes its configuration according to its position. And it goes to motion or becomes motionless again according to position. The universe is the material form of this very formless form of energy. The working forms of energy are– sound to be heard, touch to be felt, form

to be seen, **Rasa** (essence) to be tasted, and **gandha** (smell) to be smelt. These are said to be the respective cause of **Ākāś, Vāyu, Agni, Jala** and **Pṛthivi** (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी). Science, to day, has searched and known the working energy like mechanical, heat, sound, light, magnet, and electricity. All of these are convertible or transformable to each other. This indicates clearly that there must be some basic or pure sort of energy-form which transforms itself into the required form of working energy. The **Ṛṣis** saw this in **man** (मन्). This **man** (मन्) could eixst even in the time of **Mahāpralaya** as tat (तत्).

The **Ṛṣi** believed in the theory of evolution and that too in energic evolution. Only energy could sustain in itself and go for evolving materially. It does not remain excluded but included in its creational evolution. The cause remains within its effect.

Philosophy has to explain and explain all sorts of scientific enquiries aout creation and life. The scientific enquiries relate mainly to the cause and its relation with the effect and its utility for all good; and that too for all. The mystery is revealed by knowing its cause. Wherever their is mystery there is something unseen and unknown. That unseen and unknown is nothing but the cause to the effect. The effect being **kārak** the cause to it is its **kārakatva.** And this **kārakatva** (कारकत्व) is none else than a form of **kriyā** itself. This very form of **kriyā** has been named as **Sat** in the **Ṛgveda**. It evolves into matter. The real cause to the effect is the **kriyā-kārakatva** combine. Philosophy has to help in discovering and explaining the causes and the effects concerning all sorts work, be it energic or material.

The Sanskrit words are most scientific. The Sanskrit terms are framed in such a manner, that they are able to explain the subjects in their formal way. It has **dhātu** (धातु), **Pratyaya** (प्रत्यय), **Upasarga** (उपसर्ग) and **Visarga** (विसर्ग) as its component. **Dhātu** (धातु) and **Pratyaya** (प्रत्यय) (i.e. root and the suffix) make the term complete.

The **Ārṣa Darśan** believes in the philosophy of complete. पूर्णमदः पूर्णमिदं। The cause and the effect both are complete. It belives in **jñāna-karma** or **Kriyā-Kārakatva** harmonical combine. It does neither believe

in **Kriyājanakatvam Kārakam** (क्रियाजनकत्वं कारकम्) nor in **Kriyānvayi Kārakam** (क्रियान्वयी कारकम्)

Kriyā-Kārakatvam combine makes an entity complete and liable for manifestation. Only a complete can manifest. Every bit of the material or energic wrold is complete the **Ārsa Darśan** concludes ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ बृ०उप० 5.1.1)

All the other Schools of Philosophy or the **Mārgas** (**Patha**) fail to explain their Summit causal entity because they go with Sat only. With only **Sat** (सत्) their **Sattva** (सत्त्व) or **Satta** (सत्ता) remains incomplete and becomes mysterious on the one hand and **Dharma** (धर्म) becomes **ācārika** (आचारिक) on the other hand.

The so-colled revealers of the mystery make their own school of thinking or their own path of faith or belief. None goes with the **asat-sat** or **Kriyā-kāritva** combine, which in its turn leads to **Damo dharmaḥ sanātanaḥ** (दमो धर्मः सनातनः). They either exclude **asat** by proving it a non-existent partner to **satya** (सत्य) or make it subordinate to **sat** and prove it as a **māyā** (माया) or **vimarśa** (विमर्श) of Sat, as is done by the saying like क्रियजनकत्वं कारकम् । The **Ṛgvaidika** version of **Sato bamḍhumasati** (सतो बन्धुमसति) is ignored in toto by these **ācāryas** or **Bhakta (Bhaktimārgī)**.

The vedas have not been revealed, they have been perceived. Perception is the result of **jñāna-karma** combine. The knowledge or **jñāna** (ज्ञान) is gathered through scientific enquiries. 'Why' and 'how' are the questions there to be answered. There remains no mystery. Philosophy too goes the same way, but logically. Its logic has to have its base in science, i.e. in methodical enquiries.

As a matter of fact **Brahma** (ब्रह्म) or **Ātmā** is the thinking and judging entity of the **Paramārthasatya** (परमार्थसत्य) or the summum truth. Thinking gives thought and theory; and judging sees the **karm** and **kārya** on the basis of thought and theory. A man in individual achieves this position only with his subdued mind and senses, i.e. **dama** (दम) or **dharma** (धर्म).

Jñāna in **Ārṣa Darśana** is the knowledge of **Paramārthasatya.** In **Bhakti Marga** only those **Bhaktas** have become successful who worked in **niṣkāma bhāva** (निष्काम भाव). But why should we name only the **Bhaktas, Ācāryas,** or **Gṛhasthas** .or the **saṃnyāsins** ? Whoever the person may be, if he knows to become **niṣkām,** knows **Parmārth- satya** and follows the same in his **ācaraṇa** (आचरण). He knows the real **dòer.** In fact the knowable is the knower and the doer too. The knower of **Brahma** (ब्रह्म) becomes hismself the **Brahma** (ब्रह्म). The ultimate knowable and the knower is the **Kāraṇa Brahma** (कारण ब्रह्म) and the means of doing is the **Kārya Brahma** (कार्य ब्रह्म). In the **Geeta** Lord Krishṇa is the **knowable** and the knower and **Arjuna** becomes his means of doing. This doer has to have the **Divya Cakṣu** (दिव्य चक्षु) or the **Kriyā-Cakṣu**·(क्रिया चक्षु) or the **Manaścakṣu** (मनश्चक्षु) to see and know the intention of the knowable. The knowable is the Doer too in this very sense. The action has to have translated in material way.

This **Divya cakṣu** or **Manaścaksu** is attained by those who can concentrate or restrain or subdue their senses and mind. (इन्द्रियाँ और मन). To restrain senses and mind has been termed as **Dama** (दम) and the same **Dama** (दम) has been defined as **Dharma** (धर्म). **Manaścakṣu** or **Divya cakṣu** is thus also known as **dharma cakṣu.**

Dharma, as we have already seen, is the cause of ascertainment of ācāra-nīti i.e. ethics. Ethics is not **dharma** in itself, but is caused by **dharma** (dhṛ+man).

Nīti (नीति=नी+क्तिन् । नी = जाना; नेतृत्व करना) leads to rise to the ultimate. And **niyama** (नियम=नि+यम्+अप; नि–नी+डि; नि=नीचे की ओर गति) means that which prevents the down-fall. In **ācāraḥ parmo dharmaḥ** if ethics is evaded, the **niyam** is there to restrain the evader from evading the same. If evaded, there is punishment to that under the **niyam** or law.

As a matter of fact in **Ārṣa Darśana** the **dharma** has been considered as **Darśan-oriented,** used for the restrainment or subduement of mind and senses to find the **Parmārthasatya** (परमार्थसत्य).

There was neither any **Varṇa** (वर्ण) nor any **Varṇāśram** (वर्णाश्रम). There were works to which merit was the first proviso. The merit was used to be adjudged through some sort of **Dvijatva** (द्विजत्व) examination. For **Brāhmana** too it is said- ब्राह्मण-जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते, विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ।

This makes it clear that without the observation of **Dvijatva Saṃskāra** (द्विजत्व संस्कार) no one could get the right to education. **Dvijatva Saṃskāra** (संस्कार) must have been some sort of enterance examination, be it written, be it psychological, be it physical and oral or be it all these together to test the merit of the person or confirring some sort of persona status to the individual. There were no barriers of caste or **Varṇa. Varṇa** must have been the basic ability of the person in question at work, The **vidyā** (विद्या) gave them the theoretical knowledge for the specialization at their work. After having gone through **Vidyā** and having specialized in their work by **avidyā** i.e. through practise, the person in question goes to become versatile or competent in all the three Vedas (**trayi** त्रयी). [श्रोत्रिय→छन्दो वेदमधीते वेत्ति वा–छन्दस्+घ, श्रोत्रादेशः। विप्र= वप्+रन् पृषो० अत इत्वम्]

As a matter of fact **Vidyā** was used to impart reasoning; the **avidyā** to impart learning by practice at work; and the vedas to make competent in the philosophy, science and language of life. The **Vedas,** as a matter of fact, are the granthas of Philosophy, sciences, art, culture history and what not. Their observations are true to **Paramarthasatya** of the life, or creation.

The meaning of the **Mantras** of the Vedas are to be known in terms of materiality (आधिभौतिक), actionability (आधिदैविक) and the both enjoined i.e. spirituality (आध्यात्मिक). Philosophy goes with **adhyatma** (अध्यात्म) i.e. all together. In other words Philosophy deals with the whole of life. It deals with why and how ? of universal life and makes us see and understand the **Parmarthasatya** of the universe in an individual form – the **Virāt Puruṣa** (विराट् पुरुष).

The Vedas have distincitvely described the philosophy of life by perceiving the whole of life in the light the laws of cause and effect.

They go describing for the certainty i.e. **Parmārthsatya** of life and its activities to the **Parmārthasaty** way. Only this form of Philosophy can be universal and it was this very universal philosophy that was in vogue during the Vaidika period. Later with the rise of kingdoms arose the schools or the traditions in the philosophical thinking. This made the philosophy factional and local. In the universal the **kriyā** was important. In the local the **kāraka** was made important. In the universal the **Jñāna** is gathered through perception or **Sakṣātana** (साक्षातन) but in local logic becomes important. During the post-Vaidika period the philosophical thinking in India too got the turn to the logical way.

The six ways or the six schools of philosophy of the olden times are enumerated as **Lokāyat, Vaināsika** (four forms), **syādvāda** (two forms), **Vaiśeṣika, Prādhānika** (four forms) and **Sārirak** (eight forms).

Today they name the six schools of Philosophy as— **Nyāya, Vaiśeṣika, Sāṃkhya, Yoga, Mīmāṃsā** and **Vedānta.** Amongst these modern ones, **Madhusudan ojha** has given **Darsan**-status to **Vaiśeṣika** and **Sāṃkhya** only; **Sārirak** has been given the status of **Vijñāna** and **Darsan; Vedānta - Upaniṣad** has been known as **śraut** (श्रौत) **Vedant. Madhusudan Ojha** has denied the **Darśan-status** to **Yoga, Nyaya** and **Mīmāṃsā. Yoga** has been taken as **śāstra;** and **Nyāya** as logic.

Philosophy or the **Darśana** has to search out the root i.e. cause of the universe. Smt. Sinhā, to know her **Mānava,** has researched and focussed her thought also on the understandings of the root or cause of the vaidik terms. To her, the Vedas go with the scientific discussions and finds their philosophy quite supported by the Science, even by the modern Science to a large extent. She, in her studies, has found the philosophy of the Vedas to have been based on **Kriyā** and **Kriyā-Kāraka (asat-sat)** combine. All the other schools of **Darśan** have based their philosophy on the **Kārak (Kārya).** In that case these all prove to be **śāstras.** The **śāstras** start describing **Kārya** or effect or **kāraka.** They don't go for knowing the cause of the **Kāraka** i.e. the Doer. Philosophy or **Darśan** sees the **Kāraka** and search out its cause

too. The cause and effect getting known, the problems of life is sorted and solved. The Doer does, but not in Līla (लीला) i.e. not in his amusement or for passing his time. He does with a purpose. And, His purpose is to evolve his own explorer, knower and explainer.

Ṛṣis were the real explorer, knower and explainer - opines Smt. Sinha. And we as the Ṛṣiś offsprings, have to prove ourselves as Mānava on their scale of thought and deed.

To,

Dr. Daya Krishna

With all regards.

Sincerely yours

Shachindra Nath Sinha

●

From,

Sengaku Mayeda
President, Eastern Institute
Founded by Dr. Nakamurẹ Hajime
2-17-2 Soto- Kanda Chiyoda-ku, Tokyo
Japan-101-0021

Dear Sri Sinha

Thank you for your kind attention to my paper. Plese find herewith enclosed my paper. Please acknowledge your receipt of it.

I wish you a very happy and prosperous New Year 2007

Sengaku Mayeda

December 24, 2006

To,

Shachindra Nath Sinha
Chitraguptanagar, Kadirabad
Darbhanga-846004
Respected Dr. Mayeda.

●

From,

Shachindra Nath Sinha
Chitraguptanagar, Kadirabad
Barbhanga-846004

Respected Dr. Mayeda.

Received your kind letter and a copy of the paper you had delivered at the Interim World Philosophy congres. I feel obliged. Thanks with all regards.

Your paper in question is not only quite praiseworthy but a time-needed one too. Congratulations. The term **righteousness** used in your paper has attracted my attention to the extreme. I am glad.

I had informed you about the works of Smt. Priyaṃvadā Sinhā. In response to your paper I am trying to point out the legacy of **Ārṣa Darśana** in the perspective of Smt. Sinha's work. Hope this may prove a point of suggestion for having a philosophy of global or universal orientation.

The Hindi synonym to the word Philosophy is **Darśana**. The term **Darśana** means looking at; seeking; observing; perceiving; the eye; inspection; examination; vision; sight; discernment; intellect; a doctrine or theory prescribed in a system. In short, it is to see or perceive that defines **Darśana**. The eyes are the means to see. And the whole of body can be made to see only by subduing the mind and the senses. For this subduement of the mind and the sense there is a term in Sanskrita (संस्कृत) and that is **Dama** (दम). Smt. Sinhā finds this term i.e. **Dama** being defined as Dharma (धर्म) in **Damo Dharmaḥ Sanātanaḥ** (Mahābhārata) and confirmation in its derivational form of **dhṛ+man**, which goes to mean subduement of mind and the sense.

The term **Dharma** (धर्म) when used in the meaning of righteousness, becomes universal and does not remain tied with conduct to be defined as **ācāraḥ parmo dharmaḥ**. (Manusmṛti)

The 'Man' with his finite-infinite recognition cannot be communal or local. He has to be social and universal. **Dharma** relates to man in a way with the subduement of mind or **mana** (मन) and senses. In her observation to Indian philosophy of **Vaidika** (वैदिक) age, Smt. Priyamvadā Sinhā has dealt with the term **Dharma** quite considerably. She has taken the term in its important and derivational meaning of

damo dharmaḥ sanātanḥ (दमो धर्मः सनातनः). Smt. Sinhā takes the Vaidika Philosophy, the philosophy of the **Ṛṣi** and defines it as **Ārṣa Darśana.** According to her observation only a subdued mind or the **dhṛt mana** (धृत मन) can see the righteousness of the right or good to all or the **parmārthasatya** (परमार्थसत्य).

Righteousness or the **parmārthasatya** is the conclusion obtained through the functioning of subdued mental network i.e. of the internal senses or the **antaḥkaraṇa** (अन्तःकरण), which in its turn has been defined by. the **Vedāntsāra** as - **Manobudhirahamkāraś cittam Karaṇamāntaram; samśayo niścayo garvaḥ smaraṇam viṣayā amī** मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम् ।संशयोनिश्चयो गर्वः स्मरणम् विषया अमी ।।

With the subduement the working mind i.e. **मन** (mana), **बुद्धि** (buddhi), **अहंकार** (ahamkāra) and **चित्त** (citta) go to function in their own respective ways but in harmony altogether. **Mana goes with Saṃśaya** (संशय), **buddhi** goes with **niścaya** (निश्चय), **ahaṃkāra** .goes with **garva** (गर्व) or pride and the **citta** (चित्त) goes with **smaraṇa** (स्मरण). In other words **mana** raises doubts; **buddhi** goes with reasoning and reaches the certainty; **ahaṃkār** goes with the practicality and the **citta** with memory of the ultimate truth.

Subduement of mind causes the concentration of senses and mind to become an instrument to those who want to know their subject well.

As a matter of fact the **Gītā** takes this very **damo dharmaḥ Sanātanḥ** as **Svadharma** (स्वधर्म) or **Sahaja dharma** (सहज धर्म) for the man.

The term **dharma** (धर्म) has been derived as **dhṛ+man. dhṛ** stands for subduement and **man** (मन) for the working senses and mind.

The term **dharma** cannot be used for any sort of **ācāra** (आचार). If **ācāra** has to become any sort of **dharma** it has to be determined with the subduement of mind in the way mentioned above.

Mana (मन) stands related both to **dharma (dhṛ+man)** and **karma (kṛ+manin)**. And this very **mana** is also related to **atma** (**at +manin** अत्+मनिन्=आत्मा) and **Brahma** (Bṛmh+manin बृंह्+मनिन). As a matter of fact the Seer of the **Nāsadīya Sūkta** of the **Ṛgveda** sees **mana** as the root or cause of the whole of material universe giving every bit of it a **cetana** (चेतन)-entity. **Mana,** having the characteristic of both the **jñānendriya** (ज्ञानेन्द्रिय) and **Karmendriya,** (कार्मेन्द्रिय) gathers the power of reasoning out of its deeds. A **cetan** has to have

congnition both of its deeds and reasoning. The **jñāna** causes **Karma** a success at its work and the work or **karma** done to get the **jñāna** confirmed.

The Seer of the **Nāsadīay Sūkta** of the famous **Ṛgveda** (10.12.9) explains it in terms of **Kāmastadagre manso retaḥ** (कामस्तदग्रे मनसो रेत:). Here **Kāma** is proved to be the cause of evolvement and the union of **Sat** and **asat.** Again, **mana** (मन) itself in its working entity is **Brahma** (ब्रह्म) i.e. cause of the material universe. **Mana** in its pure and non-working form has been seen there as **Tat** (तत्) by the seer of the **Nāsdīya Sūkta,** and is said to live on the cost of its own materiality i.e. **svadhā** (आनीदवातं स्वधया तदेकं) says the **Ṛgveda** in its explanation.

The Seer sees the working **Mana** having two components i.e. **Sat** (सत्) and **asat** (असत्). The two have been identified as **bandhu** (बन्धु) i.e. kin by the seer. The translators of the mantra have taken these two **(sat-asat)** wrongly as **existent** and **non-existent** respectively. As a matter of fact the two are the coordinates of the same first working entity i.e. **Mana** (मन).

In the **tat** (तत्)-form the Sat-one remains transformed into **asat** (असत्) hence the term **Svadhayā** (स्वधया) is there in the mantra (मन्त्र). This **tat** has been taken as the minutest cause or the purest one. (सूक्ष्मतम् कारण). During this stage no creational or evolutionary work takes place. We may take it in the term of modern physics as **pure form of energy.** This has been identified as **Parabrahma** or the **Sūkṣatam Kāraṇa** (सूक्ष्मतम कारण) of the material universe.

As a matter of fact energy goes formly working in its energic materiality only. In its purest form it remains restricted or asleep or dorment. Here the working materiality remains converted into non-working or pure energicity. The energy with its change within causes the evolution of **Sat** (सत्)and **asat. Asat** being energic, remains unexpressed in the **Tat**-form. The Seer recognizes **Sat** and **asat** as materiality and energicity respectively and takes them as kins. There these two have been recongised as **kāritva** (कारित्व) and **Kriyā** (क्रिया). **Kriyā** being energic-form is expressed in work through **Kāritva** or the materiality. Yes, as you yourself know the modern physics takes the matter to be the form of energy i.ę. stored energy. Thus it is energy which acts on energy, reacts with energy and evolves and manifests into working energy.

Mana (मन) having the coordinates in the form of **sat-asat** has two ways to work– **Anthḥkaraṇa** (अन्तःकरण) and **Bahyakaraṇa** (बाह्यकरण). The **Bāhyakaraṇa** is none but the body, which is the congregation of harmonically coordinating senses. It is the means through which the energy translates itself into work. **Kārak** (कारक) is none but the working entity of **Kriyā** itself. The Seer sees this very **Kriyā** both in its pure and working forms. **Āyurveda** (आयुर्वेद) **Says– Draṣṭā Paśyati hi Kriyāḥ**. (द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः).

Dear Sir, the desired global philosophy of today will have to go with life, and that too with the human life. Life is to live and that too in a humane way. Sciences are to help in leading a peaceful and good (शुभ) prosperous human life. It must not be made a consumer goods. Though the life has been made a consumer goods in this Industrial age, but the fact remains that market is not life in itself. Philosophy deals with life and life deals with economics. And it is economics which deals with market. Economics is the science which deals with life-needed goods or commodities.

Man, as we stand today, is not man; because it has lost its power of reasoning for which his **mana** (मन) is responsible. Without functional **mana** a man has lost its functional **antaḥkaraṇa** (अन्तःकरण). With losing its functioning **antaḥkaraṇa** it has lost its perceptional powr. Now with its love for prāṇa and body it has become **asur** i.e. with lost **mana** (मन) it has neither the humanity nor the divinity at its disposal. To become man it will have to cultivate its **mana** (मन), through which the divinity will go the humane-way and restrict the **asur**-way of life. It is **āsuri**-way of life which in its turn leads ultimately to total-destruction or the **Mahāpralaya** (महाप्रलय).

Dear Sir, Smt. Priyaṃvadā Sinhā in her writings has tried to make herself understand the terms **Philosophy** and **Darśan.** She has tried her best to make herself understand the way the **Darśan** or **Philosophy** of the Seers of the vedas goes. She has tried to explain the terms like **Brahma** (ब्रह्म), **Ātmā** (आत्मा), **Mati** (मति) etc. Let the philosophers and the **Dārśanika** (दार्शनिक), of the world have a real **darśana** of the **philosophy** of the Seers of the vedas in her works and confirm the same from the vedas themselves.

'Man' is not simply a commodity. He labours as an **asura** (असुर), reasons as a man; and acts as a **Deva** in his working energy-form.

As we have already seen, **Mana** (मन) in its **dhṛti** (धृति) is defined as **Dharma** (धर्म); and, the same **mana** in its practical or translational work is responsible for **Krman** (कर्मन्=कृ+मनिन्).

Here, the **mana** (मन) proves to have **dharma** (धर्म) and **Karma** (कर्म) as its coordinates, where **dharma** is represented on the vertical y-axis and **karma** on horizontal x-axis. This leads us to conclude that **dharma** represents the **Guṇa** or **Kriyā** and **Karma** represents the **kāritva** or **Kārakatva** (कारकत्व). When the Gīta says **Guṇakarma Vibhagaśaḥ** about its **cāturvarṇya,** it talks of these very coordinates of **dharma** and **karma** itself. **Mana** in **dhṛti** goes with **mati** (मति=मन्+क्तिन्) and knows the subject in its completeness, i.e. both in causal and effectual forms. Then it goes with the **ātman** (आत्मन् = अत्+मनिन्) way and reasons out the subject in its universality or the objective way. And lastly it goes with **Brahman** (ब्रह्मन् =बृंह्+मनिन्) i.e. to know its infinite-form. The infinity is energic energy. It is eternal in its pure and non-working form. It works only by getting itself transformed into material energy. Matter has the energic energy stored in form. Every bit of nature or universe is thus a combination of finite-infinite. Man, too, has been recognised as the combination of finite-infinite. While the infinite gets its work done through the finite, the finite gives the infinite its infinite forms.

While the finite with its doing goes individual, the infinite with its reasoning goes universal or sārva (सार्व). The terms 'local' or 'global' are the terms used in management circle, be it economic or administrative. There the universality of **Darśan** or philosophy does not get permission to enter. They don't go there with universality but with practicability. Practicability leads to partiality and the universality is left unnoticed.

To become conversant in **Darśan** (Philosophy) of any subject one needs to have the knowledge of practical use of universality i.e. to know the subject in its objective connotation. Now-a-days the **Rājadharma** be it of democracy or autocracy, be it of capitalism or communism or socialism, has its own sectarian views. They do not have any universality in their nature. They see the matter, not the energy working or dormant within it. **Cetan** too becomes **jada** to them.

Life is energy and energy is universal. An individual as a labourer uses either his body or his mind or both. And in this way a man cannot be deemed to be a labourer only. His infinite is free within him. Labour

can be marketted but the man within the labourer cannot be marketted. The man within an individual represents the **mana** (मन) which is universal. The philosophy of market does not apply to the philosophy of **mana.** Market, be it local or global, deals with matter i.e. the flesh and blood but not the soul. Flesh is marketted, not the soul. **Darśan** (दर्शन) deals with the seeing of 'mana' or the soul, or the energy, both at the spiritual and physicial levels. It is the study of energy at the physical level that helps **Darśan** to see the material and energic truths i.e. the **Pramārthasatya** (परमार्थसत्य). The Seer or knower of the **Paramarthasatya** sees or knows that every bit of the universe is but the form of energy.

As a matter of fact the soul of the Indian Philosophy is the philosophy depicted in the **Ṛgveda.** Here the seers have seen and known, the **Paramārtha Satya** (मरमार्थसत्य) and have explained it in a very scientific way. The terms which they have used are themselves based on scientific orientation. The terms expressed have seriously been thought in the context of the texts to get explained. They have to be checked and rechecked today; because the changes in thinking, in between the ages passed, has made them confusing today both in their usage and meaning. For example the terms **Sat** (सत्) and **asat** (असत्) have been taken as **Satya** (सत्य) or **existent** and **asatya** (असत्य) or **non-existent** respectively due to the changes in thinking. As a matter of fact these have been taken originally as **bandhu** (बन्धु) or kin by the vaidik seers. A man is a combination of body and mind where mind represents the **antaḥkarana** (अन्तःकरण) and body represents the senses. While the body is suited for receiving and delivering, the mind is suited for knowing and executing.

The two are coordinately complementary to each other. The two harmonically combined make a doer in their respective harmony. A doer i.e. a **kāraka** (कारक) is a harmonical body of **kriyā** (क्रिया) and **kāritva** (कारित्व) or the energic energy and the material energy. As a matter of fact a doer is none but the energy at work. Energic energy in its transformation to material energy goes at work in harmonical combination. As a matter of fact it is energy that drives energy to fetch work in energic form. As the definition goes matter is storage of energy. Matter is thus the work-energy. Matter handles the matter to find matter as the result. Smt. Sinhā puts it in these ways :

(i) **Kriyā +Kāritva = Artha**
(क्रिया + कारित्व = अर्थ)

(ii) **śakti + śakta = śaktimān**
(शक्ति + शक्त = शक्तिमान्)

Dear Sir, be it local or global the material world is organic in its constitutions. In organics the organs have to remain and work in harmony. In working universe every bit is at its place, either in working condition or in a dorment condition. Let us not forget that it is only the man who can explain the working, both of the individual and the universal, local and the global issues. And the man in his Seer-form sees and knows that every bit of the universe is identical because every working bit is the harmonical form of **śakit** and **śakta** combine. Every bit of the universe is **śaktimān** in itself.

Every humane **śaktimān** of today has to subdue his mind and senses to find and see the **Parmārthasatya** and use the same with his whole of **śakti** for the **Parmārth.** With subduement of mind and senses one forgets the local or global and sees the universal only. He proves himself a **niṣkāma** persona of the Gīta.

I am really very sory for not respondiing to your letter in time. I may kindly be execused. Now I find it more useful to get the same published in this volume of the **Smṛtigrantha** in anticipation of your kind approval, and send a copy of the same for your kind perusal and comment. The next volume will contain the speeches made by some learned persons of philosophy under the auspices of **Pīyūṣa-Priyamvadā Smṛti Vyākhyānamālā.** I will be gratefully awaiting your majestiy's reply.

Hope this finds you in the best of your cheers.

Sincerely yours
Shachindra

To,

Dr. Sengaku Mayeda
President, the Eastern Institute
Founded by Dr. Nakamure Hajime
2-17-2 Soto-Kanda
Chiyoda-Ku, Tokyo
Japan - 101-0021

●

खण्ड (घ) पीयूष-प्रियंवदा स्मृति कार्यक्रम

पीयूष-प्रियंवदा स्मृति-मानविकी मेधा-सम्मान योजना

पीयूष-प्रियंवदा मानविकी मेधा-सम्मान योजना

एकाकी जीवन का महत्त्व अपने-आपमें कुछ नहीं होता, अगर जीवन जीने का आधार-लक्ष्य नहीं हो। ऋषियों ने आत्मा को सार्व और परतम के स्तर पर देखा-जाना था। उनका स्पष्ट मन्तव्य था– **आत्मा आत्मना आत्मानं जानाति**। हमारे यहाँ आत्मा 'अत्+मनिन्' के रूप में व्याख्येय है। मन की मननशीलता मनोपुरुष के रूप में महत्तम या फिर असीम-अनन्त के साथ आगे बढ़ती मानी गयी है। 'मनोपुरुष', वस्तुतः, 'शक्तिपुरुष' या फिर प्रकृतिपुरुष का पर्याय बनता है।

शब्द-विज्ञान की ओर देखें या सृष्टि-विज्ञान की ओर, प्रकृति-पुरुष का सान्निध्य हर पल हमारे सामने होता है। प्रकृति-पुरुष परस्पर पूरक हैं। प्रकृति क्रिया प्रधान होने से पुरुष की रहस्यमयी शक्ति बनी उसके भीतर रहती हुई उससे ही अपना लक्ष्य साधती है। यही कारण है कि देवशक्तियों की कार्यकारिता को ही मानव-व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति का साध्य मानता है। इससे परे हटकर वह असुर मात्र रह जाता है।

श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा प्रकृतिरूप से अपने पति की रहस्यमयी शक्ति सदैव ही बनी रहीं। पति को सरकारी सेवा में प्रथम श्रेणी तक पहुँचानेवाली मनोशक्ति रूप श्रीमती सिन्हा को शायद अपने जीवन से कुछ और साधना नहीं था। जीवन से मुक्त होकर भी शायद शक्तिविहीन पति को कटी पतङ्ग की तरह गिरती भी नहीं देख सकीं और आत्मवत उनके साथ हो उन्हें ही अपनी साधना का साधन बनाया।

पति को अवसर मिला। उनके समक्ष अनायास पढ़ने के इच्छुक दो भाई-बहन आये। एक शिक्षिका की स्मृति के लिये शिक्षा के प्रसार से अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ नहीं होता। यहाँ से ही मेधा-पुरस्कार का प्रारम्भ हुआ। एकमात्र पुत्र के मोक्षगत होने पर पिता ने माता-पुत्र की स्मृति के सहेजन में उनकी कृतियों के सहेजन के साथ-साथ शिक्षण पर भी ध्यान रखा। फलतः 'पुरस्कार' शब्द का व्यवहार बना ही रहा। किन्तु, पुरस्कार संस्थागत न हो तो व्यर्थ हो जाता है।

ऐसे में 'पुरस्कार' शब्द से हटकर 'सम्मान' पद का व्यवहार रुचिकर सिद्ध हुआ।

सम्मान के अन्तर्गत् जहाँ व्यक्ति का व्यक्तित्व सम्मानित होता है वहाँ उनका कर्तृत्व भी स्मृति का अङ्ग बना होता है। सम्मान, वस्तुतः, कर्म-सन्दर्भित सिद्ध होता है।

इस स्मृति-सम्मान में दर्शन और साहित्य दोनों को स्थान प्राप्त है। दर्शन द्रष्टा के व्यक्तित्व को और साहित्य द्रष्टा की अभिव्यक्ति-साधना को सम्मानित करता है। फलतः हर व्यक्ति यहाँ व्यक्ति न रहकर स्वयं विषय का संवाहक व्यक्तित्व बना होता है। सम्मान स्वयं में सार्व-सन्दर्भित होता है।

साहित्य में कृति और दर्शन में व्याख्यान महत्त्वपूर्ण सिद्ध है। फलतः जहाँ एक ओर पीयूष-प्रियंवदा स्मृति मानविकी मेधा-सम्मान योजना के अन्तर्गत् मूलचन्द मिश्र स्मृति-सम्मान संस्थान के माध्यम से 'पीयूष-स्मृति-सम्मान' और 'प्रियंवदा समृति-सम्मान' से साहित्य-साधना के लिये, तत्सम्बन्धित मेधा को सम्मानित किया जा रहा है, वहाँ दूसरी ओर दर्शन के क्षेत्र में तत्सम्बन्धित व्याख्याता को भी पीयूष-प्रियंवदा स्मृति सम्मान से सम्मानित किया जा रहा है।

ध्यातव्य है कि वर्तमान में यह कार्यक्रम व्यक्तिगत रूप से श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा के पति और श्री पीयूष सिन्हा के पिता शचीन्द्र नाथ सिन्हा के द्वारा संचालित है। भविष्य में इसे संस्थागत करने का विचार है।

माता-पुत्र की कृतियाँ अपने-आपमें उन्हें लोक-स्मृति का अधिकारी बनाती हैं। ऐसे में उनकी स्मृति में मेधा-सम्मान आयोजनाओं का संवरण विषय की गरिमा का ही संवाहक बन रहा है।

इस क्षेत्र में मूलचन्द्र मिश्र स्मृति संस्थान इटौंजा, लखनऊ (उ०पप्र) का कार्य प्रशंसनीय है। इसका ज्ञान स्वयं उनके उपायन 2009 ई० में प्रकाशित विवरणों से प्राप्तव्य है। सम्बन्धित अंश इसके साथ उद्धृत हैं।

जहाँ तक 'दर्शन' का सम्बन्ध है। वर्ष 2006 से बिहार दर्शन परिषद् के तत्त्वावधान में तथा वर्ष 2008 ई. (नवम्बर) और वर्ष 2009 ई. (मई एवं नवम्बर) में दर्शन एवं धर्म संकाय; बी.एच.यू. वाराणसी के तत्त्वावधान में व्याख्यान आयोजित हुए हैं। इस कार्यक्रम के अधीन सेवानिवृत्त प्रोफ़ेसर श्री नित्यानन्द मिश्र, सेवानिवृत्त प्रोफेसर श्री रामजी सिंह, सेवानिवृत्त प्रो० आर.सी. सिन्हा, प्रो० ए.के. राय, प्रो० डी. एन. तिवारी, प्रो० सच्चिदानन्द मिश्र, प्रो० जयन्त उपाध्याय, सेवानिवृत्त प्रो० एन.एन. एस. रामन ने अपने-अपने व्याख्यानों में भारती दर्शन की गरिमा को प्रकाशित किया है। इन व्याख्यानों का संकलन स्मृति ग्रन्थ के अगले खण्ड के रूप में प्रकाशनीय है।

—शचीन्द्र

प्रियंवदा-स्मृति सम्मान

पीयूष-प्रियंवदा स्मृति मानविकी मेधा पुरस्कार योजना दरभंगा (बिहार) के माध्यम से मूलचन्द्र मिश्र स्मृति संस्थान के तत्वावधान में प्रत्येक वर्ष 20 नवम्बर को प्रियंवदा स्मृति सम्मान संस्थान द्वारा नियुक्त चयन समिति द्वारा सर्वसम्मति से किसी साहित्यसेवी महिला को उनके सृजन कार्य के लिए दिया जाता है । प्रथम सम्मान वर्ष 2004 ई. में कानपुर की डॉ० विजय लक्ष्मी त्रिवेदी, 2005 ई. में दिल्ली की श्रीमती वन्दना सरल, 2006 ई. में बरेली की श्रीमती निर्मला सिंह, 2007 ई. में पटना की डॉ० ऊषा रानी सिंह और गत वर्ष यानी 2008 ई. रोहड़ी (पानीपत) को उनकी साहित्य साधना का सम्मान करते हुए दिया गया है ।

इस वर्ष यानी 2009 में चयन समिति द्वारा सर्वसम्मति से लिए गये निर्णय के अनुसार यह सम्मान मैसूर कर्नाटक में 1943 ई. को जन्मी प्रो० बी०वै० ललिताम्बा को दिया जा रहा है । प्रो० ललिताम्बा अध्ययन काल से ही बहुत मेधावी रही हैं । 40 वर्षों तक अध्यापन (तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृतिं अध्ययन शाला, इन्दौर) के बाद भी साहित्य सृजन में लगी रहती हैं । हिन्दी, अंग्रेजी, कन्नड़, तेलुगू में दक्षता के साथ ही बंगला भी समझती है । तीर्थकार : बाल साहित्य (कन्नड़), फिर नया दिन : कविता संकलन (हिन्दी), राधाकृष्ण भक्त कोष, नागरी विविध आयाम जैसी पुस्तकों के अतिरिक्त 9 पुस्तकें कन्नड़ से हिन्दी, 4 हिन्दी से कन्नड़ तथा 3 अंग्रेजी से कन्नड़ अनूदित और प्रशंसित है । 80 से अधिक अनुसंध्यात्मक लेख प्रकाशित हैं । 20 से अधिक राष्ट्रीय संगोष्ठियों में अपनी भागीदारी दे चुकी हैं । इसी प्रकार 6 अन्तर्राष्ट्रीय लेखों के अतिरिक्त अब तक अनेक पुस्तकों की समीक्षाएँ भी लिखी हैं । समय-समय पर आकाशवाणी एवं दूरदर्शन के लिए भी महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक लेखन करती रही हैं । अनेक गौरवशाली पदों का सफलतापूर्वक निर्वाह भी किया । तुलनात्मक साहित्य तथा भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में इन्हें विशेषता प्राप्त है ।

इन्हें सम्मानित कर संस्थान गौरव अनुभव करता है ।

(आयोजक)



पीयूष प्रियंवद-स्मृति सम्मान

समाज और राष्ट्र का उत्थान युवा पीढ़ी पर निर्भर होता है । इस सच को केन्द्रीय विचार मानकर मूलचन्द्र मिश्र स्मृति संस्थान के तत्वावधान में पीयूष प्रियंवद सम्मान वर्ष 2004 से किसी युवा साहित्यकार को प्रदान किया जा रहा है । प्रथम सम्मान 'दोहे और दोहे' के युवा लेखक सीतापुर निवासी श्री विपिन मिश्र को, 2005 ई. में हरदोई के श्री संजीव द्विवेदी को, 2006 ई. में 'श्री परशुराम' एवं 'क्रान्तिवीर' आदि जैसे खण्ड काव्यों के रचयिता युवा कवि श्री श्रवण तिवारी 'श्रवण' को, 2007 ई. में फरुखाबाद के युवा कथाकार, पत्रकार एवं समाजसेवी श्री आशीष मिश्र को, और 2008 में हरदोंई के युवा कवि श्री मनीष मिश्र को दिया गया।

इस वर्ष यानी वर्ष 2009 का यह सम्मान बांगरमऊ, उन्नाव में जन्मे नवोदित कवि श्री अभय विकास शुक्ल को दिया जा रहा है । युवा कवि श्री शुक्ल की लेखनी की धार कविताओं में प्रस्फुटित हो रही है । विज्ञान के छात्र होने पर भी हिन्दी साहित्य के प्रति कार्यरत युवा कवि को सम्मानित कर संस्थान गौरव का अनुभव करता है ।

(आयोजक)



खण्ड (ड.) श्री पीयूष और श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा की प्रकाशित पुस्तके

श्रीपीयूष और श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा की प्रकाशित पुस्तकें

माँ ने कहा था... (भाग-एक) — लेखक- श्री पीयूष प्रियंवद

माँ ने कहा था... (भाग-दो) — लेखक- श्री पीयूष प्रियंवद

एकाकीपन मेरा — कवयित्री- श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा

मानवी बनी मैं — कवयित्री- श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा

बिखरे मोती — कवयित्री- श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा

मन-मानव — लेखिका-श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा

आर्ष द्रष्टृत्व — लेखिका- श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा

सत-असत् — लेखिका- श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा

द्रष्टा पश्यति हि क्रिया: — लेखिका- श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा

रवीन्द्रनाथ टैगोर और आर्ष द्रष्टृत्व — लेखिका- श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा

डा० सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् और आर्ष द्रष्टत्व लेखिका- श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा (प्रकाशनाधीन)

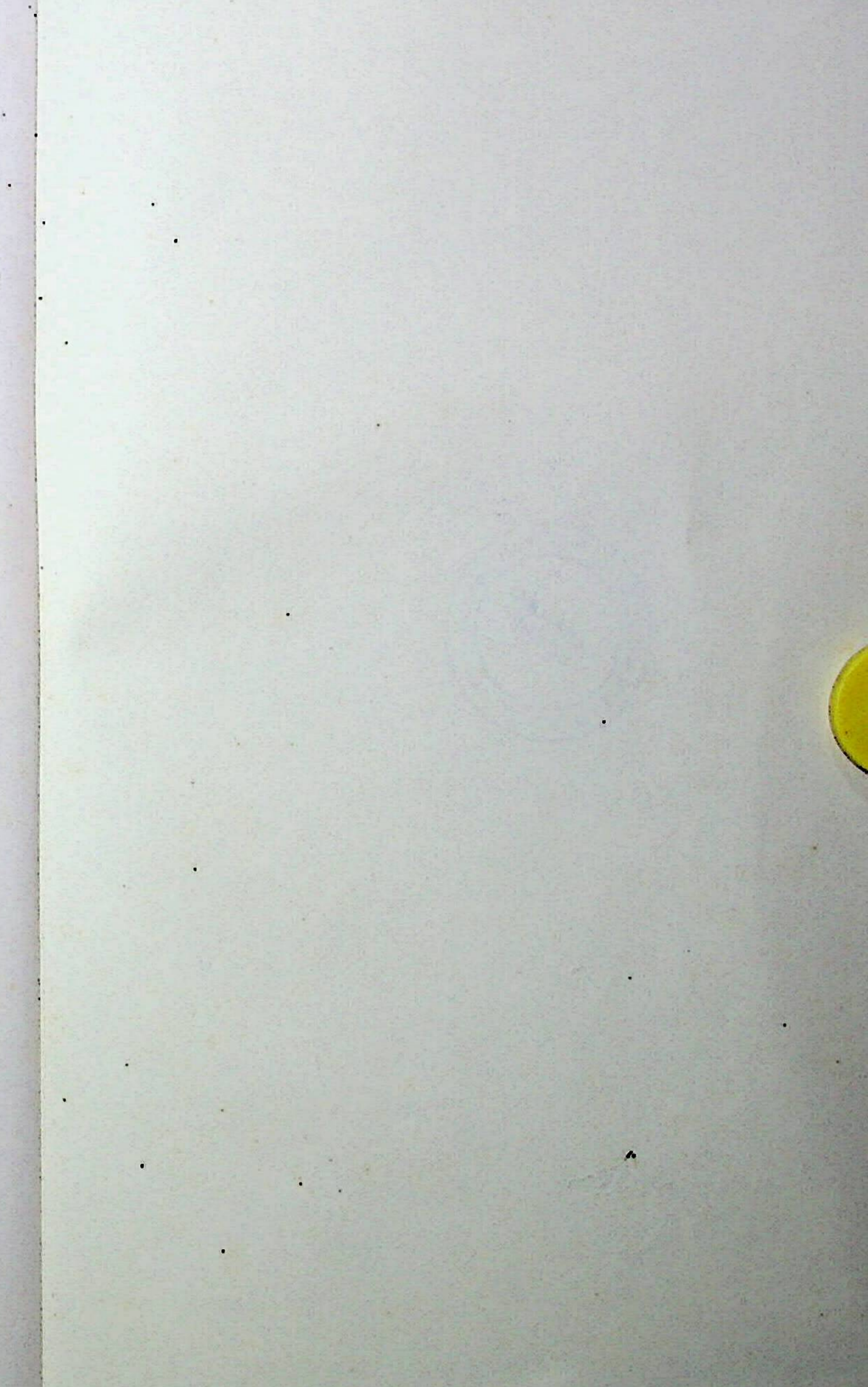
मानववाद के तीन प्रहरी (प्रकाशनाधीन) — लेखिका- श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा

पीयूष-प्रियंवदा स्मृति-ग्रन्थ (भाग-एक) — सम्पादन- शचीन्द्र नाथ सिन्हा

पीयूष-प्रियंवदा स्मृति-ग्रन्थ (भाग-दो) प्रकाशनाधीन

प्राप्ति स्थान - कला प्रकाशन
बी0 33/33 ए-1
न्यू साकेत कालोनी
बी०एच०यू०, वाराणसी।







ISBN - 978-93-80467-38-2



मूल्य : 850.00 रुपये

सम्पादन : शचीन्द्रनाथ सिन्हा